प्रतापनारायण मिश्र

संपादक
डॉ. चन्द्रिकाप्रसाद शर्मा

प्रतापनारायण मिश्र रचनावली : 2

मिश्र जी ने बहुत लिखा। 'ब्राह्मण' पत्र का वे सम्पादन करते ही थे, साथ ही गद्य भी उच्चकोटि का लिखते थे। पद-रचना में तो वे जन्मजात कवि ही प्रतीत होते थे। जिस प्रकार का मस्तानापन, कल्पना-प्रवणता, सजीवता तथा भावुकता एक कवि में होनी चाहिए, वैसी सबकी सब प्रभूत मात्रा में स्वर्गीय मिश्र जी के अन्दर विद्यमान थी। वे गुणी और गुण-ग्राहक दोनों ही थे।

खड़ीबोली का वह प्रारम्भिक युग कैसे हँसते-खेलते रूप में आविर्भूत हुआ और स्वर्गीय मिश्र जी ने अपनी विनोदप्रियता, व्यंग्यपूर्ण वक्रता, लोकोक्ति-निबन्धता तथा भाव-प्रवणता द्वारा उसे किस प्रकार आगे बढ़ाया, इसे हिन्दी-साहित्य का अध्येता भली-भाँति जानता है। उस युग का साहित्यिक हिन्दी, फारसी, बँगला, अंग्रेजी आदि कई भाषाओं का ज्ञान रखता था। वह नवीन और प्राचीन का संधि-युग था। उसमें प्राचीन रूढ़ियाँ त्याज्य समझी जाने लगी थीं और नवीन भावनाओं के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो रहा था। पं० प्रतापनारायण मिश्र प्राचीन और नवीन दोनों को साथ लेकर चले।

—डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम'

ISBN—81-88122-01-7 (Set)

ISBN—81-88122-03-3 (Vol. 2)

मूल्य : रु० 1,050.00 (चार खंड)

प्रतापनारायण मिश्र रचनावली

2

भारतीय प्रकाशन संस्थान

प्रतापनारायण मिश्र रचनावली

द्वितीय खण्ड

संपादक
डॉ० चन्द्रिकाप्रसाद शर्मा

क्रम

साहित्यिक निबंध

एक पुरुष ईश्वर की बड़ाई के कारण उसे अपना पिता मानता है, दूसरा प्रेम के मारे उसे अपना पुत्र कहता है। इसमें दूसरे के बाप का क्या इजारा है कि पहिले के विश्वास में खलल डाले। वास्तव में ईश्वर सबसे न्यारा एवं सबमें व्यापक है। वह किसी का कोई नहीं है और सबका सब कोई है। दृढ़ विश्वास और सरल स्नेह के साथ उसे जो कोई जिस रीति से भजता है वह उसका उसी रीति से कल्याण, शांति, दान अथच परित्राण करता है। इस बात के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

हो ओ ओ ली है !

1—अरे भाई, कुछ बाकी भी है कि सभी उड़ा बैठे ? सच तो कहते हो, विद्या गई ऋषियों के साथ, वीरता सूर्यवंशी चन्द्रवंशियों के साथ, रही सही लक्ष्मी थी, सो भी अपने पिता (समुद्र) के घर भागी जाती है । फिर सब तो इन्हीं तीनों के अधीन ठहरे, आज नहीं तो कुछ दिन पीछे सही हो (तो) ली ही है ।

2—अरे वाह, तुम भी निरे वही हो, कहो खेत की सुनो खलिहान की । अजी आज धुलेंड़ी है ! अब समझे ?

1—हाँ ! हाँ !! आज ही पर क्या है, जब कभी कोई अन्य देशी विद्वान् वा यहीं का ज्ञानवान् आगे वालों के चरित्र से हमारी तुम्हारी करतूत का मिलान करेगा तो कह उठेगा—'धुः लेंड़ी है' ! कुछ न किया, जितनी पुरुषों ने पुण्य की उतनी लड़कों ने··क्या कहैं, ह ह ह ह !

2—वाह जी हजरत वाह ! हम तो कहते हैं आज तेहवार का दिन है, कुछ खुशी मनाओ । तुम वही पुराना चरखा ले बैठे ! बाहर निकलो, देखो नगर भर में धूम है—कहीं नाच है, कहीं गाना है, कहीं लड़कों बूढ़ों का शोर मचाना है, कहीं रंग है, कहीं अबीर है, कहीं फाग है, कहीं कबीर है, कहीं मदपिये बकते हैं, कहीं निर्लज्ज लोग अश्लील (फुहुश) बकते हैं, कहीं कोई जूता उछालता है, कहीं कुछ नहीं है तो एक दूसरे पर सड़क की धूल और मोहरी की कीच ही डालता है, तरह 2 के स्वांग बन 2 आते हैं, स्त्री पुरुष सभी पर्व मनाते हैं । सारांश यह कि अपने 2 बित भर सभी आनंद हैं, एक आप ही न जाने क्यों नई बहू की तरह कोठरी में बंद हैं, न मुँह से बोलो न सिर से खेलो—भला यह भी कोई बात है ! उठो 2 !

1—ह हच्छा ! आपने तो खूब ही फारसी की छारसी उड़ाई (यह हिंदी की चिंदी का जवाब है), लखनौ के मियाँ भाइयों की काफियाबंदी को मात किया ।

2—खैर जी अब चलते भी हो कि यहीं से बातें बनाओगे ?

1—मैं नहीं जाता, यह बहेतूपन तुम्हीं को रंजा पुंजा रहे । भला यह भी कोई तमाशा है, जिसके लिए तुम्हारी तरह गली 2 पड़ा फिरूँ ? यह तो इस देश का सहस्त्रों वर्ष से तार ही है, होली ही पर क्या विलक्षणता आ रही है । आप एक नगर को लिए फिरते हैं, यह कहो कि यूरुप अमेरिका तक हमारे अतिमानुष करमों की धूम है । नाच देख के तुम्हीं प्रसन्न होते होगे, हमारी जान में तो कामाग्नि में और घृताहुती देने में रात भर आँखें फोड़ने में, सिवाय बची खुची बुद्धि को स्वाहा करने के क्या धरा है ? फिर यदि नाच भलेमानसों का काम नहीं तो अपनी धर्म्मपत्नी का हक वेश्याओं के भाड़ में झोंक के नाच का देखना ही किस सज्जन को सोहता है ?

2—वाह, नृत्य चौसठ विद्या में से है, भगवान् श्री कृष्णचंद्र जी नाचते हैं, उसे बुरा कहते हो !

1—फिर नाचो न ! मना कौन करता है ? अरे उन सज्जन महात्माओं को क्यों बदनाम करते हो ? हाँ, रासधारियों के ठाकुर जी को चाहो जो करो । भगवान् कृष्णचंद्र के और ही किसी काम का

पक्ष करते । देखो महाभारत में उनके धर्मनिष्ठता, धीरता, वीरता और गंभीरतादि सद्‌गुणों की कैसी स्तुति है ! यदि हम एक भी उनकी चाल सीखते तो लोक परलोक में कैसा कुछ आनंद होता !

2—यह पोथा फिर कभी खोलना—आज तो चलो परीजन (वेश्या) की तानों से कानों और प्राणों को प्रमोदित करें ।

1—क्या लज्जा की मूरत अनुसुइया (अत्रि ऋषि की पतिव्रता स्त्री) की औतार घर की अप्सरा देवी के सीठनों (ब्याह के गीतों) से तृप्ति नहीं हुई ? चलो, उसे कहोगे कि कुल परंपरा है, पर ऐसे 2 गीत कि 'मिरजा परे सरग जा रे मैं तो नागर बाम्हनी' किस कुल की परंपरा है ? रासलीला वाले व्यभिचारोद्दीपक गीत, जिनमें मजे का मजा और (हो न हो झूठ ही सही) धर्म का भी चाट है, यही क्या कम थे जो महाअपावन म्लेक्षों के साथ पूजनीय ब्राह्मणियों के इश्क के गीत गाये जायँ । हाय कलियुग देवता ! वेश्या तो गावें— 'चलत प्राण काया कैसी रोई' और कुलांगनाएँ वह गावें ? क्या ही काल की गति है !

2—यार, सच है, मैंने भी लाला कूड़ामल के लड़के के ब्याह में एक रंडी को 'हुए दफन जो कि हैं वे कफन उन्हें रोता अब्रे बहार है' गाते सुना था ।

1—फिर ले भला ! जब विवाह ऐसे मंगल कार्य में मुर्दों के गीत होते हैं तो होली में किस मनभावन गान की आशा है ?

2—हमने जान लिया कि नाच और गाने में तो तुम जा चुके पर चलो बाहर लोगों की हा हा हू हू ही से जी बहलावें ।

1—यह शोर ही शोर तो रही गया है । देखो तो किसी काम के रहे नहीं, हल जोतने तक का तौ सलीका नहीं, तौ भी 'हम बाला के सुकुल आहिन, हम ससुर धाकर के हियाँ तलाये का पानी लेबे ?' 'महाराज कुछ पढ़ते हो ?' 'का सुआ मैना आहिन ? हल तौ आहिन जगतगुरू ! हमारे पुरिखन यज्ञ कीन ती !!!' बलिहारी—रौरे ! (कनवजियों का प्रतिष्ठा शब्द) कि विद्या के नाम तो यह बातें पर जो कोई कह दे कि—'अविद्यो ब्राह्मणः कथम्' तो जनेऊ तोड़ने को तैयार हैं ।

2—हम तो ढैये उच्चकुल के क्षत्री (खत्री) हैं ना ?

1—ढैये हो चाहै साढ़ेसाती हो, पर राजा साहब ! क्षत्रियत्व इसी में है कि अपने देश भाइयों की शारीरिक और मानसिक शत्रुओं से रक्षा करो । सो तो इन नाजुक हाथों से आसरा ही नहीं, हाँ, यह कहो कि हम मेहरे हैं, सो तो हम तुम सभी, क्योंकि सच्ची योग्यता के नाते तो ढोल के भीतर पोल, पर मुँह से सब बड़ाई कूट 2 के भरी है ।

2—वाह रे गुरू ! क्यों न हो, कोई कुछ कहै तुम अपनी ही राह पकड़ोगे । अच्छा ले आओ, तुम्हें बना तो दें ! और क्या, (मुँह रंग के) आए ! ये आए होली के !

1—सो सही, पर उत्तम तो यह था कि ऐसे 2 कामों में सहाय देते जिनसे सचमुच की सुर्खरूई होती । बाल विवाह की कुरीति उठाई होती—ब्रह्मचर्य की फिर से प्रथा चलाई होती, तौ देखते कि कैसा रंग आता है । क्या एक दिन अबीर लगवा के हनोमान जी के भाईबन्द बन गए ! जहाँ मुँह पर पानी पड़ा फिर वही मोची के मोची ! आए क्या सब ही ओर से गए, यह कौन किससे कहे ? यहाँ तो आर्यसंतानों को हिंदू, काला आदमी, बुतपरस्त, काफर, बेईमान, अधसिखिया (Half Civilized), इत्यादि अवाच्य कबीरों के सुनने की लत पड़ गई है ।

इनकी समुझ में गाली तो खाने ही को बनी है ! जहाँ घर ही में जूता उछलौअल है—हम तुम्हें पोप का चेला कहैं, तुम हमें दयानन्दी गपाष्टक वाला बनाओ, फिर भला बाहर वाले (ईसाई मुसलमान) क्यों न लथाड़ें ? अरे मतवाले भाइयो ! तुम्हें यह क्या सूझी है कि तुम शैव होकर वैष्णव मात्र की छाँह न देख सको ? ईश्वर के सच्चे प्रेमी को भी राख न लगाने के पीछे 'तन्त्यजेद्यन्त्यजम् यथा' कहो ? क्यों महाराज घटाटोप टंकार रामानुज स्वामीजी ! अर्धपुंड्र न लगावे और हाथ न दगावे पर विद्वान् सज्जन हो, तौ भी वह निरा राक्षस है ? यदि श्रीमद्रामानुजस्वामी की तुम्हारी ही सी समुझ होती तो उनके उपदेश द्वारा लाखों लोगों का सुधरना सर्वथा असंभव था !

हाँ, मिस्टर पंचमकारानन्द साहिब से मैं डरता हूँ, कहीं मार न खायँ ! पशु और कंटक तो बनाते ही हैं, पर इतना तो फिर कहे बिना नहीं रहा जाता कि जो 'वेद शास्त्र पुराणानि निर्लज्जा गणिका इव' हैं तो केवल आप कहते और छिप 2 के मनमानी अंधाधुंध मचाने से 'शाम्भवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव' कैसे हुई जाती है ? यती जी महाराज ! जो बहुत फूँक 2 पाँव धरते थे उन्होंने माहीधरी टीका देख के यह बेपर की उड़ाई कि—'त्रयो वेदस्य कर्तारो भाँड़ धूर्त निशाचरा ।' यह भी न सोचा कि 'अहिंसा परमोधर्म्मः' जिसके ऊपर हमारे मत की नींव है, किसी वैदिक ही का बचन है या जैनी का ? हमारे यहाँ के सब के सब ही यद्यपि जानते हैं कि जैनी किसी दूसरे देश से नहीं आए, चाल ढाल ब्योहार हमारा ही सा उनके यहाँ भी है, परंतु तौ भी—हस्तिनापीड्यमानोपि न गच्छेज्जैनमंदिरम्—इस झगड़े की बात को वेद की ऋचा मान बैठे हैं ! अरे भाई ! धर्म और बात है और मतवालापन और बात है । पर तुम समझते तो फूट और बैर तुम्हारे देश का मेवा क्यों हो जाता, जिसका यह फल है कि तुम—'निबरे की जुइया सब कै सरहज'—बन गए, अन्य देशियों की गुलामी करनी पड़ी । अस्तु, यह दुःख रोना कब तक रोवें ?

अब जरा स्वांगों की कैफियत सुनिए । चाहै निरक्षर भट्टाचार्य हो, चाहै कुल कुबुद्धि कौमुदी रट डाली हो, पर जहाँ लंबी धोती लटका के निकले बस—'अहं पंडितं—सरस्वती तौ हमारे ही पेट में न बसती है !' लाख कहौ एक न मानैंगे । अपना सर्वस्व खोकर हमारे घाऊघप्प पेट को ठाँस 2 न भरै वही नास्तिक, जो हमारी बेसुरी तान पर वाह 2 न किए जाय वही कृष्टान, हमसे चूँ भी करै सो दयानंदी । जो हम कहैं वही सत्य है । ले भला हम तो हम, दूसरा कौन ! यह मूरत स्वामी कलियुगानंद सरस्वती शैतानाश्रम बंचकगिरि जी की, उनसे भी अधिक है । क्यों न हो, ब्राह्मण—गुरु संन्यासी प्रसिद्ध ही है । जहाँ—'नारि मुई घर संपति नाशी मूँड़ मुँड़ाय भए संन्यासी' ! फिर क्या, ईश्वर और धर्म के नाम मूँड़ ही मुड़ा चुके, अब तो 'तुलसी या संसार में चार रतन हैं सार । जूआ मदिरा मांस अरु नारी संग विहार' ! काशी आदि में, दिनदहाड़े बिचारे गृहस्थ यात्रियों की आँखों में धूल झोंकना ही तो लाल कपड़ों का धर्म है ! धन्य है ! जहाँ ऐसे 2 महापुरुष हों उस देश का कल्याण क्यों न हो जाय !

भला यह रामफटाका लगाए चिमटा खटकाते कौन आ रहे हैं ? यह लंपटदास बाबा हैं । मोटाई में तो गणेश जी के बड़े भाई ही जान पड़ते हैं ! क्यों न हो—'रिन की फिकर न धन की चोट, यहु धमधूसर काहे मोंट' ! न जाने यह बे मिहनत के मालपुए कहाँ जाते होंगे ? यह न पूछो, जहाँ कोई सेवकी आई—'ह हच्छा राधाराणी, ये बड़ी भगतिण है, बोल क्या इंछा है ?'

'महाराज संतान नहीं होती ।'

'संतान क्या लिए बैठे हैं ?'

'हें हें बाबाजी, आप के बचनों से सब कुछ होता है । मेरी परोसिन के लड़का न होता था सो आपही के ऐसे एक महात्मा की दया हुई, अब उसके दो खेलते हैं, आप जो करें ।'

'तेरी मणसा फलेगी रामासरे से । (हाथ देख के) संताण तो लिखी है पर किसी गिरही से नहीं दिक्खै ।'

'हें हें, फिर महाराज ?'

'अच्छा माई, विरक्त हैं पर क्या चिंता है—पर स्वारथ के कारणें संतण धरै शरीर । यह भी न सही तौ बालौपासना तो कागभुसुंड ऐसे महात्मा का धर्म ही है । धर्माधर्म का विचार तो किसी विद्वान् को होता है, यहाँ तौ अपणे राम भगत ठहरे, हरे कृष्ण गोविंद जाणते हैं । और पढ़कर क्या पंडिताइ करणी है ?' फिर पढ़े भी तो इतना कि रामायण ऐसी उत्तम काव्य से ऐसी 2 बातें चुन रक्खी हैं 'राम राम कहि जे जमुहाहीं । तिनहि न पाप पुंज समुहाहीं' । फिर क्या डर है, सबके गुरु घंटाल गोस्वामीजी की और भी विचित्र लीला है । कथा बाँचने के समय वुह ग्रीवाँ की हलन, भौंहन की चलन, अंगुरिन की मटकन, कामदानी दुपट्टा के छोरन की लटकन, मंद 2 मुसिकान, बौरी का चबान, घूँघर वारे—फुलेल सों सँवारे—भौंरे से कारे 2 केश, मदनमनोहर वेष, किस स्त्री अथवा पुरुष के मन को नहीं लुभाता ? दशम स्कन्ध में तो विहार वा विलास ही आदि शब्द लिखे होंगे जिनके कई उत्तम अर्थ भी हो सकते हैं, पर आपरूप उसे बहार इश्क ही (एक मसनवी) कर दिखावेंगे ! ऐसा न करें तो वह नित नए पधरावने कैसे हों, ठाकुर जी परिक्रमा में 'अहं कृष्णश्चत्वां राधा' की कैसे ठहरे ! हाय, इन्हीं स्वाँगों की बदौलत क्या 2 अनर्थ हुए और होते जाते हैं, पर न जाने कब तक हमारे हिंदू भाई जीती मक्खी लीलेंगे ।

2—सब को स्वाँग बनाते हो, तुम किससे कम हो जो काले रंग पर भी कोट पतलून पहिनकर निरे गड्डानी ही बने जाते हो ? ऊपरी बातों की नकल और अपनी बोली में कैट पैट मिलाने के सिवा अँगरेजों का सा स्वजातिहितैषी काम तो कोई भी न देखा । खरी कहाते हो, तुम्हारे चचा साहब दयानंदी हैं, उन्हें भी मुहीं से धर्म 2 वेद 2 उन्नति 2 चिल्लाते पाया, करतूत कुछ भी न देख पड़ी । क्या हिंदू के बदले आर्य और सलाम प्रणाम के बदले नमस्ते कहना ही धर्म का मूल, वेद का तत्त्व और उन्नति की सीढ़ी है ? सच्ची बातैं चूना सी लगती हैं !

1—तुम्हारे लगती होंगी जो जग उठे, यहाँ तो पहिले अपनी उतार लेते हैं तब दूसरे की पर हाथ डालते हैं । पर आप निहायत सच्च कहते हैं । हमको, तुमको और सभी को अपने नाम की लाज रखना अति उचित है ।

2—यार यह तो होता ही रहेगा, एकाध तान तो उड़ै ।

1—हाँ हाँ, लीजिए, धी-धींता-धींता-धींता—

होली

कैसी होरी मचाई—अहो प्रिय भारत भाई ।।
आलस अगिन वारि सब फूँक्यो बिद्या बिभव बड़ाई ।
हाय आपने नाम रूप की निज कर धूरि उड़ाई ।।
रहे मुख कारिख लाई ।।

आपस में गारी बकि बकि कै कीन्हीं कौन भलाई ।
महामूढ़ता के मद छाके हित अनहित बिसराई ॥
लाज सब धोय बहाई ॥

सर्बस खोय परे हो पर्बस तहूँ न जात ढिठाई ।
भावी बर्तमान दुख शिर पर ताकी शंक न राई ॥
बुद्धि कैसी बौराई ।

अबहूँ सुन हुरिहार की बिनती तजौ निपट हुरिहाई ।
साँचे सुख को जतन करौ कछु नहिं रहिहौ पछिताई ॥
बीत जब औसर जाई ॥

2—गाते हो कि रोते हो ! तुम्हें और कुछ न आया, ले अब हमारी सुनो, अ र र र कबीर !

जहाँ राजकन्यन के डोला तुरकन के घर जायँ ।
तहाँ दूसरी कौन बात है जेहमाँ लोग लजायँ ॥
भला इन हिजरन ते कुछ होना है ॥1॥

कहैं गऊ को माता तिन की दुरगति देखें रोज ।
लाज शरम और धरम करम का इन में नाहीं खोज ॥
भला इस हिंदूपन पर लानत है ॥2॥

1—अरे यार, इन कोरी बातों में क्या है । देखा बहुत खेल चुके ! अब खेलते 2 लस्त पस्त हो चुके ! तुम पर सैकड़ों घड़े पानी पड़ चुका, मुँह में स्याही लगी है, अब तो स्वच्छता धारण करो, अब तो शुद्ध हो जावो ! आओ हम तुम मिलें, दूसरों से भी मिलें और अपने 2 काम से लगें । औरों से भी कहो, छोड़ो इन ढंगों को, इसी में सबका मंगल है ।

धर्म 3 प्रेम 3 सब शांतिः 3

एक हुरिहार—कानपुर

खं० 1, सं० 1 (15 मार्च, सन् 1883 ई०)

कचहरी में शालिग्राम जी

कलौ दश सहस्राणि विष्णुस्तिष्ठति मेदिनीं । तदर्द्धं जान्हवीतोयं तदर्द्ध ग्रामदेवताः ॥1॥

यह बात लड़कपन से सुनते हैं कि कलियुग में दस सहस्र वर्ष विष्णु भगवान और पाँच सहस्र वर्ष

गंगाजी पृथ्वी पर रहेंगी । पर अभी तो पाँच सहस्र वर्ष भी नहीं बीते, यह क्या हुआ कि कलकत्ते में शालिग्रामजी को अदालत देखनी पड़ी और कानपुर में गंगाजी ने अमृतद्रव नाम छोड़ के चर्मवाहिनी की उपाधि धारण कर ली । कैसे खेद का विषय है कि इन दोनों बातों के कारण विशेषतः हमी लोग हैं । कलकत्ते की हाईकोर्ट के एक मुकद्दमे में मुद्दई और मुद्दाअलैह के वकीलों ने श्री शालिग्रामजी की एक मूर्ति को अदालत में लाए जाने के लिए मैरिस साहिब जज्ज से निवेदन किया, जज्ज साहिब ने अटर्नी लोगों से और गौरीकांत वर्मा नामक मुद्दई के कारिंदे से पूछा कि मूर्ति यहाँ आ सकती है ? उन्होंने कहा—'हाँ, चटाई पर नहीं परंतु बरामदे तक आ सकती है ।' बेनीमाधव मुतरजिन अदालत, जो एक उच्च जाति के ब्राह्मण हैं, उनकी भी इस बात में सम्मति हुई ।

वाह री समझ ! धन्य ब्राह्मण देवता ! भला जज्ज साहब तो विदेशी और विधर्मी थे, वह तो शालिग्रामजी की प्रतिष्ठा से अज्ञात थे, तुम्हारी समझ में क्या पत्थर पड़े कि इतना न सूझा कि जिनको ब्राह्मण लोग भी बिना स्नान किये नहीं छूते, दूसरी जाति तो दूर रही ब्राह्मणों तक की स्त्रियाँ स्पर्श तक नहीं कर सकतीं, उनको ईसाई मुसलमानों के बीच में लाना कैसे उचित हो सकता है ! उन लड़ाका भाइयों (मुद्दई मुद्दाअलैह) को क्या कहें जिनको अपनी बात के हठ में धर्म जाने का भी डर न रहा ! भला शालिग्रामजी कौन लाख दो लाख में आते हैं ? वा किसकी निज स्वाम्य (जायदात) में से हो सकते हैं जिनको अदालत में मँगाए बिना तुम्हारी नाक कटी जाती थी । क्या यही आर्यों के कर्म होने चाहिए ? धिक !! इन्हीं आपस के झगड़ों में देश बंटाढार हो गया, अब और भी न जानै क्या होता है । खैर, जज्ज साहब की आज्ञानुसार ठाकुरजी अदालत में आए, झगड़ालुओं की बात रह गई, परंतु इस अनर्थ का फल हम भारतवासियों के आगे आया । यह तो कब संभव था कि शास्त्र जिनको प्राण प्रतिष्ठा किये बिना भी पूजा के योग्य कहता है उनकी प्रतिष्ठा के विरुद्ध कोई बात हो और देशानुरागी महोदयों के जी पर चोट न लगे ।

आखिर उसी कलकत्ता हाईकोर्ट के एक वकील "ब्रह्मो पब्लिक ओपीनियन" पत्र के संपादक महाशय से (यद्यपि मूर्तिपूजन से इन्हें कोई संबंध नहीं है) न सहा गया । इन्होंने इस वृत्तांत को छापा । इन्हीं के लेख की (अथारिटी) पर बंगाली पत्र के एडिटर श्रीयुत बाबू सुरेन्द्रोनाथ बनर्जी ने भी अपने पत्र में लिखा । इन महाशय के लेख में ब्राह्मो पब्लिक ओपीनियन की अपेक्षा मोरिस साहब पर कुछ अधिक आक्षेप था । यद्यपि टेलर साहिब ने एक बार हाईकोर्ट के एक जज पर जैसे कठोर शब्द लिखे थे उनके देखे सुरेंद्रो बाबू के लेख में कुछ भी न था पर वे अँगरेज होने के कारण क्षमापन माँग के छूट गये थे ।

हाय, हमारे काले रंग की दुर्दशा ! कोई कैसा ही योग्य पुरुष क्यों न हो तौ भी इस अभागी 'नेटिव' नाम के कारण कुछ जँचता ही नहीं । हमारे बाबू साहब का क्षमा माँगना नामंजूर हुआ और हाईकोर्ट की अवमानना का दोष लगा के दो महीने के लिये कारागार भेजे गये ।

प्रिय पाठकगण ! विचार का स्थान है कि अपने धर्म की निंदा का हाल सुनके किस सहृदय का जी नहीं दुखता ? ऐसे अवसर पर मनुष्य जो न कर उठावै सोई थोड़ा है । फिर बाबू साहब ने कौन हत्या की थी जो ऐसे कठोर दंड के भागी हों । सुरेंद्रोनाथ कोई साधारण पुरुष नहीं हैं । आनरेरी मैजिस्ट्रेट और सिविल सर्विस के मेंबर रह चुके हैं । विद्या, बुद्धि और प्रतिष्ठा भी उनकी ऐसी देश भर में बहुत ही थोड़े लोगों की है ।

ऐसे देशानुरागी सुयोग्य व्यक्ति को ऐसी 2 बातों के लिये ऐसा दंड कर देने में केवल एक ही की नहीं वरञ्च आर्य मात्र की विडंबना है । क्या यह बात महा अनुचित न हुई ? निस्संदेह सबके जी पर इसका दुःख हुआ । तभी तो नगर 2 में त्राहि 2 मच रही है, ठौर 2 इस विषय में संभा होती हैं । सुरेंद्रो बाबू के पास कारागृह में हमदर्दी की चिट्ठियाँ पर चिट्ठियाँ, तारों पर तार जा रहे हैं, एक से एक धनवान विद्वान् बिलला रहे हैं, पर क्या कीजिये 'बलीयसी केवल ईश्वरेच्छा' । भगवान् के कामों में किसी का वश नहीं है । होम करते हाथ जलना इसी को कहते हैं । कहाँ यह आशा थी कि ऐसा करने से पुनर्वार हमारे देवताओं की ऐसी अप्रतिष्ठा नहीं की जायगी, कहाँ से देशभक्ति का यह उलटा फल देखने में आया ।

हे प्रिय देशहितैषीगण ! ऐसा सदा नहीं हुआ करता । इसमें भी उस सर्वशक्तिमान ने हमारे लिए कुछ भलाई समझी होगी । तुम यदि भारतमाता के सच्चे सुपुत्र हो तो निभ्रम हो के देशोद्धार के प्रयत्न में लगे रहो । उत्तम जन सहस्रों दुःख उठाते हैं पर अपने उद्देश्य को नहीं छोड़ते । देखो, सुरेंद्रो बाबू वहाँ भी ऐसे आनंद हैं कि हमारे सुयोग्य सहकारी उचित वक्ता उनके विषय में ऐसी सम्मति देते हैं कि "ऐसा कारागार भी वांछनीय नहीं वरञ्च प्रार्थनीय है ।"

खैर यह तो शालिग्राम की कथा हुई अब गंगाजी का यह हाल है कि हमारे कानपूर में एक चमड़े का कारखाना खुला है । कई दिन से उसका दुर्गंधिपूरित जल कभी 2 गंगाजी में आ जाता है जिसके कारण गंगास्नान, पितृतर्पण और जलपान करने को जी नहीं चाहता और रोग फैलने का भी अधिक संभव है, पर न जाने हमारी म्युनिसिपल कमेटी किस नींद सो रही है ?

खं० 1, सं० 4 (15 जून, सन् 1883 ई०)

देशोन्नति

मुसल्मानों के आने से पहिले हमारे देश में मुक्ति ऐसी सस्ती थी कि बे परिश्रम जो चाहे लूट ले । वही मुक्ति जिसके लिए बड़े 2 रिषीश्वर जन्म भर बनों में तपस्या करते 2 मर जाते थे, जिसके लिए शास्त्र में लिखा है कि "मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान विषवत्त्यज", वही मुक्ति जगन्नाथ जी के मंदिर (जहाँ दीवारों पर ऐसी निर्लज्ज मूर्तियाँ बनी हैं कि होली की कबीरों को मात कर दें) में ही आने मात्र से मिल जाती थी । इसकी भी सामर्थ्य न हो तो "गंगेत्वद्दर्शनान्मुक्तिः" । इसमें भी जी अलसाय तो किसी मत का पाँच श्लोक वाला स्तोत्र पढ़ डालो, बस "मुक्तिर्भवति वै ध्रुवम्" । यह भी सही तो "बारक नाम लेत जग जेऊ । होत तरन तारन नर तेऊ ।" खैर इन बातों से किसी की कुछ हानि नहीं होती, पर यार लोगों ने हद्द कर दी कि "मद्यम्मांस-सञ्चमत्स्यञ्च मुद्रा मैथुनमेव च" तक को मुक्ति का साधन लिख मारा । कहाँ तक कहें, ऐसा किसी चाल चलन का कोई पुरुष न था जो कहीं न कहीं, किसी न किसी महात्मा

के वचनानुसार मुक्ति का भागी न हो ।

हमारा प्रयोजन किसी मत पर आक्षेप करने से नहीं है । क्या जाने किसी ने अपने चेलों या लड़कों को चिट्ठी भेजी हो कि "मैं गयावाल जी की कृपा से वा भैरव स्तोत्र के फल से मुक्त हो गया, यहाँ सत्यलोक में आनंद से हूँ" । पर हमारी समझ में नहीं आता । क्योंकि शास्त्र देखने तथा विचार करने से यही सिद्ध होता है कि मुक्ति का परम साधन दुष्कर्मों का त्याग और परमेश्वर में सच्चा प्रेम है और मुक्ति का लक्षण सब दुःखों से छूट जाना है । यदि शास्त्र सच्चा है तो इन ऊपर लिखे उपायों को शेखचिल्ली की बातों के सिवा क्या कहा जाय ?

ठीक मुक्ति ही की सी दशा आजकल देशोन्नति की देख पड़ती है । घर में देखो तो जो लाला कहैं "अरे तीण बजे से गंगा न्हाण क्यूँ जाय है" तो ललाइन आपे से बाहर हो के उत्तर दें "मैं अपण सिर फोड़ गेरुंगी, देखो तो, धरम करम ने रोकै है ।" इधर पंडित जी आज्ञा करैं "कुछौ पढ़ा करौ" तौ पंडिताइन खांय फेकरौं करके कहैं "काहे का अरिष्ट च्यातत हौ, बैलायगे हौ का ? कतौं मेहरियौ पढ़ती हैं ?" हमैं ऐसे देशोन्नत्यभिलाषियों पर आश्चर्य आता है कि अपने घर की उन्नति किस बिरते पर किया चाहते हैं ?

बहुतेरे बाबू लोगों की दशा प्रतिदिन देखने में आती है कि परमेश्वर की दया से बुड्ढे होने आए हैं पर यह ज्ञान नहीं है कि किससे कैसे बर्तना चाहिए । विद्या तो दूर रही, बातचीत का यह हाल है कि जो अशुद्ध फशुद्ध दो चार शब्द अपनी भाषा के बोलैंगे तो बीस बड़े 2 कर्णकटु अलफाज अरबी अँगरेजी के, अपनी लियाकत दिखाने को, उसमें घुसेड़ लेंगे । बुद्धि की यह दशा है कि केवल नागरी जानने वाले ग्रामीण भाइयों के साथ बोलने में अपने को शेखसादी अथवा शेक्सपियर का नाती जाहिर करेंगे स्वभाव जैसा बीस बरस पहिले था वैसा ही अद्यापि वर्तमान है । गाँजा भाँग का प्रण संध्योपासन से अधिक निबाहेंगे, लावनीबाजों के फटके पर बड़े प्रेम से हँस 2 के खड़े 2 धक्का खाते हुए घंटों सुना करेंगे, अपनी हिस्ट्रीदानी दिखावैंगे तो ऐसी कविता करेंगे (रूसी हैं भुच्च जिनकी सवा 2 हाथ की मुच्छ) ।

संपेड़े के नाच में रात भर खड़े रहेंगे, शतरञ्ज में दो 2 पहर गंवा देंगे, दिवाली में आठ 2 दिन कर्ज काढ के सोरही में आठों पहर मगन रहेंगे, होली में मित्रों पर एक पैसे का रंग छिड़कने के समय सभ्यता की आड़ में जा छिपैंगे, पर दिन को कबीरों और रात को भांड़ों की महफिल में बैठे हैं, हा हा हा हो हो हो करने में बीर बन जायेंगे । आप दूसरों को बेवकूफ, बेईमान, पोप बनावैंगे पर दूसरा कुछ कहे तो अपने टटेर ऐसे हाथ पाँवों की ओर न देखकर लड़ने को तैयार हो जायेंगे ।

किसी की कोई वस्तु माँग लावैगे तो हजम कर रक्खैंगे या बरसों में अस्त-व्यस्त करके सत्रह कोने का मुँह बनाकर फेरैंगे । अपनी चीज माँगने पर, जिसे परम मित्र कहेंगे उससे भी, झूठे बे सिर पैर के सौ बहाने गढ़ैंगे । कहाँ तक कहैं, जितनी सत्यानाशी बातें हैं सब करेंगे पर देशोन्नति 2 चिल्लाते फिरैंगे । इन पाँचवें सवारों से कोई पूछे कि कुछ अपनी उन्नति भी की है कि देशोन्नति ही पर मरे जाते हो ?

लोग किसी समाचार पत्र अथवा किसी समाज के संबंधियों को उन्नतिकारकों की नाक समझते हैं, और हैं भी यों ही, क्योंकि ऐसों को इस बात का अधिक पक्ष होता है । सच पूछो तो इनकी शोभा, इनका मुख्य कर्तव्य, इनका परम धर्म ही यही है । पर किया क्या जाय, कुत्ते की पूंछ सीधी तो होगी नहीं । ऐसे लोग बकबक छोड़ के करेंगे क्या ?

पत्र सम्पादक वा पत्र प्रेरक होंगे तो किसी नीच प्रकृति अमीर की खुशामद के मारे सबके बैरी बनेंगे, वा किसी पुरुष पर दुलत्तियाँ झाड़ैगे । यह भी न करैंगे तो किसी सहयोगी रंड़हाव पुतरहाव नांघ लेंगे । ग्राहक होंगे तो पत्र लेते रहेंगे, दाम देने के समय पेट पर हाथ फेर के 'आतापी भक्षितो येन वातापी च महाबलः' पढ़के बैठे रहेंगे । कोई जल भुन के नादिहंद लिख बैठेगा तो प्रभु प्रान लगेंगे । समाजों के म्यम्बर होंगे तो या तो दूसरी सभावालों के गुण में भी दोष लगावेंगे या अहंकार के मारे अधिकारी बनने की धुन में आके अपने ही यहाँ वालों का चित्त फाड़ेंगे । भला ऐसों के लिए देशोन्नति होनी है ? कभी नहीं, कदापि नहीं, त्रिकाल में नहीं । देशोन्नति के लिए और भी सिद्ध मंत्र हैं, वह और ही दिव्यौषधी है ।

इसका एक मात्र परम साधन क्या है ? इस विषय में आजकल 'जै मुँह तै बातें' हो रही हैं । कोई कहता है धर्म 2 चिल्लाये जाओ, देशोन्नति हो जायगी । कोई समझे हैं धन के बिना देशोन्नति कैसी ? बिलायत यात्रा, यंत्र निर्माण, महत्कार्यालय स्थापन करनादि के बिना क्या होना है । किसी का सिद्धांत है कि बल के बिना देशोन्नति असंभव है । बाल्य विवाह उठे बिना विधवा विवाह हुए बिना त्रिकाल में कुछ नहीं होना । किसी का मत है 'विद्या विहीनः पशुः' । दूर देश जाके विद्या पढ़ी, बड़ी 2 पाठशाला स्थापित करी इत्यादि 2 यही देशोन्नति के मूल हैं । पर हमारी समझ में और प्रत्येक सहृदय पुरुष के विचार में देशोन्नति तो बड़ी बात है, सचमुच आत्मोन्नति तथा गृहोन्नति भी इन ऊपर वाली बातों से होनी कठिन है । हाँ उन्नत अवस्था में यह धर्मादिक सर्व बातें सहज साध्य होकर, शाखा प्रशाखा एवं हस्तपादादिक की भाँति, उन्नति के चिह्न मात्र तो बन जाती हैं पर उन्नति का मूल, उन्नति का जीवनास्ति दशा और प्रलयंगतावस्था में उन्नति का सृजक तथा पुनः प्रकाशक केवल प्रेम है । प्रेम के बिना कभी, कहीं, किसी प्रकार, किसी की उन्नति न हुई है, न होगी, न होती है ।

प्यारे देशोन्नत्याभिलाषीगण ! यह न कहना कि अच्छी सबसे निराली तान अलाप रहे हैं । नहीं, रामायण खोल के देखिये, भगवान रामचंद्रजी दंडकारण्य को कोई सेना, कोई कोत लेकर न गये थे । सीता वियोग जनित दुःख के कारण बुद्धि भी कदाचित ठिकाने न हो (देहधारी मात्र को घोर दुःख में विद्या भूल सी जाती है, बुद्धि भी ठिकाने नहीं रहती) । बाह्य धर्म के निर्वाह की संभावना नहीं है क्योंकि 'मार्गे शूद्रवदाचरेत' नीति में लिखा है । पर हाँ वह प्रेम शक्ति ही थी जिसके बल से हमारे उस पूज्यपाद ने निरे बनचरों को अपना बना लिया । लोक रावण ऐसे शत्रु पर विजयी होकर पुनः साम्राज्य श्री को हस्तगण किया ।

इधर महाभारत का अवलोकन कीजिये । एक से एक धर्म तत्त्वज्ञ, एक से एक महारथी योधा, एक से एक राज राजेंद्र केवल भ्रातृस्नेह के बिना, बाहरवाला कोई न मिला तो, आपस ही में ऐसे कट मरे कि आर्यावर्त का बंटाढार कर दिया । क्या हास्यास्पद वह पुरुष है जो वृक्ष के मूल का सेवन न कर के डाल 2 पत्ती 2 में जल छोड़ता फिरता है । भला वह पुष्ट होगी कि और सड़ जायगी ! क्या प्रेम के बिना धर्म धनादिक कभी हो सकते हैं ? यदि हो भी गये तो स्थिति उनकी कै दिन ? न जाने लोग मुख्य तत्त्व की ओर क्यों नहीं ध्यान देते, नहीं तो धर्म धन बल विद्यादि प्रेम के बिना है ही क्या ? शास्त्र में लिखा है 'यतोऽभ्युदय निश्रेयससिद्धिः स धर्मः' ।

वह अभ्युदय कब होगा ? तभी न जब पंडित महाराज की विद्या, ठाकुर साहब का बल, लालजी के रुपये, महतोभाई के हाथ पाँव परस्पर एक दूसरे के कार्य साधन करेंगे ? चारों एकत्रित कब होंगे ?

जब सबके अंतःकरण प्रेम से पूर्ण हो जायेंगे । नहीं सब बातें तो सब किसी को प्राप्त होती ही नहीं हैं । वह अपनी पोथी चाट लिया करैं, वह अपनी अशरफी गला के पी जाया करें । किसान तो तुच्छ जीव है, उसका उगाया अन्न वे पृथ्वी के शिरोमणि कैसे खायँगे ? उसकी भी बला से । उसने अपने परिश्रम से जोता बोया है, तुमको क्या ? ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे सिद्ध है कि सांसारिक अभ्युदय क्या जीवन जात्रा भी प्रेम बिना असंभव है । रही निश्रेयस सिद्धि, सो उसके लिये भी सब ओर से चित्तवृत्ति एकत्र करके ईश्वर में लगाना भी प्रेम ही है ।

यदि पोथियों को सच्चा मानो तो मरणांतर जीवात्मा का ईश्वर में मिल जाना भी प्रेम ही है । सारांश यह कि यदि 'यतोऽभ्युदय निश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' है तो प्रत्येक देशोन्नतिकारक को मान ही लेना पड़ेगा कि 'प्रेम एव परोधर्मः' । अब कहो आस्तिकजी ! जिसने परम धर्म का त्याग किया उसको भी सुख मिलना कहीं लिखा है ? अधर्मी का भी मनोर्थ कभी सिद्ध होता है ? धन के लिये लाख सिर पटका करो, अकेले बिलायत जाओगे, भूखों के मारे रमाबाई की सी दशा होगी (वह वहाँ जा के ईसाई हो गई) । अकेले कारखाना खोलोगे (किसी की सहायता न लेना) घर फूँक तमाशा देखोगे । फिर क्या ही देशोन्नति होगी ! विद्या के लिये गुरुजी से प्रीति न करना, चौदहौ विद्या आ जायगी । बल के लिये अखाड़े वालों से जली कटी कहना, सब कसरतें सीख जाओगे । बिरादरी वालों को सस्नेह समझाने की क्या आवश्यकता ? संतान युवा हों पूर्णोन्नत जाति में ब्याह देना । देशोन्नति तो घर की लौंड़ी है । कहने की सौ बातें हैं पर समझे रहो कि (करनी सार है कथनी खुवार है) ।

बड़ी 2 सभा, बड़े 2 लेक्चर, बड़े 2 मनोरथों से कुछ न होगा । सब बातों की उन्नति कुछ करने में ही होगी, और करना धरना सामर्थ से अधिक हो नहीं सकता । फिर कहिये तो कौन सी सामर्थ एतत्देशियों में रह गई है जो हमारे सह व्यसनी महोदय बड़े 2 बंधान बाँधा करते हैं ? महा परिश्रम करने पर भी यह संभव नहीं है कि सर्व साधारण में कभी पूर्ण रीति से विद्यादि सद्गुण एक साथ हो सके, और यदि किसी में कोई योग्यता हुई भी तो उसका ठीक बर्ताव न हो सकेगा । देखो राजर्षि भर्तृहरि जी क्या कहते हैं—"विद्या विवादाय धनन्मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय । खलस्य साधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय दाताय च रक्षणाय ।।" साधु वही है जो धर्म साधन करे, और धर्म का लक्षण ऊपर वर्णित हो चुका है ।

अब कौन कह सकता है कि सच्चा धर्मिष्ठ अर्थात् प्रेमी हुए बिना कोई अपनी विद्यादि से किसी का उपकार कर सकैगा । अतएव सबके पहिले प्रेम शाखा विस्तृत करना चाहिए । उसके प्रभाव से सब सुख साधिनी बातें स्वतः हाथ आ जायँगी । नहीं तो यह सब कोई जानता है कि "कलि में केवल नाम अधारा ।" एक माला लेके देशोन्नति 2 रटा करो—जैसे सब मतवाले "दुःखेच सुख मानिनः" हो रहे हैं वैसे देशहितैषी भी अपना अमूल्य समय खोया करें । आश्चर्य नहीं कि हमारे बहुत से प्रिय पाठक चौकन्ने हुए हों कि कहाँ तौ अभी उन्नति का मूल प्रेम को कहते थे, कहाँ सब मतावलंबियों पर कह बैठे । इस असम्बद्ध प्रलाप से क्या है ?

महाशय, देशोन्नति का बड़ा भारी बाधक तो मत ही हैं । जब तक उसका भ्रम जाल लगा है तब तक सुख स्वरूप प्रेम देव से भेंट कहाँ ? किसी मत का अगुवा कब चाहेगा कि मेरे अतिरिक्त दूसरे की बात जमे । कौन न चाहता होगा कि मनुष्य मात्र मेरे चेले होकर अंध भेंड़ की भाँति मेरे पीछे हो लें ? कौन दूसरे मत के लोगों की निंदा नहीं करता ? कब कहाँ कौन अपने साथियों को छोड़ दूसरों की किसी

प्रकार की बढ़ती देख सकता है ? क्या इन लक्षणों से किसी देशी भाई के हित की आशा हो सकती है ?

सच तो यों है मत शब्द का अर्थ ही नास्ति "नेस्ती व मनहूसी" का वाचक है, इसमें क्या तत्त्व ? यद्यपि सभी मतमतांतर के ग्रंथों में लोगों के फुसलाने के लिये थोड़े से बुद्धिमानों के सिद्धांत, जैसे ईश्वर की भक्ति, जीव पर दया, सहवासियों से प्रीति, सत्य भाषणादि सत्कर्मों का सेवन, चोरी, जारी आदि का त्याग इत्यादि 2 तो लिखे हुए पाए जाते हैं और वास्तव में यह मानवीय हैं, पर इन्हीं के आगे-पीछे झूठ लालच के साथ थोड़ी सी बे सिर पैर की अंड-बंड बातें ऐसी मिलाई गई हैं जिनके कारण बिचारे सीधे-साधे विश्वासी, बुद्धि की आँखों पर पट्टी बाँधकर, तुच्छ 2 विषयों के लिये, स्वदेशियों से जुतहाव किया करते हैं। क्या ही अच्छी बात होती यदि हमारे आर्यसमाजी भ्रातृगण समझ लेते कि प्रतिमा पत्थर तो है ही, हमें एक पत्थर के लिये सर्वदा मान्य देश गुरु पंडितों को पोप कहके चिढ़ाने तथा अनेक कामों में परस्पर सहायता करने के बदले उनको अपना बुरा बनाने की क्या पड़ी है ?

ऐसे ही ब्राह्मण देवता विचार लेते कि मूर्ति तो साक्षात् ईश्वर की प्रतिमा है; और ईश्वर न प्रशंसा से प्रसन्न होता है न निंदा से रुष्ट होता है। अथवा बुह आप समझ लेगा, हमें क्या प्रयोजन है कि एक वेदावलंबी भव्य युवक समाज को गाली दे देकर विरोध का मूलारोपण करें। यद्यपि वेद, धर्म और ईश्वर को दोनों मानते हैं, देशोद्धार दोनों को अभीष्ट है पर प्रेमतत्त्व न जानने से, मत के आग्रह के मारे, गोस्वामी तुलसीदासजी के इस बचन का उदाहरण बन रहे हैं कि 'बातुल भूत बिबस मतवारे। ये नहिं बोलहिं बचन सम्हारे।'

हम नहीं चाहते कि किसी मत विशेष के गुण दोष दिखाकर इस लेख को आल्हा का पँवारा बनावें, पर इतना तो चिता देना चाहते हैं कि सिवा कोरी बकवाद के और सत्यानाश का मूल परस्पर बिबाद के मत से कोई आशा मत करो। इनमें कुछ भी सार होता तो क्यों दुष्ट यवन हमारी नाना जातना कर डालते और एक से एक उदरंभर कान फूँकने वाले गुरु, एक से एक मारण मोहन करने वाले ओझा, एक से एक प्रचंड चामुंडा और भयानक भैरवादि, जिनके पीछे हम ईश्वर से विमुख, देश भाइयों से बिमनस्क हो गए, कोई कुछ न कर सका ? करता कौन ? बिपत्ति में तो एक धर्म ही सहायक होता है। उस धर्म को हमने धर्माभास से बदल डाला। प्रत्यक्ष से बढ़ के कौन प्रमाण है ?

यदि यह मत धर्म होते तो हमारी रक्षा न करते ? अब देशोन्नत्यभिलाषी सज्जन समूह स्वयं विचार देखें कि यह धर्म मंतव्य है ? पर हाँ यह अपने ही हैं अतएव प्रत्यक्ष में इनकी निंदा न करनी चाहिए, बरंच जिधर अपने सहवर्तियों को अधिक रुचि हो उधर का सा अपना भी रंग ढंग बना रहे, जिसमें कोई घृणा करके व्यर्थ में सामाजिक प्रेम पथ का अवरोधक न बन जाय। पर अंतःकरण से किसी मत का कट्टर कदापि न बनना चाहिए। क्योंकि जो सच्चे जी से स्वदेश का हित चाहते हैं उनका तो प्रेम पंथ निरालोई है। उस धर्म के अनुष्ठान की बिधि तो हमसे पूछो। सबसे पहिले देश भक्त को चाहिए कि दत्तचित्त होके अपनी उन्नति करो। उसके लिए मूल मंत्र तो बस यही है कि आलस्योहि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः। यह कोई दुःसाध्य बात नहीं है। केवल थोड़े दिन कुछ अड़चन सी तो जान पड़ेगी पर कष्ट किंचित भी न होगा। जी कड़ा करके नित्य कृत्यों का समय नियत कर देने से सब हो जायगा।

तदनंतर हाथ-पाँव की भाँति विचारशक्ति से भी काम लेते रहना चाहिए। इसके लिए भी केवल इतना ही कर्तव्य है कि प्रत्येक छोटे बड़े विषय में, जहाँ तक बुद्धि दौड़ सके, सोच लिया करे कि अमुक

बात में जु यों होगा तो क्या होगा, यों होगा तो क्या होगा, बस । अपनी हानि लाभ कौन नहीं समझता । जिसमें कुछ भी हानि देख पड़े उस काम को छोड़ दे । पर हाँ कोई ऐसा काम अवश्य करता रहे जिसमें अपने को वा पराए को अति कष्ट न हो और निर्वाह मात्र के लिये धन मिलता रहे तथा व किसी दशा में आय से अधिक व्यय न होने दे, नामवर व अमीर बनने के लालच में न फँसे और ऐसा धंधा न मुड़ियावे जिसमें दिन भर छुट्टी ही न मिलती हो ।

बारह घंटे दिन में जिसे न्यूनातिन्यून दो घंटे भी अवकाश नहीं रहता उसे हम मनुष्य कहने में हिचकिचाते हैं । उस छुट्टी के समय संसारी झगड़ों को छोड़ ईश्वर का भजन तथा निर्दोष जी बहलाव भी अवश्य ही चाहिए । निर्दोष मन बहलाव से हमारा प्रयोजन है जिसमें धन, बल और मान की हानि न हो । अनेक विषय की पुस्तकें (विशेषतः कविता और नीति की, क्योंकि पहली सहृदयत्व की जननी है दूसरी बुद्धिबर्द्धिनी है) देखना, बाटिका तथा मैदानों में घूमना, गाना बजाना, उछलना कूदना इत्यादि जिसमें अधिक रुचि हो करना । पर शारीरिक व्यायाम, चाहे बिना रुचि भी हो, अवश्यमेव करना । कैसी ही दशा में चिंता को पास न फटकने देना चाहिए । सब प्रकार के, सब श्रेणी के, सब बय के, सब मत के लोगों की संगति करना पर उनके अनुगामी न हो जाना । अपने शरीर स्थान बाणी वस्त्र इत्यादि को ऐसा न रखना जिससे किसी को घृणा उत्पन्न हो । ऐसे 2 और भी बहुत से काम हैं जो विचार शक्ति आप सिखा देगी, निरालसित्व और जिंदादिली आप करा देगी । उनको करते रहने से, थोड़े से काल में, आत्मोन्नति अपनी मिति तक पहुँच जायगी । रही गृहोन्नति, उसके लिए केवल इतना ही कर्तव्य रह जायगा कि अपने कुटुंबियों, आश्रितों तथा सहवासियों से ऐसे बर्ताव रखना जिसमें वे लज्जित, भयभीत, विरक्त न होने पावें । पर आप भी उनसे ऐसा न रह के मित्र भाव से रहना चाहिए ।

जिसके साथ निष्कपट हो के अपनपौ का व्यवहार किया जाता है वह कुछ दिन में निश्चय अपना हो जाता है । फिर जब तुमने उनको अपना अभिन्न हृदय बना लिया तो बस घर वाले एवं पड़ोस वाले, तुम्हारे सच्चे सहानुभावक, सच्चे सहायक, सच्चे आज्ञाकारी बन जायँगे । स्मरण रहे कि आत्मोन्नति के नियम न टूटने पावें तो गृहोन्नति कुछ बहुत कठिन नहीं है । और जो इन दोनों की उन्नति में पूर्ण समर्थ है अकेला वही देशोन्नति के लिए कटिबद्ध हो सकता है और कृतकार्य्य हो सकता है । क्योंकि हम कह चुके हैं कि प्रेम ही सब उन्नति का मूल है । जिसने अपनी देह एवं गेह से प्रेम कर लिया उसे अब प्रेम का अभ्यास हो गया । और प्रेम का अभ्यासी अपने कार्य्य सिद्धि में तथा दूसरों को अपने ढंग का बना लेने में पक्का होता ही है । जो दूसरों को अपना सा कर सकता है वह एक देश का क्या जगत् को थोड़ी कठिनता से समुन्नत कर दे ।

सं० 1, सं० 6, 7 (15 अगस्त, सितंबर, सन् 1883 ई०)
खं० 2, सं० 2, 5, 6, 9, 10 (अप्रैल, जुलाई, अगस्त, दिसंबर, सन् 1884 ई०)

मुक्ति के भागी

एक तो छः घर के कनवजिए, क्योंकि वैराग्य इनमें परले सिरे का होता है । सब जानते हैं कि स्त्री का नाम अर्द्धाङ्गी है । वे पढ़े लिखे लोग तक आपस में पूछते हैं 'कहौ घर का क्या हाल है ?' इससे सिद्ध हुआ कि घर स्त्री ही का नामान्तर है । उस स्त्री को यह महा 2 तुच्छ समझते हैं । यहाँ तक कि 'हेः मेहरिया तो आय पायैं कै पनहीं' । बरंच पनही के खो जाने से तो रुपया धेली का सोच भी होता है परंतु स्त्री का बहुतेरे मरना मनाते हैं । अब कहिए, जिसने अपने आधे शरीर एवं गृह देवता को भी तृणवत् समझा उस परम त्यागी बैरागी की मुक्ति क्यों न होगी ?

दूसरे अढ़तिए, क्योंकि प्रेतत्व जीते ही जी भुगत लेते हैं । न मानो कानपुर आ के देख लो । बाजे बाजों को आधी रात तक दतून करने की नौबत नहीं पहुँचती । दिन रात बैपारियों की हाव 2 में यह भी नहीं जानते कि सूरज कहाँ निकलता है । भला जिसे जगत् गति ब्यापती ही नहीं, जिसे क्षुधा तृषा लगती ही नहीं है, उस जितेन्द्री महापुरुष को मुक्ति न होगी तो किसे होगी जी ?

तीसरे उपदंश रोग वाले, क्योंकि बड़े 2 वैद्यों ने सिद्ध किया है कि इस रोग से हड्डियों तक में छिद्र हो जाते हैं । तो कपाल में भी हड्डी ही है । और सुनो, फारसी में इसका नाम आतशक है । शरीर को भीतर ही भीतर फूँक देती है । अब समझने की बात है कि जिसके प्राण ब्रह्मांड (शिर) फोड़ के निकलें तथा जो पंचाग्नि की परदादी प्रतिलोमाग्नि का सेवन करेगा वुह परमयोगी, वुह शरभंग रिषि के समान तपस्वी मोक्ष न पावेगा !

चौथे लंपटदास बाबा की चेलियाँ, क्योंकि गुरुः साक्षात् परब्रह्म' लिखा है । बरंच (राम ते अधिक राम कर दासा) । फिर क्या, जिसने अपना तन मन धन बरंच धर्म कर्म सरवस्व 'कृष्णार्पन' कर दिया उस अनन्य भक्त की मुक्ति में भी क्या कुछ संदेह है ?

हमारे पाठक कहते होंगे, कहाँ की खुराफात बकते हैं । खैर तो अब साँची 2 सुना चले ।

स्वर्ग नर्क मुक्ति कहीं कुछ चीज नहीं है । बुद्धिमानों ने बुराई से बचने के लिए एक हौवा बना दिया है । उसी का नाम नर्क है । और स्वर्ग वा मुक्ति भलाई की तरफ झुकाने के लिए एक तरह की चाट है । अथवा जो यह मान लो कि जिसमें महादुःख की सामग्री हो वह नर्क और परम सुख स्वर्ग है, तो सुनिए, नर्की जीव हम गिना चुके । उन्हीं के भाई बंद और भी हैं ।

रहे स्वर्ग के सच्चे पात्र, वह यह हैं—किसी हिंदी समाचार पत्र के सहायक, बशर्ते कि वार्षिक मूल्य में धुकुर पुकुर न करते हों और पढ़ भी लेते हौ । उनको जीते ही जी स्वर्ग न हो तो हम जिम्मेदार । दूसरे देशोपकारी कामों में एक पैसा तथा एक मिनट भी लगावेंगे वे निस्संदेह बैकुंठ पावेंगे । इसमें पाव रत्ती का फरक न पड़ेगा । हमसे तथा बड़े 2 विद्वानों से ताँबे के पत्र पर लिखा लीजिए । तीसरे, गौ रक्षा के लिए तन मन धन से उद्योग करने वाले, अन्न धन दूध पूत सब कुछ न पायें तथा सशरीर मोक्ष का मजा न उठावें तो वेद शास्त्र पुराण और हम सबको झूठा समझ लेना । चौथे, परमेश्वर के प्रेमानन्द में मस्त रहने वाले तथा भारत भूमि को सच्चे चित्त से प्यार करने वाले, एक ऐसा अलौकिक अपरिमित एवं अकथ्य आनन्द लूटैंगे कि उसके आगे भुक्ति और मुक्ति तृण से भी तुच्छ है ! हमारे इस वचन को जो 'ब्रह्म वाक्य सदा सत्यम्' न समझेगा वह सब नास्तिकों का गुरु है ।

खं० 1, सं० 10 (15 दिसंबर, सन् 1883 ई०)

वर्षारम्भ

अद्वितीय सर्वशक्तिमान भक्तवत्सल भगवान के युगल 'चरणारबिन्द को अनेकानेक धन्यवाद है कि उसकी अपरिमित अनुग्रह से हम द्वितीय वर्ष में प्रवेश करते हैं। फिर क्यों न वह दीनबंधु दयासिंधु तो महा महा चांडालों नास्तिकों तक का पालन पोषण करता है, हमारी सुध कैसे न ले, हम तो उसके ठहरे। वह ब्रह्म हम ब्राह्मण, वह जगत्पिता हम जगत्हितैषी, वह प्रेमस्वरूप हम प्रेमावलम्बी, हमसे उससे तो अगणित संबंध हैं। यदि वही हमको न अपनावै तो हमारा कहीं किसी प्रकार कभी निर्वाह हो न सके। हमीं ऐसे दुर्बुद्धी हैं जो इतना जानकर भी उसको भूल जाते हैं। उसके असंख्य उपकारों की संतो उसका धन्यवाद भी नहीं करते। नहीं 2 इतना हममें सामर्थ्य ही नहीं है कि उस अनन्त महिम का धन्यवाद कर सकें। अस्तु तो अपने प्रेमास्पद वर्ग का धन्यवाद भी अति उचित है। सबसे पहिले संपादक महाशयों को, विशेषतः उचित वक्ता और भारतमित्र के संपादकों को धन्यवाद है जिन्होंने यथोचित मित्रता का परिचय दिया, किसी प्रकार का द्वैत भाव समझा ही नहीं, हर बात में सहायक रहे। आशा है कि ऐसी ही कृपा दृष्टि सदैव रखेंगे।

इसके अनन्तर श्रीयुत पूज्यपाद पंडितबर बद्रीदीन जी शुक्ल महोदय को जहाँ तक धन्यवाद दिया जाय थोड़ा है, क्योंकि वही तो वास्तव में ब्राह्मण के जन्मदाता हैं। उन्हीं की आज्ञा के बल से तो हमारी रुचि इस पत्र के प्रकाश करने में दिन दूनी रात चौगुनी होती रही है और होती रहती है और लाला छोटे लाल गया प्रसाद साहब तथा बाबू बंशीधर साहब को धन्यवाद न दें तो कृतघ्नता के दोषी ठहरते हैं। क्योंकि पहिले पहिल इन्हीं महाशयों के सहाय से हमारा उत्साह द्विगुणित हुआ। क्यों न हो, सृष्ट्यारंभ से आज तक ब्राह्मण के एकमात्र सहायक क्षत्रियों के अतिरिक्त है दूसरा कौन ? हमारे धन्यवाद और आशीर्वाद के सच्चे आधार तो यही हैं। हमारे पाठक कहते होंगे, सबको तो धन्यवाद आशीर्वाद हैं पर हमको क्या लाभ ? अरे यार, तुम्हारे ही लिये तो ब्राह्मण का जन्म है। तुम्हीं तो इसके जीवन हो। तुम न हो तो सब अलल्ले तलल्ले भूल न जाते ? यह न कहना कि फिर अलल्ले तलल्लों से हमें क्या ? तुमको हर महीने इधर उधर की गपशप, ताजे ताजे लेख और जो कहीं दो चार बातें भी गाँठ बाँधो तो फिर क्या, दोनों हाथ लड्डू हैं। तुम्हीं तुम तो दिखाई देने लगो।

खैर इन शेखचिल्ली के से विचारों को कष्टसाध्य और देर तलब समझो तो अभी कोरे 2 आशीर्वाद ही लीजिये—जब तक गंगा जमुना में पानी रहै, जब तक हिंदुओं में फूट रहै, जब तक निरे पंडितों में पेटहलपन रहै, जब तक महाजनों में वेश्या भक्ति रहै तब तक तुम चिरंजीव रहो, बशर्ते कि हमको भी चिरंजीव रखो। स्मरण रहै कि दोनों हाथों बिना ताली नहीं बजती। परमेश्वर करे तुम्हारे दूध पूत अन्न धन किसी बात की न्यूनता न रहे। पर निरी हमारी बातों ही में न आ जाना। दूध के लिये गोबध निवारण, पूत के लिये बाल्य विवाह दूरीकरण, अन्न के लिये कृषि विद्या की उन्नति, धन के लिये समुद्र जात्रा एवं शिल्प शास्त्राभ्यास भी करना पड़ेगा। क्यों ? कैसा आशीर्वाद है ?

इससे भी तृप्ति न हो तो धन्यवाद के लिये भी हाथ फैलाइये वाह साहब, बड़े भलेमानुस हो ! वाह वाह, आपकी क्या बात है। ले अब तो प्रसन्न हो जाना चाहिए, और क्या ! य बात !!! हम तो बस इतने ही में निहाल हैं। हमारी तो केवल यही चाहना है कि हमारे सब ग्राहक आनन्दित रहें। जो मन

लगा के पत्र देखते हैं और दक्षिणा श्रद्धापूर्वक हमारी भेंट करते हैं वे तो आनंद हुई हैं, बरंच उनकी दया से ब्राह्मण देवता भी आनंदपूर्वक अपना धर्म निभा रहे हैं। जिन्होंने अब तक रुपये नहीं भेजे उन्हें भी प्रसन्न रक्खे। जीते हैं तो कहाँ जाते हैं, कभी न कभी पढ़ेहींगे। पढ़ेंगे तो कुछ देशहित सीखेहींगे। देशहित समझेंगे तो देशी पत्र की सहायता कहाँ तक न करेंगे ? रहे वे जिन्होंने छः 2 आठ 2 महीने ब्राह्मण मंगाया फिर फेर दिया और आठ दस आना के लिये देवाला निकाल बैठे। वे भी धन्यवाद के योग्य हैं क्योंकि उनसे हमें यह उपदेश मिला कि All is not gold that glitters।

पीली 2 पगड़ी, लाल 2 गाल, मोटे 2 तोंद वाले सभी ईमानदार नहीं होते। जो व्यवहार के सच्चे होते हैं वे झूठी बनावट नहीं रखते। यहाँ क्या है, हमने समझ लिया दमड़ी की हंड़िया फूटी, कुत्ते की जात पहचानी। परमेश्वर करें वे भी प्रसन्न रहें, चैन करें। इमली के पत्ते पर जो रुपया धर्मोपार्जित नहीं है, हरामख्वारों के हिस्से का है, हमें न चाहिये। यहाँ तो देशहितैषी विद्या रसिकों के घर में कमी क्या है जो हम आज बरस 2 के दिन मनहूसों का झिखना झिख के साल भर की नसेठ करें ? हमारे राम तो अब मंगल पाठ करते हैं और मंगलमय सच्चिदानंद के चरण कमल का स्मरण करके अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ होते हैं।

मंगल पाठ (भूतशांति के लिए) ओ३म् द्यौःशांतिः पुतलीघरांजन धूमाच्छादितांतरिक्ष ३ॐ शांतिः कबरिस्तानस्य पृथिवी शांतिः सोडावाटर शांतिः क्लोराफार्मः शांतिर्गांजा भांगः शांतिर्निरिऽपंडिताः शांतिर्मुहमदेशाः शांतिः सर्वायंकुलबंचकाः शांतिः शांतिरेवशांतिः सामाशांतिरेधिः ।।1।।

ओ३म् शराबः शांतिर्रण्डिको शांतिरंनेचरयल क्राइमः शांतिः पादरियाः शांतिर्मौलवियाः शांतिः फूटः शांतिर्लूटः शांतिरालस्यः शांतिः संतोषः शांतिः सर्वसत्यानाशी ढंगाः शांतिः सामाशांतिरेधिः। ओ३म् शांतिः 2 शांतिः।

लबेद संहिता अ * मं० **

खं० 2, सं० 1 (15 मार्च, सन् 1884 ई०)

हिम्मत रखो एक दिन नागरी का प्रचार होहीगा

सच है "परमेश्वर की परतीत यही, मिलो चाहिए ताहि मिलावत है"। जिस नागरी के लिये सहस्रों रिषि वंशज छटपटा रहे हैं उसका उद्धार न हो, कहीं ऐसा भी हो सकता है ? जब कि अल्प सामर्थी मनुष्य को अपने नाम की लाज होती है तो क्या उस सर्वशक्तिमान को अपनी दीन बंधुता का पक्ष न होगा ? क्यों नहीं। हमारे देशभक्तों को श्रम, साहस और विश्वास चाहिए, हम निश्चयपूर्वक कहते हैं यदि हमारे आर्य भाई अधीर न होंगे तो एक दिन अवश्य होगा कि भारतवर्ष भर में नागरी देवी अखंड राज्य करेंगी और उर्दू देवी अपने सगों के घर में बैठी कोदौं दरेंगी।

लोग कहते हैं, सर्कार नहीं सुनती । हमारी समझ में सर्कार तो सुनेगी और चार घान नाचेगी, कोई कट्टर सुनाने वाला तो हो । यदि मनसा वाचा कर्मणा सौ दो सौ मनुष्य भी यह संकल्प करलें कि 'देवनागरी वा प्रचार से सर्वस्व वा स्वाहा करिये' तो देखें तो सरकार कैसे नहीं सुनती । और सर्कार न सुनै तो कोई तो सुनैगा । कोई न सुनै तो परमेश्वर तो अवश्यमेव सुनेगा । हमारे उत्साही वीरगण कमर बाँध के प्रयाग हिंदू समाज के सहायक तो बनें । उसके सदनुष्ठान में शीघ्रता तो करैं ।

यदि सच्चे हिंदू हों, यदि सचमुच हिंदी चाहते हों तो मन लगा के हिंदू समाज प्रयाग की अमृत वाणी सुनैं तो सही । कुछ सच्चा रंग तो चढ़ै, तदनंतर हिंदी का प्रचार न हो तो हम जिम्मेदार । विचार हिंदू समाज का यह है कि देश देशांतर के हिंदी रसिक प्रयागराज में एकत्र करके उनकी संमत्यानुसार यावत कार्य सिद्धि हो । किसी प्रकार प्रयत्न से मुँह न मोड़ा जाय, अर्थात् स्थान 2 पर सभा स्थापित हों, लोकल गवर्नमेंट से निवेदन किया जाय ।

यदि वहाँ से सूखा उत्तर मिले तो उसी निवेदन पत्र में यथोचित बातें घटा बढ़ा के गवर्नर ज़्यनेरल को भेजा जाय । वह भी निराश रक्खें तो फिर पार्लियामेंट की शरण ली जाय । न्याय अन्याय, दुःख सुख, सब यथावत् विदित किये जायँ इत्यादि 2 । इस विषय में जो कुछ धन की आवश्यकता हो उसके लिये राजा वा महाराजा, सेठ साहूकार इत्यादि सब आर्य मात्र से सहायता ली जांय । यही अपना कर्तव्य है । उस धर्मवीर सभा का यह बचन क्या ही प्रशंसनीय है एवं सर्वभावेन गृहणीय है कि 'हम लोगों को केवल यही प्रण रखना आवश्यक है कि जब तक इष्ट सिद्धि न होगी तब तक हम लोग किसी रीति से चुप न होंगे ।'

क्यों प्यारे पाठकगण ! विचार के कहना, यदि पूर्ण रूप से ऐसा किया गया तो कोई भी सहृदय कह सकता है कि हिंदी न जारी होगी ? हमारी समझ में ऐसा कोई बिरला ही गया बीता होगा जो यथा सामर्थ इस परमोत्तम कार्य में मन न लगावै । हाँ भाइयो ! एक बार दृढ़ चित्त हो के, सेतुआ बाँध कै पीछे पड़ौ तो देखौ कैसा सुख और सुयश पाते हौ । देखौ कैसे शीघ्र हमारी तुम्हारी नपुंसकता का कलंक (जो मुद्दत से लगा हुआ है) दूर होता है ! इसमें अवश्य कृतकार्य होंगे ।

देखो शुभ शकुन पहिले ही से जान पड़ने लगे कि रीवाँ के राज्य में नागरी प्रचलित हो गई । हम जानते हैं, अवश्य यह हमारे मान्यवर श्रीयुत पंडित हेतराम महोदय के उत्साह का फल है । फिर क्यों न हो, इस देश के मंगलकारी सदा से ब्राह्मण तो हैं ही । सदा से, सब सदनुष्ठानों में इस पूजनीय जाति को छोड़ कौन अग्रगामी रहा है, और है ? हमको निश्चय है कि हमारे सच्चे सहायक ब्राह्मण ही हैं । विशेषतः वे सज्जन जिनको विश्वास है कि हमारा धर्म कर्म, संसार परमार्थ, मान प्रतिष्ठा, जीविका, सब कुछ हिंदी ही के साथ है तथा जो और भी महाशय हैं वे भी निस्संदेह ब्राह्मणों से किसी बात में बाहर नहीं । तो क्या सब मित्रगण हमारी सुनैंगे ? क्या सक भर हिंदू समाज का साथ न देंगे ? क्या पंडितवर हेतराम दीवानसाहब का अनुसरण किंचितमात्र भी न करैंगे ? कदाचित कोई महानुभाव कहैं कि हम तो सब करैं, पर किस बल से ?

सामर्थवानों की तो यह दशा है कि महाराज कहाते हैं, ललाई पर मरे जाते हैं, पर सवा आने महीना का 'ब्राह्मण' पत्र लेते सिकोड़बाजी करते हैं । क्या इन्हीं से धन की सहायता मिलैगी ? हमारे पास द्रव्य ही कितना है ? इसका सच्चा उत्तर यह है कि 'सात पाँच की लाकड़ी एक जने का बोझ' भी सुना है ? सौ महा निर्धन भी यदि अपनी भर चंदा करते रहैं तो एक दो लखपती को पिड़ी बोलावैं । दृढ़ता

चाहिए फिर कोई काम होने को न रह जायगा। बड़ों 2 को समझाने में कसर न करो तो कहाँ तक जायँगे, एक दिन समझा के छोड़ोगे, हैं तो जनेऊ चुटिया वाले ही न ? कहाँ भागेंगे ?

जब होली माता की बर्षी (बुढ़वा मंगल इत्यादि) में दाढ़ी वालों को सैकड़ों दे देते हैं तो नागरी माता के उद्धार में क्या कुछ न देंगे ? जब रीवाँ के अल्पवयस्क महाराज ने इतनी बड़ी महत कीर्ति संचित की तो क्या हमारे यावदार्यकुलदिवाकर सूर्यवंसावतंस मेवाण देशाधिपति सरीखे सर्वसद्गुणालंकृत महाराना तथा अन्यान्य आर्येन्दगण पीछे रह जायँगे ? हम तो ऐसा नहीं समझते, अतएव हिम्मत रखो एक दिन नागरी का प्रचार होहीगा।

खं० 2, सं० 2 (15 अप्रैल, सन् 1884 ई०)

कलिकोष

ब्राह्मण—'बांभन', बा इति भनति स बांभनः अर्थात् बैल—'विद्याविहीनः पशुः'।

गुरू—बेशर्मोहया नंगा लुच्चा दीवाना इत्यादि, काशीकोष प्रमाण्यात्।

प्रोहत—प्रकर्षेणहतः। तथा उपरहित (उप = समीप) "समीपे" रहितः अर्थात् करीब-करीब सत्यानाशी।

पंडित—पा से पापी, डा से डा डांकू, ता से तस्कर।

ब्रह्मतेज—क्रोध।

ब्राह्मणत्व—"बह्मनई"—सारे तोरे ऊपर कुवांमां गिर परिबे।

ब्रह्मज्ञान—नहीं डरने के पाप पाखंड को हम्। भजैं किस्को हैं शुद्ध ईश्वर हितोहम्। कहैं हम् को इक बात कोई तो दो हम्। चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं।

छत्री—जो बिना छतरी लगाए पयश्राव करने भी न जाय अर्थात् नजाकत का पुतला।

राजा—"बाह रज्जा बाह मरे जातें हैं" बस समझ जाओ।

बीर—"एरी मेरी बीर जो लैं आवै बलबीर" इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

शूर—जलशूर ब्राह्मण इत्यादि छोड़ के समझ जावो। चाहे शूर "हियो कपारे का आंधर" मान लो।

ठाकुर—रासधारियों में कृष्ण बनने वाला लौंडा, वा अँगरेज शासन रूपी डिबिया वाले।

वैश्य—वेश्या का पुलिंग जान पड़ता है क्योंकि "धन के हेतु त्यागि निज गौरव दास बन्यो जन-जन को।" परंतु मत्सर इतनी है कि "पर मन पर धन हरन को गनिका बड़ी प्रबीन" प्रसिद्ध है, और यह अँगरेजों के लिये कमाते हैं।

बनियाँ—जो कोऊ बनिकै आवै अर्थात् कभी झूठमूठ के भक्त, कभी व्यवहार का सच्चा, कभी

जगत मित्र इत्यादि । केवल बन आवै, वास्तव में वही "हाथ सुमिरनी बगल कतरनी ।"

लखपति—जिसने उम्र भर में लाख पति किए हों अर्थात् देखने में मर्द पर बज्र...।

महाजन—महा बड़ा और जन फारसी शब्द है अथवा भोले-भाले बैपारियों तथा गरीब कर्जदारों के हक में "महाजिन" (जिन फारसी में प्रेत को कहते हैं) ।

लाला—सबसे सब प्रकार लाओ-लाओ कहने वाला अथवा सच्ची योग्यता के नाते दूध पीने वाला बच्चा । "कनवजियों" में छोटे लड़कों को कहते हैं अथवा एक प्रकार का ऊपर लाल भीतर काले दाग वाला फूल ।

ब्रह्मचारी—बरहम फारसी शब्द है—उलटा, अनर्गल, विरुद्ध इत्यादि का वाचक और चारी संस्कृत में चलने वाले, बर्तने वाले आदि को कहते हैं । अर्थात् बामाचारी स्वतंत्रचारी इत्यादि का पर्य्याय समझना चाहिए ।

गिरस्त—आलसी जो गिरते 2 अस्त हो जाय पर हाथ पाँव हिलाने को धर्म प्रतिष्ठा कुलरीति आदि 100 बहाने करें । अथवा गृहस्थ, जो घर ही में स्थित देहली न लाँघै ।

बानप्रस्थ—जो घर का बसा कर डाले और उसी में "प्र-खूब" स्थित रहै ।

संन्यासी—अच्छे कामों को त्याग कर देने वाला, धर्म के नाम पर मूँड़ मुड़ा के खली तेल छू डालने वाला संनासी ।

प्रातः संध्या—गंगा किनारे गोमुखी में हाथ डाले जनाने घाट की तरफ देख 2 के, आँखें बना 2 के मुसकिराहट के साथ कुछ कहना ।

सायं संध्या—ठंडी सड़क में किसी होटल को जगाना ।

श्राद्ध—रंडिका भवन के पुरुषों को पिंडदान करना "सुवर्ण वर्ण वनिता वरांगिके । रेजिरे सित तनूर्नवांकुरैः । तर्पणाय वेद मदनाल से स्वर्ण पात्र विकरास्तिला यवाः ।

तरपन—जीवित माता पिता पर बात 2 पर सिंहवत् तड़पना । र और ड़ का बदला है ।

बलिबैश्वदेव—बलि "बकरा काट" बेसवा "रंडी" को (सर्वस्व) देव ।

अग्निहोत्र—ब्याह में हजारों की आतिशबाजी फूँक के मेघमंडल को छिन्न भिन्न एवं दुर्गंधिपूर्ण कर देना ।

अतिथि सेवा—अँगरेजों को खाना देना, मुग्यांड और मांस से जनेऊ चुटिया तिलक आदि की इज्जत बढ़ाना ।

धर्म—दूसरी संप्रदाय के पुरुषों को गाली देना ।

वेद—आर्यसमाज और धर्मसभा की फूट का बीज ।

यग्य—पुत्रउवाच "का कहन जुवा माँ 50 रुपया हारि आयन" इत्या माता बोली "बड़ी जग्गि कीन्ह्यौ" !

दान—पीकदान इत्यादि ।

देवाले—पराई जमा गपक बैठना । एक बचन "देवाला" ।

सुरालय—सुरा "मदिरा" आलय "घर" अर्थात् गद्दीखाना ।

शिवालय—शिवा "शृगाली" आलय स्थान । जहाँ सियारिन की तरह स्त्री फेंकरा करें अर्थात् "कनबजियों का घर" ।

तीर्थ—बहिराइच, मकनपुर, गजनेर वगैरह ।

नास्तिक—हमें छोड़ के दुनिया भर के मतावलंबी ।

जनेऊ—ताली बाँधने और कसम खाने के लिये साबुन से धोया हुआ डोरा ।

तिलक—दुष्कर्म छिपाने की ढाल ।

आचार—शुद्ध शब्द अचार है । नीबू आम कटहल इत्यादि की खटाई ।

विचार—जिहि बिधि मिलु पर धन पर नारी । करिय सो जतन विवेक विचारी ।

इति बर्णाश्रमबर्गः ।। थोड़ा 2 पढ़ावैंगे, शेष फिर किसी प्रतिपदा को सीखना ।।

साधु—गाँजा, चरस, अफीम इत्यादि का साधन करने वाला ।

संत—शुद्ध शब्द संठ (निरलज्ज) है । फारसी में टवर्ग नहीं होता इससे मुसलमान लोग बिगाड़ के बोलने लगे, जैसे अरब में एक बड़े देवता का नाम लात था बुह शुद्ध नाम लाठ (शिवलिंग) होगा ।

महंत—मेहेनत का अपभ्रंश मेहेंत, उसका भी अपभ्रंश महंत, न करने वाला, 'हरामखोर' । अथवा बंगाली ढंग से 'मोहंत' (काम क्रोध लोभ मोह) अर्थात् जिसके अंत में मोह है ऐसे बर्ग चतुष्टय का पूरण पाण ।

महात्मा—महा माने बड़ा, तमा माने लालच (फारसी में) वाला ।

बैरागी—बेति निश्चयेन रागी अथवा बैर की आगी (आग) का बर्द्धक ।

बिरक्त—बिशेष रक्त मांस जिस्के सबसे हो अर्थात् रिण को फिकिर न धन की चोट, यहु धमधूसर काहे मोट ।

जोगी—जो गिरस्त घर घालत फिरै । जो गिरस्त के काटै कान ।

जगम—फारसी शब्द है, मैं लड़ाई का रूप हूँ अर्थ हुवा ।

जती—जै अर्थात् जितना ती (स्त्री) हो, इनकार नहीं ।

भगतजी—मुँहमा राम बगल मौ ईंटैं, भगतजी काहेन भयो˙˙इत्यादि प्रसिद्ध ही है । चाहौ अधियाय के हबशी का नाम काफूर न्याय से समझ जाब ।

गोसाँई—गो गऊ अथवा इंद्रिय तिनका साईं (स्वामी) ।

पुजारी—पूजा का अरि ।

बैशनव—नबीन बैश (अवस्था) का खोजी ।

शैव—(सबै) एक आँख दबाके घोंचकोनिया के कहने से अर्थ खुल जायगा । सैव—अर्थात् वही ।

कचहरी—कच माने बाल, हरी माने हरण करने वाली । अर्थात् मुंडन (उल्टे छुरे से मूँड़ने वाली)—जहाँ गये मुँड़ाये सिद्धि ।

दर्बार—दर्ब द्रव्य का अपभ्रंश और अरि अर्थात् शत्रु, जैसे सुरारि मुरारि इत्यादि । भाषा में अंत वाली ह्रस्व इ की मात्रा बहुधा लोप हो जाती है ।

अदालत—अदा अर्थात् छवि, उसकी लत पोशाकें चमका 2 के जो बैठने वालों का स्थान । अथवा होगा तो वही जो भाग में है पर अपने दौड़ने-धूपने की लत अदा कर लो । अथवा अदा बना के जाओ

लातें खाके आओ इत्यादि ।

हाकिम—दुखी कहता है हा ! (हाय) तो हुजूर कहते हैं किम् अर्थात् क्या है बे ! अथवा क्यों बकता है ।

बकील—बु:कील जो सदा कलेजे में खटकै अथवा दंग भाषा में बोः 'की' (क्या है) लाओ । अर्थात् वुह तुम्हारे पास क्या है लाओ ।

मुखतार—जिसके मुँह से तार निकलें अर्थात् मकड़ी (जाल फैलाने वाला), अथवा मुक्त्यारि (मुक्ति का अरि) जो फंदे में आवै सो छूटने न पावै ।

मुअक्किल—मुआ अर्थात् मरा, किल इति निश्चयेन (जरूर मरो) ।

मुद्दई—ग्राम्य भाषा में शत्रु को कहते हैं । (हमारा मुद्दई आहिउ लरिका थोरै आहिउ) ।

मुद्दालेह—मुद (आनंद) आ ! आ ! ले ! दोत ! अर्थात् आव आव मजा ले (अपने कर्मों का) ।

इजलास—अंग्रेजी शब्द है, इज is (है) loss (हानि) अर्थात् जहाँ जाने से अवश्य हानि है । अथवा ई माने यह, जला सा अर्थात् कोयला सा काला आदमी (आग में झोंकने लायक है) । अथवा फारसी तो शब्द ही है, जेर के बदले जबर अर्थात् अजल (मौत) की आस (आशा) अथवा बिना जल (पानी) के आस लगाये खड़े रहो ।

चपरासी—लेने के लिये चपरा के समान चिपकती हुई बातैं करने वाला ! न देने वालों से चप (चुप) । रासी का अर्थ फारसी में हुआ 'नेवला है तू' । अर्थात् चुप रहु नेवला की तरह तू क्या ताकता है !' कहने वाला । अथवा फारसी में चप के माने बायाँ अर्थात् अरिष्ट के हैं (विधि बाम इत्यादि रामायण में कई ठौर आया है) अर्थात् तू बाम नेवला है क्योंकि कोल डालता है ।

अरदली—अरिवत दलतीति भावः ।

स्त्री—(शुद्ध शब्द इस्तरी) अग्नि तप्त लोह के समान गुण जिसमें । (धोबी का एक औजार) ।

मेहरिया—जिसकी आँखों में मेह (बात 2 पर रोना) और हृदय में रिया (फारसी में कपट को रिया कहते हैं) का बास हो ।

लोगाई—जिसमें नौ गौओं की सी पशुता हो । बंगाली लोग बहुधा नकार के बदले लकार और लकार के बदले नकार बोलते हैं, जैसे नुकसान को लोक्शान, निर्लज्ज को निरनज्ज ।

जोरू—जो रूठना खूब जानती हो ।

पुरुख—पुरु कहत हैं जेहमें खेतु सींचा जाथै और ख आकाश (संस्कृत में) अर्थात् शून्य । भावार्थ यह हुआ कि एक पानी भरी खाल, जिसके भीतर अर्थात् हृदय में कुछ न हो । 'मूर्खस्य हृदयं शून्यं' लिखा भी है ।

मनसवा—मन अर्थात् दिल और शब अर्थात् मुरदा (आकारांत होने से स्त्रीलिंग हो गया) भाव यह कि स्त्री के समान अकर्मण्य मुरदादिल, बेहिम्मत ।

मर्द—मरदन किया हुआ, जैसे लतमर्द ।

खसम—अरबी में खिस्म शत्रु को कहते हैं ।

संतान—जो संत अर्थात् बाबा लम्पटदास की आन से जन्मे !

बालक—बा सरयूपारी भाषा में 'है' को कहते हैं, जैसे 'ऐसनबाँ' अर्थात् ऐसा ही है, और लक निरर्थक शब्द है । भाव यह कि होना न होना बराबर है ।

लड़का—जो पिता से तो सदा कहे 'लड़' अर्थात् लड़ ले और स्त्री से कहे, का (क्या आज्ञा है ?) ।

छोरा—कुल धर्म छोड़ देने वाला (रकार ड़कार का बदला) ।

छोकड़ा और लौंड़ा—स्पष्टार्थ ।

पुत्र—पु माने नर्क (संस्कृत) और त माने तुझे (फारसी, जैसे जवाबत् चिदिहम—तुझे उत्तर क्या दूँ) और रादाने धातु है, अर्थात् तुझे नर्क देने वाला ।

सं० 2, सं० 6, 9-10 (15 अगस्त, दिसंबर, 1884 ई०)
खं० 3, सं० 9-10, 11 (15 नवंबर-दिसंबर, जनवरी, हरिश्चंद्र संवत् 1 और 2)

मुनीनांचमतिभ्रमः

हमारे परम सुयोग्य मननशील 'उचित वक्ता' भाई पूछते हैं, 'क्या प्रयागराज में अँगरेजी राज्य नहीं है ?' क्यों, क्या वहाँ चुंगी नहीं है ? क्या वहाँ उरदू नहीं है ? क्या वहाँ दरिद्र नहीं है ? क्या वहाँ शराब नहीं है ? क्या वहाँ गोरे रंग का अयोग्य पक्षपात नहीं है ? अँगरेजी राज्य के यावत अवयव तो हैं फिर अँगरेजी राज्य नहीं है ? आप आज्ञा करते हैं, आजकल जिधर देखो उधर अत्याचार की वृद्धि देख पड़ती है । मेरे प्यारे, बताओ तो थी कब ना ? 'दैवो दुर्बल घातकः' कोई झुंठला सकता है ! कोई नेचर से लड़ सकता है ? हमेशा से हत्या का नाम यज्ञ वा बलि चला आया है । अत्याचार क्या माने ? हाँ, अब जाना !!

हिंदी प्रदीप संपादक श्रीयुत पंडित बालकृष्ण भट्ट महाशय को थोड़े से गुंडों ने मारा, यह सुनके हमारा भी कलेजा फट गया, पर क्या करें । यह तो जमाना ही ऐसा है । 'उमराव औ सूबा वजीर थके सब सान गई सब जंगिन की । बरछी तरवार छिपाय धरौ चमकी चपरास फिरंगिन की ।। डर छूटि गयो पदमाकर जू न रही कुलकानि अधांगिन की । जब ते अँगरेज की राज भयो बनि आई है नगन नंगिन की ।।1।। इलवर्ट बिल में हमारे लार्ड रिपन स्वामी की तो गुंडों ने अप्रतिष्ठा करी डाली (आज्ञा भंगो नरेंद्राणां···अशस्त्रबध उच्चते) ।

दूसरों की कौन ? गुंडों से किसकी चलती है ? उनका तो राज है । दूसरों की खबर लें, तीसरे की खबर लें, कोई मीरा गुसैयाँ है ? मरही तो भलेमानुष की है जिनके इज्जतें होती हैं । हमें यह देख के आश्चर्य होता है जब कि हमारे चतुर चूड़ामणि उचितवक्ता कहते हैं कि— 'आश्चर्य का विषय है कि आज तक गवर्नमेंट ने···ध्यान न दिया ?' क्या किसी के घर सोने की खान निकली है जो गवर्नमेंट ध्यान दे ? क्या किसी ने ब्येंक का रुपया मारा है जो गवर्नमेंट ध्यान दे ? क्या किसी गोरे को मारा है गवर्नमेंट ध्यान दे ? और सुनो, 'क्यों वहाँ ऐसे अत्याचार होने लगे' । मान्यवर भट्ट जी लखपती

अंधेरी मजिस्ट्रेट नहीं, पहलवान नहीं, शुहदे नहीं, फिर क्यों सच बोलते हैं ? क्या नहीं जानते 'श्रेयांसि बहुबिघ्नानि' । वाह वाह !' 'ब्रिटिश राज्य में ऐसी अराजकता है' आप स्वप्न में नहीं सोचते थे ? वेब दुष्ट का मुकदिमा भूल गए ? अरे भाई ! हम 'गरीबों का खुदा फर्यादरस है' ।

याद रहे अपनी इज्जत अपने हाथ है 'कोऊ काहू को नहीं देखौ ठोकि बजाय' । गवर्नमेंट केवल मतलब की यार है । नहीं प्रमाण दीजिए, कब और कहाँ, बिना स्वार्थ, हमारे दुःख-सुख में हाथ डाला है ? हाँ यह बातें हैं, 'हमको संपादक की बेइज्जती से बेइज्जती समझना चाहिए' । बेइज्जती तो उसी दिन हो गई जब सुरेंद्रो बाबू कारागार गए थे । नहीं 2, कोई कुसूर करके न वह जेलखाने गए न यह कोई अपराध करके मारे गए । पीछे से बैल सींग मार दे तो बेइज्जती की कौन बात है ? पर हाँ मौत ने घर देख लिया । अब बेशक इस विषय का घोर आंदोलन करना चाहिए । सो क्या लेखणी से कै बरसें हुई संपादक समाज स्थापन होती है ? कुछ करौ धरौ भी । एक बार लिखने से क्या होगा ? बाँधो कमर ! पहिले भट्ट जी से कहो 'क्षमा खड्गं करे यस्यं दुर्जनः किं करिष्यति' से काम न चलेगा । 'नेकी करनी बदों से ऐसी है जैसे नेकों से की बदी तूनै' इस महा वाक्य पर ध्यान दें ।

'कान्यकुब्ज प्रकाश' से कहो, रंडरोना बंद करें । भला देश भर में तो एका होगा तब होगा, संपादक समूह तो सहानुभूति दिखावें ? जल्दी समाज का ढंचर बदल डालिए, जल्दी कीजिए नहीं निश्चय 'कुशल नहीं है' । यही बस एक कही तुमने मेरे मन की सी ! कौन जाने कल को प्रेस एक्ट ही जारी हो जाय ! परमेश्वर न करे ! पर अग्रसोची सदा सुखी । सबको मालूम तो हो जाय कि इतने संपादक 'एक जान सद कालिब हैं' । कहते बनता है ?

खं० 2, सं० 8 (15 अक्टूबर, सन् 1884 ई०)

मुच्छ

इस दो अच्छर के शब्द में संसार भरे की ऊँच नीच देख पड़ती है । इन थोड़े से बालों में उस परम गुणी ने न जाने कितनी कारीगरी खर्च की है, साधारण बुद्धि वाले बाल भर नहीं समझ सकते । सांसारिक संबंध में देखिए तो पुरुष के मुख की शोभा यही है । मकुना आदमी का चूतड़ ऐसा मुँह किस काम का ? बहुतेरे वैष्णव महाशय सदा मुच्छ मुड़ाए रहते हैं और कह देते हैं कि मुच्छ में छू जाने से पानी मदिरा समान हो जाता है । यह बात सच होती तो हमारे नव शिक्षितों का बहुत सा रुपया होटल जाने से बचता ।

हम तो जानते हैं कोई भी उक्त वैष्णवों की समझ का होता तो यह तरह 2 की निम्बूतरास मुच्छैं, वृंदाबनी मुच्छैं, गलमुच्छैं, लाल 2, काली 2, भूरी 2 उजली मुच्छैं काहे को देखने में आतीं । यद्यपि सबके आगे मुच्छ ऐंठना अच्छा नहीं, परमेश्वर न करे किसी को मुच्छैं नवानी पड़ें । परंतु बनवाए

रहना, सदा दगहा (मुरदा फूँकने वाला) की सी सूरत रखना भी अशोभित होता है ।

मुच्छ का बाल मुच्छ ही का बाल है । यह अनमोल है । आगे लाखों करोड़ों रुपये में मुच्छ गिरों रक्खी जाती थी । मुच्छ नहीं निकलती तब तक पुरु का नाम पुरुष नहीं होता—"नेक अबै मस भींजन देहु दिना दस के अलबेले लला हौ" । सहृदयता का चिह्न, समझदार (बुलूगत) की निशानी भी यही है "ह्याँ इनके रस भींजत से दृग ह्वाँ उनके मस भींजत आवैं ।" इज्जत भी इन्हीं से है ।

मर्दों की सब जगह मुच्छ खड़ी रहती है सबको इसका खयाल भी होता है । किसी की दाढ़ी में हाथ डाला प्रसन्न हो गया; जो कहीं मुच्छ का नाम लिया, देखो कैसा मियान से बाहर होता है । जिसकी इनकी इज्जत पर गैरत न हुई वुह निन्दनीय है । "काहे मुछई न मानोगे ?"—सुन के कोई ऐसा ही नपुंसक होगा जो लड़ने न लगे ।

मुच्छैं लगा के नीच ऊँच काम करते बिडंबना का डर होता है ! शेख जी खेलते हैं लड़कों में, यह तो बंदर है, वुह मुछंदर है । लोगों ने सुंदर व्यक्ति की भौंह की धनुष से उपमा दी है । हमारी समझ में मुच्छ को भी धनुष का खड़ा कहना चाहिए । पुरानी लकीर पर फकीर बुड्ढ़ी मुच्छों वाले (पुराने खूँसट) यद्यपि कुछ नहीं हैं, आज मरे कल दूसरा दिन, परंतु उनके डर के मारे न हमारे इंलाइटेंड जेंटिलमेन खुल खेलने पावैं, न देशहितैशीगण समाज संशोधन कर सकैं । उनकी मर्जी पर न चल के किरिष्टान कौन बने ।

मुच्छ से पारलौकिक संबंध भी है । कोई बड़ा बूढ़ा मर जाता है तो उसकी ऊर्द्ध दैहिक क्रिया बनवानी पड़ती है । कौन जाने इसी मूल पर कुशा को बिराटलोम लिखा गया हो । पितृकार्य्य में कुशा भी काटनी पड़ती है । तैसी ही सर्वोत्तम लोम भी छेदन करना पड़ता है । कदाचित् यही "जहाँ ब्राह्मण वहाँ नाऊ" वाली कहावत का भी मूल हो । उनकी जीविका कुशा, इनकी जीविका केश । परमेश्वर, हमारे प्यारे बालकों को मुच्छैं मुड़ाने का दिन कभी न दिखाइयो । प्रयागराज में जाके मुच्छैं बनवाना भी धर्म का एक अंग समझा जाता है । परंतु हमारे प्रेम शास्त्र के अनुकूल उससे भी कोटि गुणा पुण्य नाट्यशाला में स्त्री भेष धारणार्थ मुच्छैं मुंड़ाने से होता है । स्त्रियों के मुच्छ का होना अपलक्षण भी है । हिजड़ों को मुच्छ का जगना अखरता भी है ।

हमारे कागभुशंड बालोपासक लंपटदास बाबा के अनुयाइयों की राल टपकती है जब किसी अजातस्मश्रु सचिक्कण मुख का दर्शन होता है । वाह री मुच्छ ! तेरी भी अकथ कथा है । न भला कहते बनै न बुरा कहते बनै । तुझ पर भी 'किसी को बैंगन बावले किसी को बैंगन पथ्य' की कहावत सार्थक होती है । लोग दाढ़ी को भी मर्द की पहिचान बतलाते हैं । पर कहाँ ऊर्द्धगामी केश कहाँ अधोमार्गी । मुच्छ के आगे सब तुच्छ हैं । यह न हो तो मुँह क्या सोहै ।

बहुतेरे रसिकमना वृद्ध जन खिजाब लगा के मुँह काला करते हैं । यह नहीं समझते कि मुच्छ का एक यह भी रंग है जिस्की बदौलत गाँव भर नाती बन जाता है । बाजे मायाजालग्रस्त बुड्ढों को नाती से मुच्छैं नुचवाते बड़ा सुख मिलता है । पुपले-पुपले मुँह में तमाखू भरे हो हो हो 2, अरे छोड़ भाई, कहते हुए कैसे 'पुलक प्रफुल्लित पूरित गाता' देख पड़ते हैं ! कभी किसी बूढ़े कनबजिया को सेतुआ पीते देखा है ? मुच्छों से उरौती चूती है, ह ह ह ह 2! सब तो हुआ पर सबकी मुच्छैं हैं कि— ?

मुच्छ का सबिस्तर वर्णन उसी से होगा जो बाल की खाल निकाल सके । हमारे पूज्यपाद पंडित भाई गजराज प्रसाद जी ने यह बचन कैसा नित्य स्मरणीय कहा है कि "गालफुलाउब मोछ मिरोरब एकौ

काम न आई, तीनि बरे जब हुचु 2 करिकै जैहो मुँह बाई ।" श्री गोस्वामीजी का भी सिद्धांत है कि "पशू गढ़ते नर भए भूलि सींग अरु पूँछ । तुलसी हरि की भगति बिन धिक दाढ़ी धिक मूँछ ।'

आजकल भारतवासियों की दुरदशा भी इसी से हो रही है कि यह निरे "हाथ पाय के आलसी मुँहमाँ मुच्छें जायँ ।" धन बल विद्या सब तो स्वाहा हो गई, फिर भी एका करने में कमर नहीं बाँधते । भाइयो ! भ्रातृद्रोह से भागो । यह बहुत बुरा है । मुच्छैं बिन लेगा । प्यारे पाठक, खुश तो न होगे, कैसा बात का बतंगर कर दिया । क्यों बादाकशी हमको भी क्या दूर की सूझी ।

बस बहुत हुआ, 27 दिसंबर को प्रयाग हिंदू समाज का महोत्सव है । तुम्हारी प्यारी मातृभाषा का उद्धारक प्रयत्न आरंभ होगा । अगर हिंदू कहलाते हो, अगर मुच्छैं रखते हो तो तन मन धन से इस सदनुष्ठान में सहायक हो । आज स्वामी रामानुज शंकराचार्य केशव दयानंद प्रभृति आर्य गुरुवर के अमृतोपदेश की आधार बेद से ले के आल्हा तक की आधार सर्व गुणागरी नागरी देवी का काम है । इस अवसर पर लहेंगा पहिनना परम लज्जास्पद है । कुछ तो मुच्छों की लाज करो ।

खंड 2, सं० 9, 10 (15 दिसंबर, सन् 1884 ई०)

रक्ताश्रु

हाय ! हृदय बिदीर्ण हुवा जाता है । आँसू रुकते ही नहीं । हाय 2 सुनने से पहिले ही हमारा निरलज्ज शरीर क्यों न छूट गया । हाय पापी प्राण तुम क्यों न निकल गए । हाय इस अधम जीवन का अंत क्यों न हो गया । हाय आशा की जड़ कट गई । बस अब क्या है, अभागा भारत डूब जा । अरे अब तेरा कौन है ? स्वामी दयानंद चल बसे । छाती पर पत्थर धर लिया । केशव बाबू सिधार गए, रो धो के कलेजा थाम लिया । यह दुःख नहीं सहा जाता, हाय !!! अब क्या होगा ? हाय हम तो हम, हमारे प्यारे राधाकृष्णदास को कौन समझावै ? काशी ही नहीं अनाथ हुई, भारत माता के कर्म में आग लग गई । हाय देशहितैषिता विधवा हो गई । हाय हम क्या करें "एरे प्राण कौन सुख देखिबे को रह्यो जात । तूहू किन जात जित प्रीतम सिधरि गो" । हा ! हा !! हा !!! "क्या नजर जख्मे अंदरु आया । चश्म से रोते खूँ आया" । दम अटकते 2 टूट गया । सर पकटते 2 फूट गया !

हाय हमें संसार सूना देख पड़ता है । दुनिया उजड़ गई, हाय ! इससे तो महा प्रलय हो जाती । हाय प्यारे हरिश्चंद्र ! हाय भारत भूषण !! हाय भारतेन्दु !!! हा हा हा हा, अरे हम भी चलेंगे—हमसे नहीं सहा जाता । मेरे पूज्यपाद ! मेरे प्रातः स्मरणीय ! मेरे प्रेम देव ! बुलावो । स्वर्ग में तुम्हारी सेवा कौन करेगा ? हा 3!!! आ ! हा ! हा ! दिल का क्या हाल करूँ । खूँने जिगर होते तक, हाय कौन लिखे, कौन पढ़े । अरे बज्रहृदय कविवचन सुधारस !!!

यह क्या विष उगल दिया ? अरे यह अकस्मात ब्रजपात, हा ! हा ! हा ! प्रेमाचार्य तो प्यारे से

जा मिले अब भारत का उद्धार कौन करे ? क्या···? अनेक देशभक्त जो हैं ? कौन ? कहाँ ? किसको देख के ? हा ! "राका ससि षोड़स उवैं तारागण समुदाय । सकल गिरिन सब लाइये रबि बिन राति न जाय ।" कौन अपना सर्वस्व निछावर कर देगा ? किस्के बचन दिल को हिला देंगे ? हा रससिद्ध कबीश्वर ! हा भारत भक्त शिरोमणि !! हा सहृदय समूहाग्रगण्य !!! हा प्रेमीजन पूजित पादपीठ !!! हाय प्यारे, तुम्हारे निवास के ठौर को बोरत हैं अँसुवाँ बरजोरन । हाय जनवरी की 6 तारीख चाण्डाल काल । यह क्या किया ? हाय "कहैंगे सबैही नैन नीर भरि 2 अब प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी ?" हाय मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, हा ! हा !! हा !!!

हाय आजु भारत अनाथ सब भाँति भयो,
भारती जू भूषण विहीन दीसैं मंद ।
हाय क्यों न प्रताप दीह ताप सों करेजो तपै,
भयो सुखदायक सुधा को सोत बंद ।
हाय भावत न हाय हाय के सिवाय कछु,
उरपुर रुधै है विषदन को बृंद हाय ।
हाय हाय हाय हाय हरि कीन्हीं अनरथ कैसी,
शोक हरिलोकहिं सिधारे हरिचंद्र हाय ।।1।।

बानी प्रेमसानी सों पियूष बरसावै कौन,
कौन चहुँ ओर जस चंद्रिका पसारे हाय ।
परताप चतुर चकोरन को ताप हरि,
भारत की भू को तम कौन निरुवारे हाय ।
तेरे बिन हेरत हिरात हियरे को चैन,
आसुन में बूड़े जात नैनन के तारे हाय ।
हरिचंद हाय भारत के चंद हाय बाबू हरिचंद,
हरिचंद प्राणप्यारे हाय ।।2।।

हा ! हा !! हा !!! ताकत तो साँस को भी नहीं आह क्या करूँ । क्या बेबसी है ऐ मेरे अल्लाह क्या करूँ ।।

खं० 2, सं० 11 (15 जनवरी, सन् 1885 ई०)

वर्षारंभे मंगलाचरणम्

धन्य 2 त्रैलोक्य नाथ त्रैताप विनाशन ।
धन्य 2 त्रैबर्ग मुक्त हृदि प्रेम प्रकाशन ॥
धन्य 2 त्रैगुण्य रहित त्रैलिंग्य विधाता ।
धन्य 2 त्रैकाल एक रस त्रैकृति ज्ञाता ।
धन्योसि प्राण प्रियतम प्रभो ।
त्रिदश पूज्य बुध वन्द्य पद ।
ब्रह्मण्य देव ब्राह्मण शरण त्रितिय वर्ष मधि हर्षप्रद ॥1॥

उस त्रिभुवन नायक को असंख्य धन्यवाद है जिसकी कृपा से आज हम तृतीय वर्ष में प्रवेश करते हैं। यद्यपि ब्राह्मण देवता अपने जन्मदिन ही से अपने यजमानों को हँसाने, सदुपदेश सुनाने और सर्वोन्नति विधायक प्रेम मार्ग दिखाने के ऊपर मूँड़ मुड़ाये फिरते हैं, पर आज तो लोकरीत्यानुसार मुंडन का दिन ही ठहरा। होली की भीर है। तीसरे वर्ष का आरंभ है। क्या अपना कृत्य न करैंगे ? करैं और फिर करैं नहीं तो पाठक महाशय तीन कोने का मुँह न बनाने लगैंगे ?

अच्छा तौ प्रिय ग्राहकगण ! लीजिए धन्यवाद, आशीरवाद और स्नेह संवाद, यह तीनौं आपकी भेंट हैं। क्यों पसंद आए ? ह ह ह कैसी शीघ्र हाथ पसार दिया ! स्मरण रहे कि सबके लिए नहीं हैं। आप लोगों के नाम में तीन अक्षर हैं। पहिले उनका अर्थ समझ लीजिए फिर तीनों आपस में बाँट लीजिएगा। पहिले अक्षर है 'पा' जिससे प्रयोजन है पालन करने वाला, अर्थात् पत्र को रुचिपूर्वक पढ़ना, दूसरों को उस्का तात्पर्य विदित करना और ठीक समय पर दक्षिणा भेजकर वर्ष भर के लिए निर्द्वंद्व हो जाना। पत्र का निर्वाह होता गया, उनका उत्साह बढ़ता गया, कैसा परस्पर पालन हुवा ? ऐसों के लिए हमारा धन्यवाद है बरंच उपरोक्त तीनों उन्हीं के लिए हैं। दूसरा अक्षर 'ठ' जिस्का अर्थ हैं ठगई करने वाला अर्थात् एक पोस्टकार्ड लिख भेजा 'कृपा करके मेरे नाम भेजा करो' वा मिल गए तो 'हमको भी पत्र दिया करो।' दिया करैंगे। कपड़ों से भलेमानस जान पड़ते हो, बोली बानी से रसिक जँचते हो, हम अंतरजामी थोड़े ही हैं कि तुम्हारा आंतरिक देवालियापन जान लें। जहाँ आठ दस महीने हो गए पत्र लौटाल दिया। लिख दिया– 'लेना मंजूर नहीं है'। पहिले क्या झख मारने को मँगाया था ?

झूठे, बेईमान, उठाईगीर। क्या यह ब्राह्मण क्षत्रियों का धर्म है ? नहीं, प्रच्छन्न चोरों का, जिस्का धर्म एक रुपए पर डिग गया। अँगरेजी राज्य न हो तो ऐसे ही लोग डाका मारैं। ऐसी ही बुद्धि वाले तो पराए लड़कों का गला घोंट के गहना उतार लेते हैं। भला ऐसों के लिए हमारे पास क्या है, सिवा बीच वाले शब्द (अर्थात आशीरवाद) के कि 'खुसी रहौ जजमान नैन ये दोनों फूटैं' जिसमें कोई समाचार पत्र देखने को जी न चाहे, न हमारे सहयोगियों की हानि हो। और 'राह चलत गिर पड़ौ दाँत बत्तीसौ टूटैं' जिसमें तकाजा करने का खीस काढ़ के 'सुध नहीं रहती' न हो।

नहीं 2 आज वर्षारंभ की खुशी में हम और भी देंगे—बढ़ती रहै हमारे प्यारे 'भारत जीवन' की जिन्होंने प्रण किया है कि 15 अपरैल तक सब हिंदी पत्रों के सारे नादिहंद ग्राहकों को गधे की सवारी, नील का टीका और बूक का अभिषेक यह तीनों दिये जायँगे जिसमें उन्हें तीनों तिरलोक दिखाई देंगे।

अब भी न समझ जायँ तो सचमुच तीन अक्षर (धिक्कार) तो उनके भाग ही में हैं हम क्या करें । पाठक शब्द में तीसरा अक्षर 'क' है । उस्का तात्पर्य है कर्म करने वाला, अर्थात रुपया देके पत्र को पढ़ ही नहीं डालते कुछ उस्के अनुसार करते भी हैं । कुछ रुपया नागरी प्रचार में, कुछ काल परोपदेश में कुछ श्रम परस्पर प्रेम प्रबर्द्धन में व्यय करते हैं । उनके लिए हम क्या परमेश्वर भी धन्यवाद और आशीरवाद करैगा । संसार में त्रिवर्ग अर्थात् धर्म्मार्थ काम अथच अंत में नित्यानद उन्हीं के हेतु है ।

सच तो यह है कि कुछ करने ही से कुछ होता है । कोरी बातों में तीन काने के अतिरिक्त क्या धरा है ? वही ढेकुली के तीन पात । अस्तु तौ हम भी बातें बनाना छोड़ के अपना कर्तव्य पालन करैं । क्यों प्यारे पाठक, करैं न ? ह ह ह ओ३म् तद सत् नमम्त्रे देव्यै । श्रीकलिराजउवाच । ब्राह्मणा नाम्महा बांभन् (बांइति भनति) शठानांचमहाशठः । देविनांच महा देवी माननीया सदा बुधैः ।।1।। देबी 2 देहिबी बिदेहिबो बीत मंत्रकं मद्भक्तानांमुखे नित्यं रहितब्यं प्रयत्नतः ।।2।। पूजयंति महाशक्ति बुढ़वाः पोप बंचिताः । तस्य वै गुप्त तात्पर्य्यमहं मन्येन दीगरः (दूसरा) ।।3।। काले हिंदुन की प्यारी काली बोतल बासिनी । मद्योपनाम धात्रीं तां महाकाली मुपास्महे ।।4।। तुच्छानां तुच्छ चित्तानां राजा बाबू बनाइनी । खुशामदेति विख्यातां महालक्ष्मी भजाम्यहं ।।5।। कुछ का कुछ करणे देयं जालिनी (जाल) संयुक्तः कायथ प्रियां । बेउर्दू इति मशहूरां महाबाणी स्मरामहे ।।6।। महा देब्या शठकं दिव्यंयः पठेच्छृणुयादपि । कर्मणी धर्मतः शर्मान् मुक्तमाप्नोति वैध्रवम् ।।7।। सर्वोन्नतिकरं पुण्यं सर्व सिद्धि विधायकं । गोपनीयमिदंस्तोत्रं सिब्लाइजडै महात्मभिः ।।8।। इति श्री कलिकाल तंत्रे उन्नीसवीं सदी कलिराज संवादे त्रिदेव्याष्टकं समाप्तम् । खैर यह तो होली का उत्तर था, सड़े बुड्ढों का ब्यौहार था । अब सच्चा 2 मंगल पाठ हो । नमो भगत बत्सल सुखद सबहि भाँति भजनीय । जगत प्राणपति अति सुभग परमईश रमणीय ।।1।। अकथनीय आनंदमय सहृदय जन के प्रान । शुभ शोभानिधि परम प्रिय नमो प्रेम भगवान ।।2।। परम पूज्य प्रेमीन के सुहृद सभा सुखकंद । जग दुःखहर शिवसीसमणि मनो देव हरिचंद ।।3।। उरपुर निज परकाश करि संसय सकल नशाव । हे प्रभु आरज बंधु कहं प्रेम पंथ दरशाव ।।4।। सिंखहि नागरी नागरी नागर बनहिं सुलोय । ब्राह्मण की आशीष ते घर 2 मंगल होय ।।5।। ओ३म् धर्म । धर्मं । धर्म । प्रेम । प्रेम । प्रेम ।। शांति । शांति । शांति ।।

खं० 3, सं० 1 (15 मार्च, ह० सं० 1)

आकाशबाणी

हमारे मिष्टर अँगरेजीबाज और उनके गुरु गौरण्डाचार्य्य में यह एक बुरा आरजा है कि जो बात उनकी समझ में नहीं आती उसे, वाहियात है (ओह नांसेंस), कह के उड़ा देते हैं । नहीं तो हमारे शास्त्रकारों की कोई बात व्यर्थ नहीं है । बहुत छोटी 2 बातें विचार देखिये । पयश्राव के समय यज्ञोपवीत कान में चढ़ाना इसलिये लिखा है कि लटक के भींग न जाय । तिनका तोड़ने का निषेध किया है, सो इसलिये

कि नख में प्रविष्ट होके दुःख न दे । दाँत से नख काटना भी इसी से बर्जित है कि जिन्दा नाखून कट जायेगा तो डॉक्टर साहब की खुशामद करनी पड़ेगी ।

अस्तु यह रामरसरा फिर कभी छेड़ेंगे, आज हम इतना कहा चाहते हैं कि पुराणों में बहुधा लिखा है कि अमुक आकाशबाणी हुई । इस पर हमारे प्यारे बाबू साहबों का, 'यह नहीं होने सकता' इत्यादि कहना व्यर्थ है । इस्से उनकी अनसमझी प्रगट होती है । क्योंकि आकाश अर्थात् पोलापन के बिना तो कोई शब्द हो ही नहीं सकता । इस रीति से वचन मात्र को आकाशबाणी कह सकते हैं, और सुनिये, चराचर में व्याप्त होने के कारण ईश्वर को आकाश से एक देशी उपमा दी जा सकती है ।

बेद में भी 'खम् ब्रह्म' लिखा है और प्रत्येक आस्तिक का मन्तव्य है कि ईश्वर की प्रेरणा बिना कुछ हो ही नहीं सकता । पत्ता कहीं हुक्म बिना हिला है ? तो संसार भर की बातें आकाशवत् परमात्मा की प्रेरित नहीं हैं तो क्या हैं ? शब्द ब्रह्म और खम् ब्रह्म इन दोनों बातों का ठीक 2 समझने वाला आकाशबाणी से कैसे चकित होगा ? यदि डियर सर (प्रिय महाशय) आस्तिक न हों तौ भी यों समझ सकते हैं कि हृदय का नाम आकाश है, क्योंकि वह कोई दृश्य वस्तु नहीं है, न तत्त्व संमेलन से बना है । एक विज्ञानी से किसी ने पूछा था कि हृदय क्या है—उसने उत्तर दिया—no matter अर्थात् वह किसी वस्तु से बना नहीं है और यह तो प्रत्यक्ष ही है, यावत संकल्प विकल्प हैं सबका आकाश उसी में है ।

हमारी भाषा कवियों के शिरोमुकुट गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी हृदयाकाश माना है "हृदय अनुग्रह इंदु प्रकाशा ।" इस वाक्य में यदि हृदय को आकाश न कहें तो दयारूपी चंद्रमा का प्रकाश कहाँ ठहरे ? अतः हृदय में हर्ष शोक चिंतादि के समय जितनी तरंगें उठती हैं, सब आकाशबाणी (अवाजे गैब) हैं । यह तो हमारे यहाँ का मुहावरा है । समझदार के आगे कह सकते हैं कि अमुक पुरुष अपने प्रियतम के वियोग में महा शोकाकुल बैठा था इतने में उसे आकाशबाणी हुई कि रोने से कुछ न होगा । उस्के मिलने का यत्न करो । ठीक ऐसे ही अवसरों पर आकाशबाणी होना लिखा है । जिसे कुछ भी बुद्धि संचालन का अभ्यास है वह भलीभाँति समझ सकता है । हमारे उर्दू के कवि भी बहुधा किसी पुस्तक के व किसी स्मरणीय घटना के सम्वत् लिखने (कितए तारीख) में कहा करते हैं, 'हातिफे गैब ने कहा नागाह काले साहब को सुर्खरू पाया, फिक्रे तारीख जब हुई दरपेश । गैब से मुझको यह निंदा आई' इत्यादि एक नहीं लाखों उदाहरणों से सिद्ध है कि एशिया के ग्रंथकार मात्र अंतःकरण को आकस्मातिक, गति को आकाशबाणी कहते हैं ।

किसी देशभाषा के आर्ष प्रयोग में बिना समझे, बिना किसी विद्वान् से पूछे, हँस देना मूर्खता की पहिचान है । यदि कोई अँगरेज कहे 'Belly has no eyes' तो हमारे स्कूल के छात्र भी हँस सकते हैं कि कौन नहीं जानता कि पेट में आँखें नहीं होतीं । साहब बहादुर ने कौन बड़ी विलक्षण बात कही । यह तो एक बच्चा भी जानता है । पर हाँ जब उसे समझा दिया जायेगा कि उक्त बात का यह अर्थ है कि गरजमंद को कुछ नहीं सूझता तब किसी को ठट्टा मारने का ठौर नहीं रहेगा । इसी भाँति हमारे यहाँ की प्रत्येक बात का अभ्यांतरिक अर्थ जाने बिना किसी को अपनी सम्मति देने का अधिकार नहीं है ।

कुछ समझ में आया ? अब न हमारे पूर्वजों के कथन पर कहना कि 'बेउकूफ थे, कहीं ऐसा भी हो सकता है' नहीं तो हम भी कहेंगे कि '…है । जानै न बूझै कठौता लैकै जूझै ।' हि हि हि हि !

खं० 3, सं० 2 (15 अप्रैल, ह० सं० 1)

प्रेम एव परो धर्मः

धर्म शब्द का अर्थ है, जो धारण किया जाय व जो धारण करे और प्रेम शब्द का एक अर्थ है संमेलन। इस रीति से एक बच्चा भी समझ सकता है कि धर्म उसी का नाम है जिसमें दो वा अधिक पदार्थ ऐसे मिल जायँ कि जिनका पृथक होना प्रायः असंभव हो। उदाहरण के लिये हम जैसे कहें कि शर्करा का धर्म है मिठाई और गरमी। इससे यह समझा जायगा कि एक दरदरा 2, उजला 2, बालू के समान जो पदार्थ है उसमें गरमी और मिठाई यह दोनों गुण ऐसे हैं कि यह कहना असंभव है कि मिठाई कहाँ है, कितनी है, और गरमी कहाँ है और कितनी है। अर्थात् हर दाने में, भीतर जहाँ देखो वहाँ मिठाई भी विद्यमान है और गरमी भी। इसी मिठाई और गरमी के संमेलन को, व कहो प्रेम को, अथवा कभी किसी प्रकार से अलग होने के असंभव को, कहा जाता है कि उसका धर्म है।

अब हम कह सकते हैं कि प्रेम ही का एक देशी नाम धर्म भी रख लिया है। परंतु परम धर्म इससे अधिक है। वह कभी, कहीं किसी भाँति, अपने धरमी से अलग नहीं हो सकता। शक्कर का परम धर्म मिठाई और गरमी नहीं है। क्योंकि जब शक्कर ऊख में छिपी थी उस समय ऊख के पत्ते में मिठाई का नाम न था। और जब गुड़ के रूप में थी तभी यदि पानी में घोल, किसी बरतन में रख दी जाती तो, वर्ष भर एक ही दशा में रक्खी रहती तो, सिरका हो जाती जिसमें मिठाई का लेश न रहता है।

अग्नि का परम धर्म जला देना कहा जा सकता है। लोग संदेह कर सकते हैं कि उसमें भी तो पानी डाल देने से दाहक शक्ति का लोप हो जाता है। पर नहीं, तब तो आग स्वयं नहीं रहती, कोयला रह जाता है। जब तक आग है, जहाँ तक आग है, वह जलाने से नहीं रुक सकती। इससे क्या पाया गया कि परम धर्म वही है जो कभी जा न सके। अब जब हम अपने हृदय से पूँछते हैं कि हमारा परम धर्म क्या है, तब चाहे करोड़ों शंका क्यों न रोकैं, पर सबको लात मार के हृदस्थ कोई देवता यही कहेगा कि प्रेम ! प्रेम !! प्रेम !!! इसके दो चार युक्ति और प्रमाण भी सुन रखिये जिसमें निश्चय हो जाय कि हमारा परम धर्म प्रेम ही, स्वाभाविक धर्म प्रेम ही है। और वास्तविक (मजहबे हक्कानी व मजहबे कुदरती यानी नेचरल रिलिजन) प्रेम ही है, क्योंकि हमारा सृजनहार परमेश्वर स्वयं प्रेम स्वरूप है। क्योंकि सब भाषा के सब धर्मग्रंथ उसे सर्वशक्तिमान कहते हैं। इस शब्द का अर्थ ही यह है, जिसमें सब प्रकार की सब सामर्थ्य हो वही ईश्वर है। "कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ ईश्वरः"। अथवा हम कह सकते हैं, जिसमें एक भी शब्द का ह्रास होगा वह ईश्वर ही नहीं। तो इस नाम से सिद्ध है कि हमारी उत्पत्ति का मूल कारण ही प्रेम अर्थात् यावत सामर्थ्य का ऐक्य है।

साक्षात् कारण को देखिये कि माता पिता का प्रेम न होता तो किसी की सूरत भी देखने में न आती। यों चाहे भले ही स्त्री पुरुष में जूता उछलौअल बनी रहे, पर गर्भ स्थापन के समय अवश्य ही प्रेम की आवश्यकता है। शरीर की बाहरी बनावट देखिये तो पंचतत्व के ऐक्य बिना नहीं। क्या एक छोटे से छोटा लोम भी कोई दिखा सकता है जहाँ पाँच में से एक का भी अभाव हो ? और लीजिये, जहाँ एक का भी ह्रास होगा वहाँ शरीर ही किसी काम का नहीं रहेगा। भीतरी बनावट देखिये, वहाँ भी मन बुद्धि आदि तत्व कहाँ है कहाँ नहीं यह सिद्ध करना महा कठिन होगा। अब समझने की बात है, जो हमारा कारण वह प्रेममय, हम स्वयं प्रेमोत्पन्न, फिर प्रेम के बिना हमारा धर्म क्या हो सकता है ?

यहाँ हमें यह भी कहना अवश्य होगा कि पूजा पाठ, स्नान दानादि को हम यह नहीं कह सकते कि धर्म नहीं है। पर हाँ, यह स्वयं धर्म नहीं, बरंच धर्म वृक्ष के एक छोटे से छोटे पत्र हैं। इनको यदि हम छोड़ भी दें तो कोई बड़ी हानि नहीं। कभी 2 किसी 2 स्थान पर हमें छोड़ना पड़ता है। यदि हम महा निर्बल जराग्रस्त हों तो हमें माघ स्नान श्रेयस्कर न होगा। पर अपने घर में धर्म को हम कभी, कहीं, कुछ काल के लिये, छोड़ेंगे तो दुःख पावेंगे। क्योंकि अपने Nature के विरुद्ध चलते हैं।

हमारा जाति स्वभाव तो बहुतों का एक हो जाना ही ठहरा। फिर उसके प्रतिकूल होके हमें सुख कैसा ? हमारा निर्वाह कहाँ ? आग से यदि दाहक शक्ति निकाल डाली जाय तो वह कोयला है। शरीर से कोई तत्व पृथक् हो तो वह मृतक है। इसी भाँति हममें प्रेम का किंचिन्मात्र भी आदर्श न हो तो हम पापी, दुःखभाजन और अशांत हो जायँगे।

हमारा आदि कारण ईश्वर और हमारे साक्षात् कारण माता पिता अथच उनका कार्य्य हमारा शरीर। उसकी भीतरी बाहरी बनावट सब प्रेम अर्थात् ऐक्य है। यह निश्चय हो गया तो भी जिनको वेद शास्त्रादि के प्रमाणों ही से शांति होती है, उनके लिये "ब्राह्मणोऽस्यमुखंमासीदित्यादि" रिचा के अभिप्राय को समझ लेना भी हमारे कथन की ओर से पूर्ण संतोष देगा।

साफ लिखा है कि जीवधारी मात्र चार वर्ण में विभक्त हैं। वे एक ही परमेश्वर, जिसे हम अपनी बोली में प्रेमदेव कहते हैं, व विराट रूप अथवा रूपक रीति से धर्म पुरुष ही के मुख हाथ इत्यादि हैं। बुद्धिमान लोग विचार सकते हैं कि हमारे हाथ पाँव इत्यादि हमसे पृथक् नहीं हैं, अर्थात् इन सबकी एकत्र स्थिति ही शरीर का शरीरत्व है। इसी प्रकार चारों बरण की एकचित्तता ही ऐहिक और अगोचर विषयक सुख का मूल है।

जिस्को प्रेम कहते हैं। बहुतेरे संदेह कर सकते हैं कि धर्म साधन की परावस्था, जिसमें सांसारिक संबंध छोड़ के एकांतवास करके केवल भगवताराधन ही से काम रहता, वहाँ किसी से प्रेम संबंध क्यों कर रहेगा ? इसके उत्तर में हम कहेंगे कि हमारी आत्मा का और परमात्मा का एकत्व अर्थात् आत्मिक सुख का जनक हमारा प्यारा प्रेम तो कहीं जाता ही नहीं, और जहाँ परमात्मा से संबंध होगा वहाँ तत्संबंधी जगत् का संबंध स्वयं सिद्ध है। इसी का प्रमाण हमारे रिषियों के उपदेश में अद्यापि विद्यमान है कि यद्यपि उन्होंने संसार के विषय छोड़ दिये थे तौ भी हम संसारी जीवों के परम कल्याणजनक व्याख्यान निर्माण करते ही रहे हैं। सतुपदेश करना भी तो भगवद्भजन ही का अंग है। फिर एकांतवासी लोग भी परम धर्म से क्यों कर न्यारे होंगे ? हाँ यह कहा जा सकता है कि बाहरी बातों के प्रेम का निर्वाह नहीं कर सकते, सो वही बाहरी सुख भोजन वस्त्र इत्यादि से वंचित भी रहते हैं।

जितने अंश में, जितना प्रेम का अभाव होगा उतने अंश में उतना सुख न भूतोभविष्यति। क्योंकि यह एक लड़का भी जानता है कि पाप से दुःख और धर्म से सुख होता है। और धर्म प्रेम ही का नाम है। अतः प्रेम ही सुख का जनक है। सोई उपर्युक्त रिचा का अभिप्राय है कि जब तक विद्वान धर्मवेत्ता तथा बली योद्धा एवं व्यवहार कुशल और निरभिमानी सेवातत्पर सब भाँति के लोग एक ही शरीर के अंग प्रत्यंग की भाँति बरताव न करैंगे तब तक संसार परमार्थ कुछ भी सिद्ध नहीं होने का। बहुतेरे पांडित्याभिमानी शूद्रों से ऐसी घृणा रखते हैं कि उनका नाम भी मुँह बिदोरे बिना नहीं लेते। हम यह नहीं चाहते कि उनके साथ बेटी रोटी का व्यवहार किया जाय। यह तो बिचारे मधुर भाषा में समझा देने पर वे स्वयं न करेंगे। पर हाँ उनको अपना प्यारा आर्य्य भाई, अनंत कामों में सहायक अथच पूर्ण कृपापात्र

न समझना। एक पाप है बरंच ऐसी भारी मूर्खता है जैसे कोई अपने पाँवं को निकम्मा समझ के काट डालने का उद्योग करे।

प्रेम अर्थात् ऐक्य ही परम धर्म है। इस विषय के अनेकानेक मंत्र वेद में मिलेंगे जैसा "प्रियानांत्वाप्रिय पतिग्वंहवामहे" "शन्नौ मित्रः" "अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्यमिषतो वशी" इत्यादि मंत्रों में प्रिय और मित्र और बशी (वश करने वाला) इत्यादि ईश्वर के नाम ही प्रेम सिद्धांत वाले हैं। "संगच्छध्वं संबदध्वं" इत्यादि में उत्तम बरताव करना, प्रिय भाषा बोलने आदि की खुलासा आज्ञा है, जो प्रेम ही का प्रवर्त्तन करती है।

सबसे बढ़ के गायत्री, जो वेदों में सर्वोपरि मंत्र है और वर्णों में सर्वोपरि जाति ब्राह्मणों का तो धर्म भूषण है। हमारे बैसवारे में जहाँ ब्राह्मणों की अधिकता है वहाँ देखिए तो यद्यपि अविद्या के प्रभाव से धर्म और अर्थ से सर्वथा बंचित हो रहे हैं, तथापि इतना तो कुपढ़ बालक ही नहीं बरंच पशुप्राय स्त्रियाँ भी जानती हैं कि "गात्री" (गायत्री) तौ बाम्हन का हथियारु आय", "अरे राम ! राम ! गात्री जपे नहीं जानत ! कैस बाम्हन आय !" वह गायत्री, वह वेद माता, वह हमारे ब्राह्मण की सर्वोच्च ध्वजा भी प्रेम ही उपदेश करती है।

यों आर्य परिपाटी के अनुसार उसका जप ऐसी गुप्त रीति से किया जायगा कि परम प्यारा बंधु भी जप करते हुए न सुने पर उसमें जो प्रार्थना की जाती है, "धियो योनः प्रचोदयात्" अर्थात् जो हमारी बुद्धियों को उत्तेजित करे, इसमें समझना चाहिए कि ऐसी गुप्त रीति से एकांत में प्रार्थना की जाती है तो केवल अपने लिए होनी चाहिए थी। अर्थात् "धियोयोमेप्रचोदयात्" मेरी बुद्धि को जो बढ़ावे। पर नहीं, गायत्री के उपदेष्टा, ईश्वर या रिषी जो मानो, की यही मनशा है कि अकेले भी, यदि ईश्वरीय भी, कोई काम करो तो केवल अपने लिए नहीं बरंच अपनों के लिये। यह क्या है ? उसी हमारे मूल प्रेम का दृढ़ीकरण। बस जब गायत्री स्वयं ऐक्य का उपदेश करती है तो इससे बढ़कर वैदिक प्रमाण क्या चाहिए ? पाठक अब भी "प्रेम एवं परो धर्मः" में कोई संदेह है ?

हमारे माननीय मनु भगवान ने आज्ञा की है, "धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः। धीविद्या सत्यक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥" यह दशों लक्षण सिवा पूर्ण धार्मिक अर्थात् प्रेमी के किस में हो सकते हैं ? सब सुख दुःखों को केवल प्यारे की इच्छा समझने वालों के अतिरिक्त धैर्य का दावा कौन कर सकता है ? क्षमा करना किसका काम है ? उसी का न जो समझ ले कि भला इनसे हम क्या बदला लें। यह तो ईश्वर के नाते अपने ही ठहरे दम भी उसी से होगा जो अपने ऊपर कुछ बीते पर ईश्वर की मंगलमयी सृष्टि में हलचल न पड़ने देने का हठी होगा। चोरी का त्याग भी वही करेगा जो निश्चय कर ले कि इस वस्तु से इनको सुख होता है, हमें पहिले हो चुका।

शुद्धता भी वही ग्रहण करेगा जिसको ईश्वर और अपने ऐहिक मित्रों से लिपट के मिलने की प्रगाढ़ इच्छा होगी। इंद्रियाँ भी उसी की चलायमान न होंगी जो अपने अलौकिक आनंद के आगे बाह्य सुखों को तुच्छ गिनेगा। बुद्धि प्रेमियों की सी किसमें होगी जो परम तत्व परमात्मा तक को अपना कर सकते हैं। यद्यपि कच्चे लोगों की दृष्टि में वे मूर्ख जचें और वे भी अपने प्रियतमजन्य संबंध के आगे बुद्धि की पर्वा न करें, पर बुद्धि का जो असली तत्व है अपना और पराया हिताहित ठीक 2 समझ के, न और को ठगने की चेष्टा करना, न स्वयं ठगाना, सो उनमें प्रत्यक्ष ही है कि वे क्षणिक हानि लाभ से विकल न होके अपने ठीक सुखद मार्ग पर चले जाते हैं। विद्या का कहना ही क्या है।

श्री कबीर जी ने अनुभव करके कही दिया है 'ढाई अक्षर प्रेम के पढ़ै सो पंडित होय' । एक बार एक सहृदय ने पूछा कि 'भाई तुम्हारे मत की कौन किताब है ?' इस पर हमारे एक अभिन्न ने कहा 'हमारा मत तो कोई है नहीं, पर किताब की जो पूँछो तो पृथ्वी और खगोल यह दो पन्ने पहिले अच्छी तरह पढ़ लीजिए, फिर कोई बड़ी पोथी बतला देंगे ।' यह सुन के पुच्छक भाई बड़ी देर तक स्तब्ध रह के, बड़ी गंभीरता से बोले कि 'हाँ, बेशक तुम्हारी विद्या के ग्रंथ सर्वोत्तम हैं जिनको कोई दूसरा क्या पढ़ेगा, कितना पढ़ेगा और कहाँ तक पढ़ेगा ।' वाचक महोदय, इस बात को खूब गौर से दूर तक सोच लीजिए, प्रेमियों की विद्या का हाल खुल जायगा ।

सत्य का क्या पूँछना है । प्रेम मदिरा मत्त महाशयों के मुँह से जो निकलेगा वास्तव में सत्य ही होगा । कोई न समझे तो उसका दोष है । रहा अक्रोध, सो जिसकी दृष्टि में कोई क्रोध का पात्र ही नहीं है वह स्वयं क्रोध से दूर ही होगा । अब 'ब्राह्मण' के रसिक विचार देखें कि जिन मनु को बेद भी 'तद्भेषजं भेषजत या' कहता है उनका धर्म विषयक निश्चय ही 'प्रेमएवपरोधर्मः' पर है या नहीं । इसके सिवा और भी श्रुति स्मृति के सहस्रावधि वाक्य हैं जो गुप्त वा प्रकट रूप से इसी बात को पुष्ट करते हैं । पर हम विस्तार भय से न लिखकर केवल अनुमति देते हैं कि देखिए, समझिए और हमसे चाहे और किसी से पूछिये तो आँखें खुलें ।

खं० 3, सं० 3-4 और 6 (15 मई, जून, सन् 1885 ई० और 15 अगस्त, ह० सं० 1)

मुनीनां च मतिभ्रमः

हमारे मित्रवर श्री राधाचरण गोस्वामी की योग्यता सहृदयता और विद्वता किसी से छिपी नहीं है । यह हम बिना कोई आपत्ति स्वीकार कर लेंगे कि गोस्वामी लोगों का ठौर व आजकल उन्हीं अथवा उनके से शायद दो ही चार पुरुष रत्नों पर निर्भर है । पर जब हम देखते हैं कि हमारा एक ऐसा सुयोग्य सहकारी कभी 2 हँसी में आकर बाज जगह ऐसी बातें लिख बैठता है जो आक्षेपनीय एवं हास्यास्पद होती हैं, तो हम क्या करें ? इधर मित्रता तो कहती है, बोलो मत "बिगड़ने से बनता है उनका बनाव" । इधर विचार कहता है, नहीं "रोक दो गर गलत चले कोई" । अंत में हमें यही कहना पड़ता है "मुनीनां च मति भ्रमः" ।

आदमी भूलता ही है, पर क्या कीजिये जो जानबूझकर भूलता हो । उसको तो समझाये बिना जी नहीं मानता । हमारा बिचार कभी किसी से झगड़ा लेने का नहीं रहता । पर सच्ची बात में क्यों न कहैं कि "सबका ज्ञान दें आप···" हि हि हि क्यों कहैं । श्रीगोविंदनारायण जी कृत शिक्षा सोपान की समालोचना में श्री मुख की आज्ञा है कि "ग्रंथकर्त्ता शैव मालूम होते हैं । अर्धचंद्र पर बड़ा जोर दिया है ।"

भला पठन पाठन की पुस्तकों में अर्धचंद्र क्या न रहना चाहिए ? फिर गोस्वामीजी को कौन कर्णपिशाची सिद्ध है जो ग्रंथकार की मत बदल गई ? आप वैष्णव हैं तो क्या अर्धचंद्र उड़ा देंगे ? ऐसा हँसोड़पन किस काम का । और सुनो, पुस्तकों की समालोचना में कुछ न कुछ दोष अवश्य ढूँढ़ लेने की आपको लत है, पर अपनी बातों में आगे पीछे की सुध नहीं रखते । अगस्त के भारतेन्दु में आपने एक पुस्तिका दी है । उसका नाम प्रेम बगीची रक्खा है । क्या नाम रखने को कोई संस्कृत शब्द न जुड़ता था ? प्रेमबाटिका बुरा था जो एक अरबी का शब्द सो भी महा 2 अशुद्ध रखते हैं ?

गोस्वामीजी को भलीभाँति ज्ञात होगा कि वह शब्द बाग है जिसको बागीचा कह सकते हैं । बागीचा भी अशुद्ध है । पर खैर शहर के अनपढ़ लोग बोलते हैं । परंतु बगीचा और बगैचा तो सिवाय अक्षर शत्रुओं के कोई बोलता ही नहीं । तिसमें भी बगीची ! ह ह ह ! खतरानियों की बोली । एक मात्रा अर्धचंद्र लिखने वालों को तो आपने शैव समझ लिया पर इस अशुद्ध और जनाने शब्द को पोथी के नाम में लाते समय यह ध्यान न रहा कि हमें लोग क्या समझेंगे ।

यदि किसी गीत में यह शब्द आ जाता तो हम समझ लेते कि मैत्री के निबाहने क्या करें । पर नाम में एक उस भाषा का शब्द जिसके हम और वह दोनों शत्रु हैं, लाना, सो भी अशुद्ध ! भला यह लीला देख के और आपरूप की योग्यता सोच के कौन न कहेगा मुनीनां च मतिभ्रमः । हम आशा करते हैं कि हमारे मित्र आगे से ऐसी 2 बातों पर ध्यान रक्खा करें; नहीं तो यह कोई कह न सकेगा कि गोसाईंजी समझते नहीं, पर हाँ, हँसी के पीछे बनी बिगड़ी का विचार नहीं रहता, यह कहते हम भी नहीं रुक सकते । विज्ञेषुकिमधिकं ।

खं० 3, सं० 7 (15 सितंबर, ह० सं० 1)

गंगाजी

इन तीन अक्षरों से हमारे भारत को कितना संबंध है, यह सोचने बैठते हैं तो हमारा मन हिमालय से भी लंबा-चौड़ा और विचारशक्ति तो गंगा नहीं बरंच महा सागर को लज्जित करने वाली हो जाती है । आहा ! गंगा और भारत के संबंध को पूर्ण रूप से लिखना कोई हँसी खेल है ? ऐसा भी कोई हिंदू है जो दिन भर में इस नाम को, मन वा वचन से, न्यूनातिन्यून एक बार न लेता हो ? ऐसा भी कोई काम है जिसमें गंगाजी का कुछ न कुछ प्रत्यच्छ वा प्रच्छन्न लगाव न हो ? ऐसा भी किसी विषय का कोई ग्रंथ है जिसमें किसी न किसी रीति से यह अक्षर न आए हों ? नहीं, नहीं, कदापि नहीं ! भारत की तो गंगा प्राण हैं, शोभा हैं, बरंच सर्वस्व हैं ! परमोत्तम पुरुषों के शिरोमुकुट हमारे मुनीश्वरों को ब्रह्म प्राप्ति की बड़ी सुविधा गंगा से "गंगातरंग-कणशीकरशीतलानि विद्याधराभ्युषितचारुशिलातलानि'''।"

कहाँ तक कहिए ब्रह्मद्रव, देव नदी इत्यादि नामों ही से टपकता है कि रिषियों को जगत् से

अनिच्छा होने पर भी गंगा से ममत्व था। इधर हमारे कलियुग की मूरत, पराई बहू बेटियों पर, लोक परलोक निछावर करने वालों को भी गंगाजी में कितना सुभीता लगता है कि बस 'जानि जाय जो जाननिहारा'। अब कहिये, गंगाजी सभी की अभीष्टदायिनी नहीं हैं कि सैकड़ों मन खाद्य वस्तु गंगा जल से सींची जाती है, सहस्रों ब्राह्मण गंगा तट पर सुख से जीवनयात्रा करते हैं, लाखों जीव-जंतु गंगा में पलते हैं। फिर क्यों न गंगा माता कही जायँ। इधर वेदों में 'इमं मे गंगे' इत्यादि मंत्र हैं। पुराणों में एतद्विषयक बहुत सी कथाएँ हैं तो आल्हा में भी "गंगा किरिया राज दुहाई हम ना धरब पछाड़ू पाँव" मौजूद है।

भक्तों के लिये नहाने और ठाकुर नहलाने को गंगा, व्यापारियों के लिये नावें आने जाने को गंगा, सहृदयों के लिये सायंकाल हवा खाने को गंगा, अनेक प्रकार के रोगियों के लिये जल और बालुका द्वारा व्याधि हटाने को गंगा, बेईमानों के लिये बात 2 पर उठाने को गंगा, नगर भर का अघोर बहाने को गंगा, मृतकों की अन्त्येष्टि बनाने को गंगा, नए मत वालों के मुँह बिचकाने को गंगा, राह में मिशनरियों के बाज सुनाने को गंगा, और हाय ! निर्दई हत्यारों को मछली फँसाने के लिये जाल फैलाने को गंगा !

प्यारे पाठकगण ! दूर तक समझ लीजिये, कहाँ 2, कैसे 2, किसको 2 गंगा से प्रयोजन है। यद्यपि हमारे यहाँ बहुत सी नदियाँ हैं पर ऐसा सर्वव्यापी संबंध किसी का नहीं। जमुना जी भगवान कृष्णचंद्र के नाते पूजनीय मानी जाती हैं, पर हमारी गंगा की छोटी ही बहिन कहलाती हैं। ऐसा कोई संप्रदाय नहीं जिसमें गंगा न मानी जाती हों। ग्रंथ के ग्रंथ गंगाजी की महिमा से भरे पड़े हैं और अब भी बनते ही चले जाते हैं। हमारे बड़े 2 तीर्थ और बड़े 2 नगर बहुत ही थोड़े हैं जो गंगा पर न हों। जहाँ से गंगाजी दूर हैं वहाँ कोई कुंड व कोई छोटी नदी का नाम गंगा संबंधी अवश्य होगा।

हमारे बैसवाड़े में एक कहतूत है कि 'का गंगै हाड़ ले जैहो ?' इसमें मालूम होता है कि कभी किसी स्थान के हिंदू, जिनसे गंगा बहुत दूर हैं, वे अपने प्रिय मृतकों की हड्डियाँ गंगा में पहुँचाना बड़ा उत्तम समझते होंगे। सभी नदियों के तटस्थ ब्राह्मण घाटिया इत्यादि कहाते हैं पर गंगा के नाते लाखों ब्राह्मण गंगापुत्र के नाम से पुकारे जाते हैं, और कैसे ही क्यों न हों, पुजाते हैं। क्यों न कहिये कि गंगा हमारी एक महत्तम प्रेमाधार हैं।

धन्य गंगे ! सर्वदेवमयी गंगा जिन्होंने कहा है, निहायत ठीक कहा है, क्योंकि 'श्रीहरिपद-नख-चंद्रकांत-मनि-द्रवित सुधारस। ब्रह्म-कमंडल-मंडन, भव-खंडन, सुर-सरबस। शिवसिर मालती-माल, भगीरथ नृपति-पुन्य-फल। ऐरावत-गज गिरिपति हिम-नग कंठहार कल॥' इत्यादि वाक्य स्मरण होते ही तबियत को ताजगी होती है। फिर तुम्हें अमृतमयी क्यों न मानें ?

बहुत का विश्वास है, बहुत पोथियों में लिखा है कि गंगास्नातक मरणानन्तर शिवत्व अथवा विष्णुत्व को प्राप्त होता है। श्रीमान कविवर अबदुल रहीम खाँ (खानेखाना) जो अकबर के समय में संस्कृत के और भाषा के बड़े अच्छे वेत्ता थे, उनका एक श्लोक बहुत प्रसिद्ध है कि 'अच्युतचरणतरंगिणि ! शशिशेषरमौलिमालतीमाले। मम तनुवितरणसमये हरता देया न मे हरिता।' अर्थात् बिष्णु बनाओगी तो मुझे कृतघ्नता का दोष होगा, क्योंकि तुम उनके चरण से निकली कहाती हो। अतएव शिव बनाना, जिसमें तुम्हें शिर पर धारण करूँ। अन्य मत वाले देख लें कि अच्छे मुसलमान भी हमारी गंगा को क्या कहते हैं। फिर उन हिंदुओं को हम क्या कहें जो गंगा की प्रीति नहीं करते।

हमारी समझ में मरने पर क्या होता है यह नहीं आता, पर जीते जी ब्रह्मा विष्णु महेश बना देती

है। यह तो हम प्रत्यच्छ दिखा देंगे। किनारे नहाने को खड़े हो तो पाँव के नीचे गंगा बहती हैं, यह विष्णु भगवान का चिन्ह है। डुबकी लगाने के समय शिर के ऊपर से धारा बहती है, यह शिवजी का अंग है।

बाहर निकलते ही मुख में वेद का कोई मंत्र व वेदवेद्य परमेश्वर का कोई नाम होता है, जो ब्रह्मा का हृदय है। क्यों, तीनों हो गये। हमारे मित्र मुंशी कालीचरण साहब सेवक कवि की एक सवैया इसी मतलब में है। यथा–"सेवक तीर पै ठाढ़ो भयो पद द्वै बहि विष्णुता गंग दई है। न्हात समय सिरते कढी ता छन शंकर लौं शुभ शोभा भई है॥ बाहर आय पढ़े श्रुति मंत्र तबै विधि को पद साँचो हई है। आय त्रिगामिनि तीर त्रितापिहु होत सदेह त्रिदेव मयी है॥1॥ बरंच हमारे रसिकों को इंद्र पदवी अधिक प्राप्त होती है क्योंकि हजार आँखें मिलती हैं। (इसका अर्थ समझना मुश्किल नहीं है)। अहाहा! 'नजर आता है हरसू गर परीयो हूरो गिलमाँ का। मिलै है राहे गंगा में हमें रुतबा सुलेमाँ का।'

खं० 3, सं० 9-10 (15 नवंबर-दिसंबर, ह० सं० 1)

नागरी महिमा का एक चोज

हमारे यहाँ की बोली का एक यह भी ढंग है कि बहुत शब्दों के साथ आदि में अ, स, और कभी 2 फ मिला देते हैं, 'जिससे एक निरर्थक शब्द बन जाता है, पर अच्छा लगता है। रोटी ओटी, आदमी सादमी इत्यादि। इस रीति से कई भाषाओं के निरर्थक शब्द उन भाषाओं की कलई खोल देते हैं, पर हमारी नागरी देवी की महिमा ही गाते हैं। देखो न, अँगरेजी संगरेजी। 'संगरेजा' कहते हैं पत्थर का महीन टुकड़ा या कंकड़। उसका भी लघु रूप 'संगरेजी' समझ लो। न मानो तो माधुर्य का गुण ढूँढ़ो, उसमें कहीं है ? टिट्टे क्यटव्यट का खर्च है।

फारसी आरसी (आलसी), सैकड़ों पोथी छान डालो, उद्योग की शिक्षा बहुत कम, जोफ नातवानी के मजमून लाखो !

अरबी सरबी, (मानी नदारद), उरदू सुरदू, (मानी नदारद), पर 'षिणी' जोड़ लो तो सुरदूषिणी हो जाय।

लेकिन संस्कृत अंस्कृत–जिसमें ईश्वर की महिमा या ऋषियों की उदार बुद्धि का अंश हर तरह मौजूद।

नागरी आगरी–आगर सद्व्यक्तियों का गुण अथवा सागरी। राम झूठ न बुलावै तो इस दीन दशा में भी सब गुण का छोटा सागर ही है। क्यों, कैसी कही ?

खं० 3, सं० 11 (जनवरी, ह० सं० 2)

दुनिया अपने मतलब की है

यद्यपि संसार में सदा बहुत ही थोड़े ऐसे भी पुरुष रत्न होते हैं, जो निज की लाभ हानि का बिचार न करके, ईश्वर तथा स्वदेश ही के लिए सर्वस्व निछावर कर देते हैं। पर निश्चय ऐसे अलौकिक लोग संसारी नहीं हैं, नहीं तो यह जगत केवल स्वार्थ पर है, और कुछ नहीं। जिनको आप समझते हैं कि धर्मात्मा हैं, उनके हृदय को टटोलिए तो अधिकतः यही पाइएगा कि मुक्ति का लालच, वा नर्क का डर, वा संसारिक कीर्ति की चाह इत्यादि के मारे, अपनी समझ भर, तत्प्राप्ति का यत्न मात्र कर रहे हैं, धर्म वर्म कुछ भी नहीं है। एक प्रकार का भय तथा लोभ वह भी है। यदि यह निश्चय न हो कि संसार परमार्थ उसी की दया से बनते हैं तो कदाचित कोई परमेश्वर का नाम भी न ले। फिर संसार की स्वार्थपरता में क्या संदेह है ?

माता पिता की प्रीति बड़ी प्रसिद्ध है। पर आपको क्या नहीं मालूम कि वे समझते हैं, हमें बुढ़ापे में खाना पीना इसी से मिलेगा। हमारी सेवा यही करेगा। हमारा नाम यही चलावैगा। जमराज को रिशवत इशवत देके नर्क जातना से यही बचावैगा। अब कहिये, यह प्रीति है वा स्वार्थपरता ? हम आपसे क्यों प्रीति करते हैं ? आपकी विद्या बुद्धि, बचन लालित्य वा सौंदर्य से हमारा चित्त प्रसन्न होता है अथवा आपके धन बल इत्यादि से हमें सहायता मिलती है। हमें आप क्यों चाहते हैं ? क्योंकि हम आपकी हाँ में हाँ मिलाया करते हैं। जरा आपकी भौंह चढ़ती है तो चीते की तरह मनाया करते हैं।

जरा 2 सी बात पर आपको चंद्रमा सूर्य इंद्र बरुण करण व हातिम बनाया करते हैं। धिक ! यह भी प्रेम है ? बहुतेरे परस्पर कोई उपकार नहीं चाहते तो ठेलुहापन में दिन ही काटने को मित्र बन जाते हैं। प्रजा को दूरदर्शी राजा इसलिए राजी रखते हैं, इनको हँसाय खेलाय के दुहते रहेंगे। प्रजा राजा को इस हेतु प्रसन्न रखती है कि हमें पालन करेगा। जहाँ तक आँख फैला के देखिए, छोटे बड़े, दरिद्र, धनी, मूर्ख, विद्वान्, सबका यही सिद्धांत है कि जैसे बने 'स्वकार्य साधयेद्विद्वान् कार्यभ्रंशों हि मूर्खता।' उदाहरण देने लगें तो लाख करोड़ की नौबत पहुँचे।

हम अपने पाठकों को केवल समझाये रखते हैं कि जितने प्रकार के लोगों की, जितने काम करते देखें, कभी यह धोखा न खायें कि इसमें कर्ता को निज स्वार्थ से संबंध नहीं है। यदि आप निरे सच्चे, निरे सीधे, निरे न्यायी, निरे सज्जन हैं तो रिषियों की भाँति बनवास स्वीकार कीजिए। यदि आप हमारी तरह अधकचरे हैं कि प्रेम सिद्धांत भी नहीं छोड़ना चाहते, काइयाँपन भी नहीं सीखना चाहते और निर्वाह भी चाहते हैं, तो जन्म को रोइए। आशा छोड़िये कि कभी आपके शेखचिल्ली जैसे मनोर्थ पूरे होंगे।

पर हाँ, यदि आप गुरूघंटाल, बिरगिट के छँटे, सब गुनभरी बैतरा सोंठ हो, धर्म कर्म, स्वर्ग मुक्ति, देवता पितर इत्यादि को धोखे का टट्टी बना के, पराया धन, पराया बल, पराया यश मट्टी में मिला के येन केन प्रकारेण अपनी टही जमा सकते हों। उस्तादी यह है कि भेद न खुलने पावै। तभी आप सुखपूर्वक जीवन यात्रा कर सकते हैं। क्योंकि दुनियाँ अपने मतलब की है। आप अपना मतलब गाँठने में जितने पक्के होंगे उतना ही दुनियाँ के मजे आपको मिल सकते हैं।

खं० 4 सं० 1 (15 अगस्त, ह० सं० 3)

द

हमारी और फारस वालों की वर्णमाला भर में इससे अधिक अप्रिय, कर्णकटु और अस्निग्ध अक्षर, हम तो जानते हैं, और न होगा। हमारे नीति विदांबर अंग्रेज बहादुरों ने अपनी वर्णमाला में बहुत अच्छा किया जो नहीं रक्खा ! नहीं उस देश के लोग भी देना सीख जाते तो हमारी तरह निष्कंचन हो बैठते। वहाँ के चतुर लोगों ने बड़ी दूरदर्शिता करके इस अक्षर के ठौर पर 'डकार' अर्थात् 'डी' रक्खी है, जिसका अर्थ ही डकार जाना, अर्थात् यावत् संसार की लक्ष्मी, जैसे बनै वैसे, हजम कर लेना !

जिस भारत लक्ष्मी को मुसलमान सात सौ वर्ष में अनेक उत्पात करके भी न ले सके उसे उन्होंने सौ वर्ष में धीरे-धीरे ऐसे मजे के साथ उड़ा लिया कि हँसते-खेलते विलायत जा पहुँची ! इधर हमारे यहाँ दकार का प्रचार देखिए तो नाम के लिये देओ, यश के लिये देओ, देवताओं के निमित्त देओ, पितरों के निमित्त देओ, राजा के हेतु देओ, कन्या के हेतु देओ, मजे के वास्ते देओ, अदालत के खातिर देओ, कहाँ तक कहिए, हमारे बनबासी ऋषियों ने दया और दान को धर्म का अंग ही लिख मारा है। सब बातों में देव, और उस्के बदले में लेव क्या ?

झूठी नामवरी, कोरी वाह वाह, मरणांतर स्वर्ग, पुरोहित जी का आशीर्वाद, रुजगार करने की आज्ञा वा खिताब, क्षणिक सुख इत्यादि। भला देश क्यों न दरिद्री हो जाय ? जहाँ देना तो सात समुद्र पार वालों तथा सात स्वर्ग वालों तक को तन, मन, धन, और लेना मनमोदक मात्र ! बलिहारी इस दकार के अक्षर की ! जितने शब्द इसमें पाइएगा, सभी या तो प्रत्यक्ष ही विषवत, या परंपरा द्वारा कुछ न कुछ नाश कर देने वाले ! दुष्ट, दुःख, दुर्दशा, दास्य, दौर्बल्य, दंड, दंभ, दर्प, द्वेष, दानव, दर्द, दाग, दगा, देव (फारसी में राक्षस), दोजख, दम का आरज, दरिंदा (हिंसक जीव), दुश्मन, दार (शूली), दिक्कत इत्यादि सैकड़ों शब्द आपको ऐसे मिलेंगे जिनका स्मरण करते ही रोंगटे खड़े होते हैं ! क्यों नहीं, हिंदी, फारसी दोनों में इस अक्षर का आंकार हँसिया का सा होता है, और बालक भी जानता है कि उससे सिवा काटने चीरने के और काम नहीं निकलता। सर्वदा बंधन रहित होने पर भी भगवान् का नाम दामोदर क्यों पड़ा, कि आप भी रस्सी से बँधे और समस्त वृजभक्तों को दइया 2 करनी पड़ी ?

स्वर्ग बिहारी देवताओं को सब सामर्थ्य होने पर भी पुराणों के अनुसार सदा दनुज कुल से क्यों भागना पड़ा ? आज भी नए मत वालों के मारे अस्तित्व तक में संदेह है ! ईसाइयों की नित्य गाली खाते हैं। इसका क्या कारण है ? पंचपांडव समान वीर शिरोमणि तथा भगवान् कृष्णचंद्र सरीखे रक्षक होते हुए द्रुपदतनया को केशाकर्षण एवं वनवास आदि का दुःख सहना पड़ा। इसका क्या हेतु ? देशहितैषिता ऐसे उत्तम गुण का भारतवासी मात्र नाम तक नहीं लेते ? यदि थोड़े से लोग उसके चाहने वाले हैं भी तो निर्बल, निर्धन, बदनाम ! यह क्यों ? दंपति अर्थात् स्त्री-पुरुष, वेद, शास्त्र, पुराण, बायबिल, कुरान सबमें लिखा है कि एक हैं, परस्पर सुखकारक हैं। पर हम रिषिवंशीय कान्यकुब्जों में एक दूसरे के बैरी होते हैं ! ऐसा क्यों है ?

दूध,दही, कैसे उत्तम, स्वादिष्ट बलकारक पदार्थ हैं कि अमृत कहने योग्य, पर वर्तमान राजा उस्की जड़ ही काटे डालते हैं, हम प्रजागण कुछ उपाय ही नहीं करते, इसका क्या हेतु है ? इन सब बातों का यही कारण है कि इन सब नामों के आदि में यह दुरूह 'दकार' है ! हमारे श्रेष्ठ सहयोगी 'हिंदी-प्रदीप'

सिद्ध कर चुके हैं कि 'लकार' बड़ी ललित और रसीली होती है । हमारी समझ में उसी का साथ पाने से दीनदयाल, दिलासा, दिलदार, दालभात इत्यादि दस-पाँच शब्द कुछ पसंदी हो गए हैं, नहीं तो देवताओं में दुर्गा जी, रिषियों में दुर्बासा, राजाओं में दुर्योधन महान होने पर भी कैसे भयानक हैं । यह दद्दा ही का प्रभाव है ।

कनवजियों के हक में दमाद और दहेज, खरीदारों के हक में दुकानदार और दलाल, चिड़ियों के हक में दाम (जाल) दाना आदिक कैसे दुखदायी हैं ! दमड़ी कैसी तुच्छ संज्ञा है ! दाद कैसा बुरा रोग है, दरिद्र कैसी कुदशा है, दारू कैसी कड़वाहट, बदबू, बदनामी, और बदफैली की जननी है, दोगला कैसी खराब गाली है, दंगा बखेड़ा कैसी बुरी आदत है, दंश (मच्छड़ या डास) कैसे हैरान करने वाले जंतु हैं, दमामा कैसा कान फोड़ने वाला बाजा है, देशी लोग कैसे घृणित हो रहे हैं, दलीप सिंह कैसे दीवानापन में फँस रहे हैं । कहाँ तक गिनावें, दुनिया भर की दंतकटाकट 'दकार' में भरी है । इससे हम अपने प्रिय पाठकों का दिमाग चाटना नहीं पसंद करते, और इस दुस्सह अक्षर की दास्तान को दूर करते हैं ।

ख० 4, सं० 2 (15 सितंबर, ह० सं० 3)

उरदू बीबी की पूँजी

यदि आप किसी साधारण वेश्या के घर पर कभी गए होंगे या किसी जाने वाले से बातचीत की होगी तो आपको भलीभाँति ज्ञात होगा कि यद्यपि कभी 2 विद्वान, धनवान और प्रतिष्ठावान लोग भी उसके यहाँ जा रहते हैं, और जो जाता है वह कुछ दे ही के आता है । एवं उन्हें बाहर से देखिए तो तेल, फुलेल, हार, पान, हुक्का, पीकदान, सच्चा वा झूठा गहना एवं देखने में सुंदर कपड़े से सुसज्जित हैं । कमरा भी दो एक चित्र तथा गद्दी तकिया आदि से सजा हुआ है । उनकी बोली बानी हाव भाव भी एक प्रकार की चित्तोल्लासिनी सभ्यता से भरी है । दस पाँच गीत गजल भी जानती हैं । पर उनकी असली पूँजी देखिए दो चार रंगीन गोटे पट्टे के कपड़े तथा दो ही चार सच्चे झूठे गहने अथच एक वा दो पलंग और पीतल, टीन, मट्टी आदि की गुड़गुड़ी उड़गुड़ी समेत दस पाँच बरतन के सिवा और कुछ नहीं है । रुपया शायद सब असबाब मिलाके सौ के घर घाट निकलें, चाहे न भी निकलें ।

गुण उनमें केवल हाव मटका के कुछ गाना मात्र, विद्या अशुद्ध फशुद्ध दस ही बारह हिंदी उरदू के गीत मात्र एवं मिष्टभाषण केवल इतना जिस्से आप कुछ दे आवें । बस, इसके सिवा अल्लामियाँ का नाम ही है । उनके प्रेमी, या यों कहिए, अपनी बुरी आदत के गुलाम उनको चाहे जैसा लक्ष्मी, सरस्वती, रम्भा, तिलोत्तमा, लैली, शीरीं समझते हों, पर वास्तव में उनके पास पूरी जमा जथा उतनी ही मात्र होगी जितनी हम कह चुके । बरंच उससे भी न्यून ही होगी ।

कभी 2 वे कह देती हैं कि हम फकीर हैं या हम आपके भिच्छुक हैं । यह बात उनकी शिष्टता

से नहीं बरंच सच ही है, क्योंकि सबसे लेती हैं तौ भी कुछ जुड़ नहीं सकता। यदि पंद्रह बीस दिन कोई न जाय तो उन्हें वह नगर छोड़ देना पड़े जहाँ वे कई वर्ष रही हैं। प्रिय पाठक ! ठीक वही हाल उर्दू जान का भी है। यद्यपि कुछ 2 संस्कृत, अंग्रेजी, अरबी की भी सहाय है, और उसके चाहने वाले उसे सारे जगत की भाषाओं से उत्तम माने बैठे हैं, पर उस्की वास्तविक पूँजी यदि विचार के देखिए तो आशिक अर्थात किसी को चाहने वाला, माशूक अर्थात कोई रूपवान् व्यक्ति जिसे आशिक चाहता हो, बाग अर्थात बाटिका, गुल अर्थात फूल, बुलबुल अर्थात एक अच्छी बोली बोलने वाला और फूलों में प्रसन्न रहने वाला पक्षी, बागवान अर्थात माली, सैयाद अर्थात चिड़ीमार, चाँदनी रात औ मेघाच्छन्न दिन, खिलेवत अर्थात एकांत स्थान, जिलवत या मजलिस कई एक सुंदर व्यक्तियों का समाज, शराब अर्थात मदिरा, कबाब अर्थात मांस, साकी अर्थात मद्य पिलाने वाला, मुतरिब अर्थात गवैया, रकीब दुश्मन, गैर अर्थात जिसे तुम चाहते हो उस्का दूसरा चाहने वाला, नासिह अर्थात मद्य और वेश्यादि के संसर्ग से रोकने वाला, वायज अर्थात उपदेशक, परनिंदा, खुशामद, उलहना, आसमान अर्थात भाग्यवश, इतनी ही बातें हैं जिन्हें उलट फेर के वर्णन किया करो आप बड़े अच्छे उरदूदाँ हो जायँगे !

माशूक के रूप, मुख, नेत्र, केशादि की प्रशंसा, अपनी सर्वज्ञता का घमंड, उसे गुल और शमअ अर्थात मोमबत्ती एवं अपने को बुलबुल और पर्वाना अर्थात पतंग से उपमा दे दिया करो, रकीब इत्यादि पर जल 2 के गाली दिया करो, बस उरदू का सर्वस्व आपको मिल जायगा। चाहे गद्य हो चाहे पद्य हो, चाहे कविता हो, चाहे नाटक हो, चाहे अखबार हो, चाहे उपदेश हो, सब में यही बातें भरी हैं। यदि और कोई विद्या का विषय लिखना हो तो संस्कृत, बँगला, नागरी, अरबी, फारसी, अँगरेजी की शरण लीजिए।

इन बीबी के यहाँ अधिक गुंजायश नहीं है। और लिखना तो दर किनार मुख्य 2 शब्द ही लिखके किसी मौलवी से पढ़ा लीजिए, अरे म्याँ मजा ही न आवेगा ! हमारे एक मित्र का यह वाक्य कितना सच्चा है कि और सब विद्या है यह अविद्या है। जन्म भर पढ़ा कीजिए, तेली के बैल की तरह एक ही जगह घूमते रहोगे। सत्य विद्या के बतलाइए तौ कै ग्रंथ हैं ? हाय न जाने देश का दुर्भाग्य कब मिटेगा कि राजा-प्रजा दोनों इस मुलम्मे को फेंक के सच्चे सोने को पहिचानेंगे। जानते सब हैं कि पूँजी इतनी मात्र है, पर प्रजा का अभाग्य, राजा की रीझ बूझ ! और क्या कहा जाय।

खं० 4, सं० 2 (15 सितंबर, ह० सं० 3)

भौं

निश्चय है कि इस शब्द का रूप देखते ही हमारे प्यारे पाठकगण निरर्थक शब्द समझेंगे, अथवा कुछ और ध्यान देंगे तो यह समझेंगे कि कार्तिक का मास है, चारों ओर कुत्ते तथा जुवारी भौं भौं भौंकते फिरते हैं, संपादकी की सनक में शीघ्रता के मारे कोई और विषय न सूझा तो यही 'भौं' अर्थात भूँकने के शब्द

को लिख मारा ! पर बात ऐसी नहीं है । हम अपने बाचकवृंद को इस एक अक्षर में कुछ और दिखाया चाहते हैं । महाशय ! दर्पण हाथ में लेके देखिए, आँखों की पलकों के ऊपर श्याम बरण विशिष्ट कुछ लोम हैं ?

बरुनी न समझिएगा, माथे के तले और पलकों के ऊपर वाले रोम समूह ! जिनको अपनी हिंदी में हम भौं, भौहें कहते हैं, संस्कृत के पंडित भ्रू बोलते हैं ! फारस वाले अबरू और अंग्रेज लोग 'आईब्रो' कहते हैं, उन्हीं का वर्णन हमें करना है । यह न कहिएगा कि थोड़े से रोएँ हैं, उनका वर्णन ही क्या ! नहीं ! यह थोड़े से रोएँ सुवर्ण के तारों से अधिक हैं । हम गृहस्थ हैं, परमेश्वर न करे, किसी बड़े बूढ़े की मृत्यु पर शिर के, दाढ़ी के और सर्वोपरि मूँछों तक के भी बाल बनवा डालेंगे, प्रयाग जी जायँगे तौ भी सर्वथा मुंडन होगा, किसी नाटक के अभिनय में स्त्री भेष धारण करेंगे तौ भी घुटा डालेंगे, संसार विरक्त होके संन्यास लेंगे तौ भी भद्र कराना पड़ेगा, पर चाहै परलौ हो जाय, चाहे लाख तीर्थ घूम आवें, चाहे दुनिया भर के काम बिगड़ जायँ, चाहे जीवनमुक्त ही का पद क्यों न मिल जाय, पर यह हमसे कभी न होगा कि एक छूरा भौंहों पर फिरवा लें !

सौ हानि, सहस्र शोक, लक्ष अप्रतिष्ठा हो तौ भी हम अपना मुँह सबको दिखा सकते हैं, पर यदि किसी कारण से भौहें सफाचट हो गईं तो परदेनशीनी ही स्वीकार करनी पड़ेगी ! यह क्यों ? यह यों कि शरीर भरे की शोभा मुखमंडल है और उसकी शोभा यह हैं ! उस परम कारीगर ने इन्हें भी किस चतुरता से बनाया है कि बस, कुछ न पूछो ! देखते ही बनता है ! कबिवर भर्तृहरि जी ने 'भ्रूचातुर्य, कुंचिताक्षा, कटाक्षा, स्निग्धा, वाचो लज्जिता चैव हासः, लीला मंदं प्रस्थितं च स्त्रीणामेतद्भूषणं चायुधंच ।' लिखकर क्या ही सच्ची बात दिखलाई है कि बस, अनुभव ही से काम रखती है ! कहे कोई तो क्या कहे, निस्संदेह स्त्रियों के लिये भूषण है, क्योंकि उनकी परम शोभा है और रसिकों को वशीभूत करने के हेतु सुंदरियों का शस्त्र है । यह बात सहृदयता से सोचो तो चित्त में अगणित भाव उत्पन्न होंगे, देखो तौ भी अनेक स्वादु मिलेंगे । पर जो कोई पूछे कि वह क्या है तो भ्रू चातुर्य्य अर्थात भौहों में भरी हुई चतुरता से अधिक कुछ नाम नहीं ले सकते । यदि कोई उस भ्रू चातुर्य का लक्षण पूछे तो बस चुप ।

हाय 2 कवियों ने तो भौंह की सूरत मात्र देख के कही दिया है, पर रसिकों के जी से कोई पूछे ! प्रेमपात्र की भौंह का तनक हिल जाना मन के ऊपर सचमुच तलवार ही का काम कर जाता है । फिर भृकुटी-कृपाण क्यों न कहें । सीधी चितवन बान ही सी करेजे में चुभ जाती है ! पर इसी भ्रू चाप का सहाय से श्री जयदेव स्वामी का यह पवित्र वचन–"शशि मुखि ! तव भाँति भंगुर भ्रू, युवजन मोह कराल काल सर्पी"–उनकी आँखों से देखना चाहिए, जिनके प्रेमाधार कोप के समय भौंह सकोड़ लेते हैं ! आहा हा ! कई दिन दर्शन न मिलने से जिसका मन उत्कंठित हो रहा हो उसे बुह हृदयाभिराम की प्रेमभरी चितवन के साथ भावभरी भृकुटी ईद के चाँद से अनंत ही गुणा सुखदायिनी होती है । कहाँ तक कहिए, भृकुटी का वर्णन एक जीभ से तो होना ही असंभव है ! एक फारसी का कवि यह वाक्य कहके कितनी रसज्ञता का अधिकारी है कि रसिकगण को गूँगे का गुड़ हो रहा है–'भृकुटी रूपी छंद पंक्ति के सहस्रों सूक्ष्म अर्थ हैं, पर उन अर्थों को बिना बाल की खाल निकालने वालों अर्थात महातीव्र बुद्धि वालों के कोई समझ नहीं सकता'[1] ।

---

1. हजाराँ मानिए बारीक बाशद बैत अब्रूरा । बगैरऽज मूशिगाफाँ कस न फहमद मानिए ऊरा !

जब यह हाल है कि महा तीव्र बुद्धि केवल समझ सकते हैं तो कहने की सामर्थ्य तो है किसे ? संस्कृत, भाषा, फारसी, उर्दू में काव्य का ऐसा कोई ग्रंथ ही नहीं है जिसमें इन लोमराशि का वर्णन न हो। अतः हम यह अध्याय अधिक न बढ़ा के इतना और निवेदन करेंगे कि हमारे देशभाई विदेशियों को वैभवोन्माद रूपी वायु से संचलित भ्रकुटी लता ही को चारों फलदायिनी समझ के न निहारा करें, कुछ अपना हिताहित आप भी बिचारें। यद्यपि हमारा धन, बल, भाषा इत्यादि सभी निर्जीव से हो रहे हैं तो भी यदि हम पराई भौंहें ताकने की लत छोड़ दें, आपस में बात 2 पर भौंहें चढ़ाना छोड़ दें, दृढ़ता से कटिबद्ध हो के बीरता से भौंहें तान के देशहित में सन्नद्ध हो जायँ, अपनी देश की बनी वस्तुओं का, अपने धर्म का, अपनी भाषा का, अपने पूर्व पुरुषों के रुजगार और व्यवहार का आदर करें तो परमेश्वर अवश्य हमारे उद्योग का फल दे। उसके सहज भृकुटी विलास में अनंत कोटि ब्रह्मांड की गति बदल जाती है, भारत की दुर्गति बदल जाना कौन बड़ी बात है।

खं० 4, सं० 2 (15 अक्टूबर, ह० सं० 3)

दिवाली में उपासना

हे परमानंदमय ! प्रेमस्वरूप ! 'प्राणप्रिय' तुम्हारे प्रेम की झलक मात्र से हमारे हृदय मंदिर की चिर संचित पाप मलिनता एक साथ दूर होती है। हम चाहे कोटि यत्न करें तौ भी न हो सके, पर तुम्हारी सहज अनुग्रह से हमारा आत्मभवन स्वच्छ हो जाता है, प्रकाशपूर्ण हो जाता है और नवीन शोभायुक्त हो जाता है।

हे परम सुंदर ! तुम्हारे सान्निध्य से तदीय समाज को नित्य त्यौहार, सदा दिवाली ही रहती है। हमारी सांसारिक चिंता की तो खील 2 हो जाती है। तुम्हारे आगे सारा जगत लड़कों का घिरौंदा सा दिखाई देता है। तुम्हारे भक्ति पथ में बाधा करने को संसार चाहे कोटि रूप धरे पर तुम्हारे ज्ञानी को खिलौना ही सा जान पड़ेगा।

अहा ! तुम्हारे गुणानुबाद में वुह मिठाई है जिसके स्वादु की अपेक्षा अमृत भी तुच्छ है। लक्ष्मीपते ![1] तुम्हारे सच्चे पूजक क्या कभी सार्वभौमिक राजश्री पर भी ललचाय सकते हैं ? नाथ ! जिन्होंने तुम्हारी अलौकिक लीला देखी है, तुम्हारे अकथनीय खेल देखे हैं, वे केवल तुम्हारे साथ हार जाने को अपना सर्बस्व दाँव पर लगा देंगे। उन्हें तो केवल तुम्हीं लुभा सकते हो।

आहा ! जगत में चोर, जुवारी, और इससे बुरा कहलाकर भी तुम्हारे साथ तन मन धन सब हार बैठने में वुह आनंद है जिसके आगे त्रैलोक्य की जीत भी तुच्छ जँचती है ! प्रभो ! तुम्हारी सभी बातें अतर्क्य हैं। यद्यपि तुम सर्वोपरि, सर्वश्रेष्ठ हो पर हमारा विश्वास यह है कि तुम प्रेमियों के साथ प्रेमद्यूत में हार के, अपनी प्रभुता छोड़ के उनसे स्नेह करते हो। अतः हे विचिन्त्य, हम तुम्हारे शरणापन्न होते हैं ! शांतिः शांतिः शांतिः।

खं० 4 सं० 3 (15 अक्टूबर, ह० सं० 3)

1. शुभ लक्षणमयी शक्ति का स्वामी।

जवानी की सैर

मनुष्य का शरीर पाँच तत्व से बना है—'छिति जल पावक गगन समीरा, पंच रचित यह अधम शरीरा' और तीन अवस्था हैं—बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था । इस क्रम से दो अवस्थाओं में दो 2 तत्व और तीसरी में केवल एक तत्व का आधिक्य रहता है । लड़कपन में पृथ्वी और जल तत्व का प्राबल्य होता है । इसी से बहुत छोटे बालक धूल में खेलना, मट्टी खाना, खिलौनों से प्रसन्न होना अथच पानी छपछपाना, बरसते में भींगना, तनक 2 सी बात पर रो देना आदि बहुत चाहते हैं और बुढ़ापे में केवल आकाश तत्व रह जाने से, बल से, बुद्धि से, पौरुष से, अर्थात् सभी रीति से शून्य हो जाना पड़ता है।

पर जवानी वुह अवस्था है कि जो कुछ करना है, जो कुछ होना है सब इसी में कर सकते हैं। क्योंकि अग्नि तत्व जाज्वल्यमान रहता है और वायु तत्व प्रचंड । शरीर क्या है मानों रेल का अंजन है । जिधर झुका, पूरी सामर्थ दिखला दी । पूरा जोर हर बात का अभी है । इसी से लोग लड़कों से कहा करते हैं, अभी तुम क्या जानते हो, क्या समझते हो, क्या कर सकते हो ? अभी तो 'नेक अहो मस भींजन देहु, दिना दस के अलबेले लला हौ' । और बुड्ढों से कहने में आता है कि अब चार दिन के लिए व्यर्थ हाय 2 करते हो ।

पानी भरी खाल का क्या भरोसा है । आज मरे कल दूसरा दिन । खाव और पड़े 2 राम 2 किया करो । अर्थात् बूढ़ों और बालकों को दुनिया से कुछ संबंध नहीं । जगत के जितने सुख दुःख, भोग विलास, ऊँच नीच व्यवहार हैं, सब जवानों के लिए हैं । इन्हें कोई नहीं कह सकता कि तुम अभी क्या हो, वा तुम्हें इस जगत के भ्रमजाल से क्या ? यदि महा धन्यजन्मा हुए और सब तज, हरि भजन में लग गए अथवा निरे तुच्छजीवी हो के, किसी काम ही के न हुए तौ तो और बात है (इन दोनों प्रकार के लोग़ बिरले ही होते हैं) नहीं तो इस अवस्था वालों का क्या कहना है !

दुनिया में जितने मजे हैं, जितने रस हैं, जितने स्वादु हैं, सब इन्हीं की तो हैं । मिलना न मिलना परमेश्वर के हाथ है । पर बुद्धि सदा यही कहा करती है 'सैर कर दुनिया की गाफिल, जिंदगानी फिर कहाँ । जिंदगानी भी हुई तो यह जवानी फिर कहाँ ।' मन देवता बिराट रूप धारण करे रहते हैं । मिले चाहे न पर हौसिला यही रहता है कि कुबेर का खजाना, इंद्रलोक की अप्सरायें, स्वर्ग भरे के लोग, सब अपनी ही मूठी में कर लें । परमेश्वर सहृदयता दे तो मजों की कमती नहीं है ।

यदि आप सतोगुणी हैं तो भगवान के भजन, सज्जनों के समागम में, सद्ग्रंथों के श्रवण मनन में कैसा आनंद पावेंगे ! यदि रजोगुणी हैं तो अच्छे से अच्छा कपड़ा, स्वादिष्ट से स्वादिष्ट भोजन, उमदा से उमदा घर सजाने का असबाब, एक से एक सुंदर व्यक्ति, रस भरी कविता, राग भरे गान, बागों की सीतल मंद सुगंध पवन, मादक वस्तुओं की तरंग इत्यादि में कैसा कुछ प्रमोद प्राप्त करेंगे । यदि तमोगुणी हैं तो बराबर वालों को हर बात में नीचा दिखा के, हर एक को खरी सुना के, इधर की उधर लगा के और दूसरों में जूता चलवा के, क्या एक तरह के मस्त नहीं हो जाते ? जो देश हितैषी हैं तो बड़ी 2 सभाओं में बड़े 2 व्याख्यान दे के, बड़े 2 पत्रों में बड़े 2 लेख छपवा के, बड़े 2 चंदे एकत्र करके, गोशाला पाठशाला नाट्यशाला चिकित्सालय देवालय इत्यादि स्थापन करके, अपने चित्त में स्वर्ग सुखानुभव कर सकते हैं ।

यदि निरे स्वार्थी हुए तो बडे 2 राजपुरुषों की चुटकी बजा के, बड़े 2 खिताब पा के, इनआम पा के, वा गरीबों की नली काट के, अमीरों की आँखों में धूल झोंक के, दुनिया थूँका करे पर येन केन प्रकारेण अपनी टही जमा के, 'पुलक प्रफुल्लित पूरित गाता' हो सकते हैं। कहाँ तक कहिए, धरती पर जितने जंगल, पहाड़, नदी, समुद्र और शरीर में जितनी उमंगे तरंगे हैं, सभी के संसर्ग में एक प्रकार का मज्जा है और वह मज्जा पूर्ण रूप से केवल जवानों को मिल सकता है।

यद्यपि किसी बात का व्यसन पड़ जाना बुरा होता है, विशेषतः काम क्रीड़ा, अपव्यय, मादक सेवनादि का व्यसन जीते ही जी एक दिन नर्क भुगवाता है, पर तौ भी इस उमर में जितने भला या बुरा, कुछ न किया उसने भी कुछ न किया। एक दिन मरना अवश्य है, और लोगों ने कहा है कि जिंदगी चार दिन की है। इसका अर्थ हमारी समझ में यह है कि एक लड़कांई के दिन, दूसरे युवा के दिन, तीसरे बुढ़ापे के दिन, चौथा मरने का दिन, इनमें पहिले और तीसरे दिन तो कुछ हई नहीं, दूसरे ही दिन में जो कुछ हो सकता है। उसी में कुछ निंदा व स्तुति के काम कर चलना चाहिए। 'चाल वह चल कि पसे मर्ग तुझे याद करें। काम वह कर कि जमाने में तेरा नाम रहे।'

धन्य है उन पुरुष रत्नों को, जो देशहित और निज जाति हित में कुछ नाम कर जाते हैं। धिक्कार है उन नराधमों को, जो स्वार्थ के लिये पराया अनिष्ट उठाते डूब नहीं मरते। महा महा धिक्कार है उन्हें जो केवल भय, निंदा, मैथुन और आहार ही में पशुओं की भाँति, युवावस्था गवाँकर, अपने तुच्छ जीवन को समाप्त कर देते हैं। नर जन्म पा के, जवानी के बाग में आ के, जिसने कुछ भी सैर न देखी वह हियोकपार का अंधा नहीं तो क्या है ?

खं० 4, सं० 6 (15 जनवरी, ह० सं० 3)

भारत पर भगवान की अधिक ममता है

यद्यपि उनका नाम जगदीश्वर है, वे अकेले एक देश वा एक जाति के ही ईश्वर नहीं हैं। सकल सृष्टि पर उनकी कृपा दृष्टि आवश्यक है। एक बार वे सभी को पूर्णोन्नति न दें तो पक्षपाती कहावें। इतिहासवेत्ताओं को यह बात प्रत्यक्ष है कि एक दिन भूमंडल भरे में आर्यों की जयध्वजा उड़ती थी। एक समय यवनों की फतेह का नक्कारा बजा। आज अँगरेजों की तूती बोलती है। संसार की यही रीति है कि एक की आज उन्नति है, कल अवनति, परसों और की बढ़ती है। इसी से यह सिद्धांत हो गया है कि ईश्वर सभी की सुध लेता है। पर हमारे प्रेमशास्त्र और प्रत्यक्ष प्रमाण के अनुकूल इसमें भी कोई संदेह नहीं कि कोई कैसा ही क्यों न हो, यदि हम उससे सच्ची प्रीति करेंगे तो वुह भी हमारा हो जायगा।

इस न्याय से बिचार देखिए तो हमारे देश को जितना परमात्मा के साथ संबंध सदा से है, औरों का कभी न रहा है, न है, न होने की आशा है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो

ब्रजाधिपः', 'सब तज हरि भज' इत्यादि वाक्यों का तत्व समझना तो दूर रहा, ऐसे महामान्य वचन ही अन्य देशीय धर्मग्रंथ में कठिनता से मिलेंगे । इसी भरोसे पर हम यह दावा कर सकते हैं कि हम ईश्वर से अधिक मेल रखते हैं, और इसी से ईश्वर भी हमसे अधिक ममत्व रखता है । इसका प्रमाण भी हमें लेने नहीं जाना, हम सिद्ध कर देंगे कि जितने काल, जितनी श्रेणी तक सर्वभाव से आर्य देश की उन्नति रह चुकी है, वैसी अभी तक किसी ने सुनी भी न होगी ।

आजकल अवनति है सही, पर ऐसी अवनति भी नहीं है जैसी इतरों की किसी समय थी और परमेश्वर ने चाहा, एवं धीरे 2 ऐसे ही उद्योग होते रहे जैसे गत बीस पचीस वर्ष से देखने सुनने में आते हैं तो आशा होती है कि इन दिनों की सी दुर्दशा भी हजार वर्ष तक न रहेगी ! सबसे अधिक राम की दया का चिह्न यह है कि इन गिरे दिनों में, जबकि हमारे गुण भी प्रायः दुर्गुण से होते रहे हैं, अब भी सहनशीलता, सरलता, धर्मदृढ़ता, स्वच्छता, यशप्रियता, सूक्ष्म विचार आदि कई एक बातें जो विचारशीलों ने माननीय मानी हैं, उनमें हम अनेक देशों से चढ़े बढ़े हैं । अभाव हमारे यहाँ आज भी किसी बात का नहीं है । जो बात अच्छी तरह समझा दी जाती है उसके मानने वाले मिली रहते हैं ।

हाँ, अपनी ओर से लाभकारक बात सर्वसाधारण को सूझती नहीं है । पर सुझाने के साथ ही उस विषय में हम औरों से बढ़ नहीं जाते तो बराबर तौ भी हो जाते हैं । क्या यह लक्षण भले नहीं हैं ? इसे जाने दो, यहाँ की जलवायु और पृथ्वी भी ऐसी है कि सब हालत में गुजारा चल सकता है । हाँ, संसारचक्र के "पतनांत समुच्छयः" के नियमानुसार यह बात अवश्य होनी है कि रहंट का ऊपर वाला खटोला जब तक नीचे न हो जाय तब तक ऊपर फिर नहीं चढ़ता ।

इस न्याय से कुछ दिन अधःपतन योग्य था । पर प्यारा लड़का कोई अपराध करै तौ भी दयालु पिता अधिक काल उसे कष्ट में न देख सकेगा । वुह दिन अब बहुत दूर नहीं है कि हमारी दुरवस्था पूर्ण रीति से दूर हो जाय । विश्वास के साथ देशहित में लगे रहना हमारा काम है । सब बातें जाती सी रही हैं, तौ भी यदि हम अपनी निजता को न जाने दें तो हमारे दिन फिरने में शंका नहीं है । क्योंकि संसार का नियामक जो है उसके साथ हमारा अधिक अपनपौ है । यदि ईश्वर कोई जाग्रत एवं चैतन्य गुण वाले का नाम है तो हमारे पूर्वज रिषियों का नाता सर्वथा भुला दे, यह संभव नहीं । और यह संभव है कि हमारे साढ़े तीन हाथ के पुतले में उनका कुछ भी अंश न हो । हाँ, हम अपने ही को भूल जायँ तो और बात है । नहीं तो यह बात अधिक प्रमाणीभूत है कि हमारी उन्नति औरों की उन्नति से अधिक थी और अधिक काल तक रही है ।

हमारी अवनति औरों की अवनति से न्यून है और उतने दिन रहना विचार से दूर है जितने दिन औरों को रही है । क्योंकि इस बात में संदेह नहीं है कि ईश्वर से हमको और हमसे ईश्वर को औरों से अधिक अपनायत है । यदि यह बात युक्ति और प्रमाणों से न भी सिद्ध हो सके (यह केवल अनुमान कर लो) तौ भी यदि हम आस्तिक हैं तो हमें विश्वास कर्तव्य है कि 'मोपर करहिं सनेह बिसेखी प्रीति परीच्छा देखी ।'

खं० 4 सं० 7 (15 फरवरी, ह० सं० 4)

खड़ी बोली का पद्य

इस नाम की बाबू अयोध्याप्रसाद जी खत्री मुजफ्फरपुरवासी कृत पुस्तक के दो भाग हमें हमारे सुहृद्बर श्रीधर पाठक द्वारा प्राप्त हुए हैं। लेखक महाशय की मनोगति तो सराहना योग्य है पर साथ ही असंभव भी है। सिवाय फारसी छंद और दो तीन चाल की लावनियों के और कोई छंद उसमें बनाना भी ऐसा है जैसे किसी कोमलांगी सुंदरी को कोट बूट पहिनाना। हम आधुनिक कवियों के शिरोमणि भारतेन्दु जी से बढ़के हिंदी भाषा का आग्रही दूसरा न होगा। जब उन्हीं से यह न हो सका तो दूसरों का यत्न निष्फल है। बाँस को चूसने से यदि रस का सवाद मिल सके तो ईख बनाने का परमेश्वर को क्या काम था।

हाँ उरदू शब्द अधिक न भर के उरदू के ढंग का सा मजा हम पा सकते हैं और उरदू कविताभिमानियों से हम साहंकार कह सकते हैं कि हमारे यहाँ का काव्य भी कुछ कम नहीं है। यद्यपि कबिता के लिए उरदू बुरी नहीं है, कबित्व रसिकों को वह भी बारललना के हावभाव का मजा दे जाती है, पर कबि होते हैं निरंकुश, उनकी बोली भी स्वच्छंद रहने से अपना पूरा बल दिखा सकती है। जो लालित्य, जो माधुर्य, जो लावन्य कवियों की उस स्वतंत्र भाषा में है जो बृजभाषा, बुंदेलखंडी, बैसवारी और अपने ढंग पर लाई गई संस्कृत व फारसी से बन गई है, जिसे चंद्र से ले के हरिश्चंद्र तक प्रायः सब कवियों ने आदर दिया है, उसका सा अमृतमय चित्तचालक रस खड़ी और बैठी बोलियों में ला सके यह किसी कवि के बाप की मजाल नहीं। छोटे मोटे कवि हम भी हैं और नागरी का कुछ दावा भी रखते हैं, पर जो बात हो ही नहीं सकती उसे क्या करें। बहुतेरे यह कहते हैं कि बृजभाषा की कविता हर एक समझ नहीं सकता। पर उन्हें यह समझना चाहिए कि आपकी खड़ी बोली ही कौन समझे लेता है। यदि सबको समझाना मात्र प्रयोजन है तो सीधी 2 गद्य लिखिए। कविता के कर्त्ता और रसिक होना हर एक का काम नहीं है।

उन बिचारों की चलती गाड़ी में पत्थर अटकाना, जो कबिता जानते हैं, कभी अच्छा न कहेंगे। बृजभाषा भी नागरी देवी की सगी बहिन है, उसका निज स्वत्व दूसरी बहिन को सौंपना सहृदयता के गले पर छुरी फेरना है। हमारा गौरव जितना इसमें है कि गद्य की भाषा और रक्खें, पद्य की और, उतना एक को बिलकुल त्याग देने में कदापि नहीं। कोई किसी की इच्छा को रोक नहीं सकता। इस न्याय से जो कविता नहीं जानते वे अपनी बोली चाहे खड़ी रक्खें चाहे कुदावें, पर कवि लोग अपनी प्यार की हुई बोली पर हुकुम चलाके उसकी स्वतंत्र मनोहरता को नाश नहीं करने के। जो कबिता के समझने की शक्ति नहीं रखते वे सीखने का उद्योग करें। कबियों को क्या पड़ी है कि किसी के समझाने को अपनी बोली बिगाड़ें।

खं० 4, सं० 7 और 8 (15 फरवरी और मार्च, ह० सं० 4)

परीक्षा

यह तीन अक्षर का शब्द ऐसा भयानक है कि त्रैलोक्य की बुरी बला इसी में भरी है। परमेश्वर न करे कि इसका सामना किसी को पड़े ! महात्मा मसीह ने अपने निज शिष्यों को एक प्रार्थना सिखाई थी जिसको आज भी सब क्रिस्तान पढ़ते हैं। उसमें एक यह भी भाव है कि 'हमें परीक्षा में न डाल बरंच बुराई से बचा'। परमेश्वर करे सबकी मुंदी भलमंसी चली जाय, नहीं तो उत्तम से उत्तम सोना भी जब परीक्षार्थ अग्नि पर रक्खा जाता है तो पहिले काँप उठता है, फिर उसके यावत् परमाणु सब छितर बितर हो जाते हैं। यदि कहीं कुछ खोट हुई तौ तो जल ही जाता है, घट जाता है। जब जड़ पदार्थों की यह दशा है तब चैतन्यों का क्या कहना है !

हमारे पाठकों में कदाचित कोई ऐसा न होगा जिसने बाल्यावस्था में कहीं पढ़ा न हो। महाशय उन दिनों का स्मरण कीजिए जब इम्तहान के थोड़े दिन रह जाते थे। क्या सोते जागते, उठते बैठते हर घड़ी एक चिंता चित्त पर न चढ़ी रहती थी ? पहिले से अधिक परिश्रम करते थे तौ भी दिन रात देवी देवता मनाते बीतता था। देखिए, क्या हो, परमेश्वर कुशल करे ! सच है यह अवसर ही ऐसा है। परीक्षा में ठीक उतरना हर किसी के भाग में नहीं है ! जिन्हें हम आज बड़ा पंडित, बड़ा धनी, बड़ा बली, महा देश हितैषी, महा सत्यसंध, महा निष्कपट मित्र समझे बैठे हैं, यदि उनको ठीक 2 परीक्षा करने लगे तो कदाचित फी सैकड़ा दो ही चार ऐसे निकलें जो सचमुच जैसे बनते हैं वैसे ही बने रहें।

वेश्याओं के यहाँ यदि दो चार मास आपकी बैठक रही हो तो देखा होगा, कैसे 2 प्रतिष्ठित, कैसे 2 सभ्य, कैसे 2 धर्मध्वजी, वहाँ जाकर क्या 2 लीला करते हैं ! यदि महाजनों से कभी काम पड़ा हो तो आपको निश्चय होगा कि प्रगट में जो धर्म, जो ईमानदारी, जो भलमंसी देख पड़ती है वह गुप्तरूपेण कै जनों में कहाँ तक है ! जिन्हें यह विश्वास हो कि ईश्वर हमारे कामों की परीक्षा करता है, अथवा संसार में हमें परीक्षार्थ भेजा है, उनके अंतःकरण की गति पर हमें दया आती है !

हमने तो निश्चय कर लिया है कि परीक्षा वरीक्षा का क्या काम है, हम जो कुछ हैं, उस सर्वज्ञ सर्वांतरयामी से छिपा नहीं है ! हम पापात्मा, पापसंभव, भला उस्के आगे परीक्षा में कै पल ठहरेंगे ! संसार में संसारी जीव निस्संदेह एक दूसरे की परीक्षा न करें तो काम न चले पर उस काम के चलने में कठिनाई यह है कि मनुष्य की बुद्धि अल्प है, अतः प्रत्येक विषय का पूर्ण निश्चय संभव नहीं। न्याय यदि कोई बस्तु है और यह बात यदि निस्संदेह सत्य है कि निर्दोष अकेला ईश्वर है तो हम यह भी कह सकते हैं कि जिसकी परीक्षा सौ बार कर लीजिए, उसकी ओर से संदेह बना रहना कुछ आश्चर्य नहीं है ! फिर इस बात को कौन कहेगा कि परीक्षा उलझन का विषय नहीं है ! कपटी ही लोग बहुधा मिष्टभाषी और शिष्टाचारी होते हैं।

थोड़े ही मूल्य की धातु में अधिक ठनठनाहट होती है। थोड़ी ही योग्यता में अधिक आडंबर होता है, फिर यदि परीक्षक धोखा खा जाय तो क्या अचंभा है ! सब गुणों में पूरा अकेला परमात्मा है। अतः ठीक परीक्षा पर जिसकी कलई न खुल जाय उसी के धन्य भाग्य हमने भी स्वयं अनुभव किया है कि बरसों जिनके साथ बदनाम रहे, बीसियों हानियाँ सहीं, कई बार अपना सिर फुड़वाने को और प्राण देने या कारागार जाने को उद्यत हो गए, उनके दोष अपने ऊपर ले लिए और वे भी सदा हमारी बात 2 पर

अपना चुल्लू भर लोहू सुखाते रहे, सदा कहते रहे, जहाँ तेरा पसीना गिरेगा वहाँ हमारा मृत शरीर पहिले गिर लेगा, पर जब समय आया कि गैरों के सामने हमारी इज्जत न रहे, तो उन्हीं महाशयों ने कटी उँगली पर न मूता !

यदि कोई कहे कि तुम कौन बड़े बुद्धिमान हो जो तुम्हारे तजरिवे (अनुभव) पर हम निश्चय कर लें, तो हम मान लेंगे, पर यह कहने का हमें ठौर बना है कि मुद्दत तक राजा शिवप्रसाद जी को सहस्त्रों ने क्या समझा, और अंत में क्या निकले। सैयद अहमद साहब का पहिले बहुतेरों ने निश्चय किया कि देश मात्र के हितैषी हैं, पीछे से यह खुला कि केवल निज सहधर्मियों के शुभचिंतक हैं। यह भी अच्छा था, पर नेशनल कांग्रेस में यह सिद्ध हो गया कि 'योसिसोसि तव चरण नमामी'। 'हिंदी प्रदीप' से ज्ञात हुआ कि दिहाती भाई भी सैयद बाबा पर मधुर बाणी की शीरीनी चढ़ाते हैं ! हम भी मानते हैं कि कांग्रेस अभी तीन बरस की बच्ची है, उस पर रक्षा का हाथ रखना ही उन्हें योग्य है। क्योंकि यह हिंदू मुसलमान दोनों की हितैषिणी है।

ऐसे 2 बहुत से दृष्टांत, अनुमान है कि, सभी को मिला करते होंगे, जिनसे सिद्ध है कि परीक्षा का नाम बुरा ! राम न करे कि इसकी प्रचंड आँच से किसी की कलई खुले ! एक आर्य्य कबि का अनुभूत वाक्य है—'परत साबित साबुनहिं, देत खीस सी काढ़ि।' एक उरदू कबि का यह वचन कितना हृदय ग्राही है कि—'इस शर्त पर जो लीजे तो हाजिर है दिल अभी। रंजिश न हो, फरेब न हो, इम्तिहाँ न हो।' कहाँ तक कहें, परीक्षा सबको खलती है ! क्या ही अच्छा होता जो सबसे सब बातों में सच्चे होते और जगत में परीक्षा का काम न पड़ा करता। वुह बड़भागी धन्य है जो अपना भरमाला लिए हुए जीवन यात्रा को समाप्त कर दे।

खं० 4 सं० 8 (15 मार्च, ह० सं० 4)

बलि पर विश्वास

इस बात का विश्वास मसीही धर्म का मूल है कि ईसा हमारे पापों के लिए बलि हो गए हैं। अर्थात् हमें पाप जनित दुःख से छुड़ाने के निमित्त अपने प्राण दे दिए हैं। सच्चे ईसाई इस कारण से उनकी कृतज्ञता प्रकाशनार्थ अपना तन, मन, धन, जाति, कुटुम्ब, बरंच प्राण तक निछावर कर देने में ईश्वर को प्रसन्न करना मानते हैं और अपने अज्ञात दशा में किए हुए पापों के फल भोग से निश्चिंत रहते हैं। यदि बिचार के देखो तो प्रत्येक स्थान पर कोई 2 ईश्वर को प्यारे होते हैं जो लोकोपकारार्थ बलि हो जाते हैं, और कृतज्ञ समुदाय को योग्य है कि ऐसे उपकारियों का गुण मान उनके लिए एवं उनके नाम पर जहाँ तक हो कुछ प्रत्युपकार करें तो संसार का महोपकार संभव है।

ख्रीष्टीय धर्म प्रचार के आरंभ में बहुत से लोग महा 2 विपत्ति झेल चुके हैं, यहाँ तक कि जीते

जला दिए गए हैं पर यह कहने से नहीं रुके कि ईसा ने हमारे लिए प्राण दिए हैं, हम उसका उपकार क्यों न मानें। उन्हीं की दृढ़ता का फल है जो पृथ्वी के प्रत्येक भाग में ईसा का मत गौरव के साथ फैल रहा है। बड़े 2 बादशाह, बड़े 2 विद्वान, बपतिसमा लिए बैठे हैं। बरंच हम यह भी कह सकते हैं, उन्हीं के धर्मदाढ्र्य का फल है (प्रत्यक्ष हो या परंपरा द्वारा) कि कई असभ्य देश सभ्य हो गए।

हमारा तात्पर्य इस कई जित समाज जेता हो गए—लेख से वह नहीं है कि हमारे प्रिय पाठक भी सत्य सनातन धर्म छोड़ निज कुल से मुँह मोड़, पादरियों के पछलगुआ बन बैठें। पर अच्छी बातें जिसके यहाँ से मिलें, लेना श्रेयस्कर है। क्या हमारे धर्म में उपकारी की कृतज्ञता वर्जित है ? जबकि कुत्ता भी अपने टुकड़ा देने और चुमकारने वाले के साथ प्रीति निभाता है तौ मनुष्य क्या उससे भी गए बीते हैं कि अपने हितैषियों के अनुग्रहीत न हम हों ? जिनको हम विधर्मी और निन्द्य कहते हैं, उनमें इतनी कृतज्ञता है तो क्या हमको कृतघ्न होना चाहिए ? अन्य संप्रदायी जिन बातों को करते हों इनके ठीक विरुद्ध चलना हमारे यहाँ कहीं नहीं लिखा। फिर हम इतरों की भली बातों को क्यों छोड़ दें ?

यदि विचार के देखिए तो मसीह कोई धनी और विद्वान् न थे कि कोई बड़ा उपकार कर सकते। उपदेश भी केवल अपने शिष्यों ही को देते थे। जिन बिचारों ने ईसा के नाम पर अनेक दुःख सहे उनका कभी ईसा ने नाम भी नहीं लिया। हमारे यहाँ तो पुरुष रत्नों ने अपना तन, मन, धन, विद्या, प्रतिष्ठा, सब कुछ केवल हमारी उन्नत्यर्थ लगा दिया, और हमारे लिए हाव 2 करते 2 दुष्ट काल का कौर हो गए ! पर हम उनको मानों भूल गए !

दयानंद स्वामी घर की तहसीलदारी छोड़ के फकीर भए थे, विद्या भी साधारण न थी, रूप भी दर्शनीय था, बुद्धि में भी चमत्कार था। क्या वुह चाहते तो दस बीस राजाओं को भी न मूड़ते, दो चार गाँव भी अपनी मुट्ठी में न कर लेते, दो चार बारांगना भी नित्य सेवा में न रखते अथवा विशुद्ध बिराग धारण करके देवता न बन जाते। केशव बाबू क्या कहीं के जज वा बड़े बारिस्टर बन के लाखों का द्रव्य और लाखों सुख न भोग डालते ? हमारे भारतेन्दु क्या दस पाँच कोठियों के स्वामी न बन सकते थे ? सर्कार के यहाँ से श्री ईसाई (सी०एस०आई०) अथवा अनार्यरी मजिस्ट्रेट न हो सकते ? पर उन्हें तो यह धुन थी कि आर्य वंश हमारे होते डूबने न पावे। इसीलिए अपना बहुत सा धन, बहुत सा समय, बहुत सा सुख त्याग दिया, बहुतेरों की गालियाँ सहीं और हमारी ही चिंता की चिता पर सो गए !

क्या न्याय यह नहीं कहता कि यह लोग हिंदुओं के लिए, शिर मुँड़ा के घर फूँक तमाशा देख के, बलि हो गए ? बहुतेरों का स्वभाव होता है कि कैसी ही बात कहो, कोई पख जुरूर निकालते हैं। ऐसे जन कहते हैं कि उक्त स्वामी जी एवं बाबू जी अपना नाम चाहते थे। इसका सहज सा उत्तर यों है कि नाम तो विषयासक्ति और अपव्यय से भी लोग पा सकते हैं। देश की फिकर क्यों करते ? यदि मान ही लो कि नाम चाहते थे, तो बिचारों ने खोया तो अपना सर्व्वस्व, सो भी परार्थ, और चाहा केवल नाम। आपको इसमें भी ईर्षा है तो नाम भी न लीजिए। गालियाँ दिया कीजिए। पर विचारशीलता यदि कोई वस्तु है तो वुह अंतःकरण से यही कहेगी कि— 'पर हित लागि तजै जो देही। संतत संत प्रशंसहिं तेही।' यदि कृतज्ञता कोई पदार्थ है तो वुह अवश्य कहेगी कि ऐसों का गुण मानना, ऐसों की प्रतिष्ठा तन-मन-धन से करना धर्म है और अपने तथा देश के लिए श्रेयस्कर है।

भारत संतान मात्र इनके ऋणी हैं। इनके नाम पर अपना जो कुछ वार दे वुह थोड़ा है। कृतघ्नता के पाप से तभी हम मुक्त होंगे जब इनकी महिमा दृढ़ रखने का प्रयत्न करें। नहीं शास्त्र के अनुसार

जिसका धन लिया है उससे बिना दिए उद्धार नहीं होता । जिसका सब जीवन ही हमारे हेत लग गया है उससे कैसे उऋन होंगे, जब तक जन्म भर उसके लिए अपना सर्व्वस्व न लगाते रहें । ऐसा करने से ही भारत का गौरव है । नहीं तो स्मरण रहे कि पृथिवी है भगवती का रूप और भगवती बलि प्रदान से संतुष्ट होती है । हमारे ऐसा कहने का यह अर्थ नहीं है कि बिचारे अनबोल बकरे की हत्या करने से भगवती प्रसन्न होती हैं । यों होता तो उनका नाम जगदम्बा न होता बरंच जगद्भक्षिणी होता । सच यों है कि ईश्वर की तीन महाशक्ति हैं—श्रीशक्ति, भूशक्ति, लीला शक्ति । उन तीनों के दो-दो रूप हैं—दैवी और आसुरी, तिस्में भूशक्ति के आसुरी संप्रदाय वाले कुछ लोग तो पराए मांस से तुष्ट होते हैं पर श्रीशक्ति का दैवी अंश उन दुश्चरित्रा तथा तद्गुण विशिष्ट जीवों के रक्तप्लावन से संतुष्ट होती है जो संसार के लिये अनिष्टकारक हों अथवा सत्पुरुषों के उस रक्त मांस से संतुष्ट होती है जो जगद्धितैषिता की चिंताग्नि में धीरे 2 वा कभी 2 एकबारगी स्वाहा होता है ! सो भगवती भारतधरित्री ने हाल में उपर्युक्त तीन बलि ली हैं ।

निश्चय है कि यह विशुद्ध रक्त उनको साधारणतया न पच जायगा । अवश्यमेव कुछ अच्छा रंग दिखावेंगी । पर भारत संतान को भी योग्य है कि इस बलि पर विश्वास लावें कि इन पुरुषरत्नों ने हमारे लिए प्रान दिए हैं, हम भी यदि कृतघ्नता के पाप से बचा चाहें और अपना एवं अपने वंश का भला चाहें तो अंतःकरण से इनके महानुपकार के कृतज्ञ होके यथासामर्थ्य इनका अनुकरण करें, जिसमें इनके नाम की महिमा हो और कुछ लोग और भी आत्मबलि के लिये प्रस्तुत हों ।

खं० 4, सं० 8 और 9 (15 मार्च और अप्रैल, ह० सं० 4)

ट

इस अक्षर में न तो 'लकार' की सी लालित्य है न 'दकार' का सा दुरूहत्व, न 'मकार' का सा ममत्वबोधक गुण है, पर विचार करके देखिए तो शुद्ध स्वार्थ परता से भरा हुवा है । सूक्ष्म विचार के देखो तो फारस और अरब की ओर के लोग निरे छल के रूप, कपट की मूरत नहीं होते, अप्रसन्न होके मरना मारना जानते हैं, जबरदस्त होके निर्बलों को मनमानी रीति पर सताना जानते हैं, बड़े प्रसन्न हों तो तन, मन, धन से सहाय करना जानते हैं । और जहाँ कोई युक्ति न चले वहाँ निरी खुशामद करना जानते हैं, पर अपने रूप में किसी तरह का बट्टा न लगने देना और रसाइन के साथ धीरे 2 हँसा खिला के अपना मतलब गाँठना, जो नीति का जीव है, उसे बिलकुल नहीं जानते ।

इतिहास के सब बादशाहों का चरित्र देख डालिए । ऐसा कोई न मिलेगा जिसकी भली या बुरी मनोगति बहुत दिन तक छिपी रह सकी हो । यही कारण है कि उनकी वर्णमाला में टवर्ग हई नहीं ! किसी फारसी से टट्टी कहलाइए तो मुँह बीस कोने का बनावेगा, पर कहेगा तत्ती ! टट्टी की ओट में

शिकार करना जानते ही नहीं उन बिचारों के यहाँ 'टट्टी' का अक्षर कहाँ से आवे !

इधर हमारे गौरांगदेव को देखिए, सिर पर हैट (टोपी): तन पर कोट, पावों में प्येंट (पतलून) और बूट। ईश्वर का नाम आल्माइटी (सर्वशक्तिमान), गुरू का नाम टिउटर या मास्टर (स्वामी को भी कहते हैं) या टीचर, जिससे प्रीति हो उसकी पदवी मिस्ट्रेस, रोजगार का नाम ट्रेड, नफा का नाम बेनीफिट, कवि का नाम पोयट, मूर्ख का नाम स्टुपिड, खाने में टेबिल, कमाने में टेक्स। कहाँ तक इस टिटिल टेटिल (बकवाद) को बढ़ावैं, कोई बड़ी डिक्शनरी (शब्दकोष) को ले के ऐसे शब्द ढूँढ़िए जिसमें टकार न हो तो बहुत ही कम पाइएगा !

उनके यहाँ 'ट' इतना प्रसिद्ध है कि तोता कहाइए तो टोटा कहेंगे। इसी टकार की प्रभाव से नीति में सारे जगत के मुकुटमणि हो रहे हैं। उनकी पालिसी समझना तो दरकिनार, किसी साधारण पढ़े लिखे से पालिसी के माने पूछो तो एक शब्द ठीक 2 न समझा सकेगा। इससे बढ़ के नीति-निपुणता क्या होगी कि रुजगार में, व्यवहार में, कचहरी में, दरबार में, जीत में, हार में, बैर में, प्यार में, लल्ला के सिवा दद्दा जानते ही नहीं ! रीझेंगे तो भी जियाफत लेंगे, नजर लेंगे, तुहफा लेंगे, सौगात लेंगे, और इन सैकड़ों हजारों के बदले देंगे क्या, 'श्री ईसाई' (सी०एस०आई०) की पदवी, या एक कागज के टुकड़े पर सर्टिफिकेट अथवा कोरी थैंक (thank) (धन्यवाद), जिसे उरदू में लिखो तो ठेंग अर्थात् हाथ का अँगूठा पढ़ा जाय !

धन्य री स्वार्थसाधकता ! तभी तो सौदागरी करने आए, राजाधिराज बन गए ! क्यों न हो, जिनके यहाँ बात 2 में 'टकार' भरी है, उनका सर्वदा सर्वभावेन सब किसी का सब कुछ डकार जाना क्या आश्चर्य है ! नीति इसी का नाम है। 'टकार' का यही गुण है कि जब सारी लक्ष्मी विलायत ढो ले गए तब भारतीय लोगों की कुछ 2 आँखें खुली हैं। पर अभी बहुत कुछ करना है। पहिले अच्छी तरह आँखें खोल के देखना चाहिए कि यह अक्षर जैसे अँगरेज के यहाँ है वैसे ही हमारे यहाँ भी है, पर भेद इतना है कि उनकी 'टी' की सूरत ठीक एक ऐसे काँटे की सी है कि नीचे से पकड़ के किसी वस्तु में डाल दें तो जाते समय कुछ जान पड़ेगा, पर निकलते समय उस वस्तु का दोनों हाथों अपनी ओर ख़ींच लावेगा।

प्रत्यक्ष देख लो कि यह जिसका स्वत्वहरण किया चाहते हैं उसे पहले कुछ ज्ञान नहीं होता, पीछे से जो है सो इन्हीं का ! और हमारे वर्णमाला का 'ट' एक ऐसे आँकड़े के समान है जिसे ऊपर से[1] पकड़ सकते हैं और पदार्थ में प्रविष्ट कर सकते हैं पर उस वस्तु को यदि सावधानी से अपनी ओर खींचें तौ तो कुशल है नहीं तो कोरी मिहनत होती है !

इसी से हम जिन बातों को अपनी ओर खींचना आरंभ करते हैं उनमें 'टकार' के नीचे वाली नोंक की भाँति पहले तो हमारी गति खूब होती है, पर पीछे से जहाँ दृढ़ता में चूके वही संठ के संठ रह जाते हैं। दूसरा अंतर यह है कि अँगरेजों के यहाँ T सार्थक है और हमारे यहाँ एक रूप से निरर्थक ! अंग्रेजी में 'टी' के माने चाह के हैं जो उनके पीने की चीज है, अर्थात् वे अपना पेट भरना खूब जानते हैं ! पर हमारे यहाँ ट का अर्थ निकलता कुछ नहीं है। यदि 'टट्टा' कहौ तौ भी एक हानिकारक ही अर्थ निकलता है !

---

1. नीचे से पकड़ना अर्थात् उसके मूल को ढूँढ़ के काम में लाना और ऊपर से पकड़ना अर्थात् दैवाधीन समझकर उठाना।

घर में टट्टा लगा हो तो न हम बाहर जा सकते हैं, अर्थात् अन्य देश में जाते ही धर्म और बिरादरी में बदनाम होते हैं, और बाहर की विद्या, गुण आदि हमारे हृदय मंदिर के भीतर नहीं आ सकते। आवैं भी तो हमारे भाई चोर 2 कहके चिल्लायँ ! यह अनर्थ ही तो है। तीसरा फर्क लीजिए, जितना उनके यहाँ 'ट' का खर्च है उतना हमारे यहाँ नहीं है। तिस पर भी हम अपने यहाँ के 'ट' का बर्ताव बहुधा अच्छी रीति से नहीं करते। फिर कहाँ से पूरा पड़े !

'टकार' का अक्षर नीतिमय है ! उस नीतिमय अक्षर को बुरी रीति से काम में लाना बुरा ही फल देता है। हम ब्राह्मण हैं तो टीका (तिलक) और चोटी सुधारने में घंटों बिता देते हैं। यह काम स्त्रियों के लिए उपयोगी था। हमें चाहिए था, वास्तविक धर्म पर अधिक जोर देते।

यदि हम क्षत्री हैं तो टंटा बखेड़ा में पड़े रहते हैं। यह काम चाहिए था शत्रुओं के साथ करना, न कि आपस में। यदि हम बैश्य हैं तो केवल अपना ही टोटा (घटी) या नफा विचारेंगे। इससे सौदागरी का सच्चा फल नहीं मिलता। यदि हम अमरी हैं तो सैकड़ों रुपया केवल अपना टिमाक बनाने में लगा देंगे, टेसू बने बैठे रहेंगे। इससे तो यह रुपया किसी देश हितकारी काम में लगाते तो अच्छा था। पढ़े लिखे हैं तो मतबाद में टिलटिलाया करेंगे ! कोई काम करेंगे तो अंटसंट रीति से, सरतारे होंगे तो टाल-मटोल किया करेंगे।

इस ऊटपटाँग कहानी को कहाँ तक कहिए, बुद्धिमान विचार सकते हैं कि जब तक हमारी यह टेंव न सुधरेगी, जब तक हमारे देश में ऐसी ही टिचर फैली रहेगी, तब तक हमारे दुःख दरिद्र भी न टलेंगे। दुर्दशा यों ही टेंटुआ दबाए रहेगी। हमें अति उचित है कि इसी घटिका से अपनी टूटी फूटी दशा सुधारने में जुट जायँ। विराट भगवान के सच्चे भक्त बनें। जैसे संसार का सब कुछ उनके पेट में है वैसे ही हमें भी चाहिए कि जहाँ से जिस प्रकार जितनी अच्छी बातें मिलें, सब अपने पेट कैं पिटारे में भर लें और देश भर को उनसे पाट दें ! भारतवासीमात्र को एक बाप के बेटे की तरह प्यार करें। अपने 2 नगर में नेशनल कांग्रेस की सहायक कमेटी कायम करें।

ऐंटी कांग्रेस वालों की टाँय पर ध्यान न दें। बस, नागर नट की दया से सारे अभाव झट पट हट जायँगे और हम सब बातों में टंच हो जायँगे ! यह 'टकार' नीरस सी होती है, इससे इसके संबंधी आर्टिकल में किसी नटखट सुंदरी की चटक मटक भरी चाल और गालों पर लटकती हुई लट, मटकती हुई आँखों के साथ हट ! अरे हट ! की बोलचाल का सा मजा तो ला न सकते थे, केवल टटोल टटाल के थोड़ी सी एडीटरी की टेंक निभा दी है ! आशा है कि इसमें की कोई बात टेंट में खोंस रखियेगा तो टका पैसा गुण ही करेंगी ! बोलो टेढ़ी टाँग वाले की जै !

खं० 4, 11 (15 जून, ह० सं० 4)

पक्ष

यह दो अक्षर और तीन अर्थ का शब्द भी ऐसा उपयोगी है कि इसके बिना कोई काम ही नहीं चल सकता। यदि पक्षी पक्ष जाते रहें तो उसका जीना भारी हो जाय। यदि महीने में कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष न हों तो ज्योतिषियों को गणित में बड़ी गड़बड़ी पड़े। यदि किसी का पक्ष करने वाला कोई न हो तो वुह एक पक्ष क्या एक क्षण भी सुख से नहीं बिता सकता। सच पूछो तो मनुष्य का मनुष्यत्व पक्ष ही से है, नहीं तो 'आदमी को भी मयस्सर नहीं इंसा होना'। जिसे अपनी बात का पक्ष नहीं उसको किसी बात का ठीक नहीं। बात औ बाप एक होते हैं (चाहे उरदू में लिख के किसी से पढ़ा देखो !)।

महाराज दशरथ जी की इतनी प्रतिष्ठा है कि भगवान रामचंद्र जी के पिता कहलाते हैं। मनुष्य, क्षत्रिय, राजा, वीर, धीर, धार्मिक लाखों लोग हो गए पर दशरथ जी की समता किसी को नहीं हो सकती। इसका कारण, इस अचल कीर्ति का हेतु, केवल यही है कि वे बाचा के धनी थे। उन्हें अपनी बात का पक्ष था—'प्रानन ते सुत अधिक हैं सुत ते अधिक परान। सो दशरथ दोनौं तजे, बचन न दीन्हों जान।' राम, युधिष्ठिर, हरिश्चंद्र, भीष्म, हम्मीर आदि के जीवन चरित्र देखिए तो यही पाइएगा कि उनकी महान महिमा का कारण यही था कि बड़े 2 कष्ट उठाए, बड़ी हानी सही, पर अपने कहे को निबाहा और अपने कामों से जगतवासियों के लिए यह सिद्धांत नियत कर गए कि 'विचलित नहिं वाक्यं सज्जनानां कदाचित्'।

हम देखते हैं तो हम संसारी लोगों के औगुणों का ठिकाना नहीं है। यदि सचमुच न्याय किया जाय तो ऐसे लोग बहुत थोड़े निकलेंगे जो कठिन दंड के योग्य न हों। और जितने मतवादी हैं, सब कहते हैं कि ईश्वर न्यायी है, पर यह कभी देखने सुनने में नहीं आया कि सौ दो सौ पापी पुरुष यथोचित यातना से साथ अपने किए को पहुँचा दिया जायँ। इसका कारण क्या है ?

यदि हठ छोड़ के विचारिए तौ निश्चय हो जायगा कि जगदीश्वर यह समझ के हमारे दुर्गुणों को देखता हुवा भी हमारे पालन पोषणादि से मुँह नहीं मोड़ता कि यह सब हमारे हैं ! संसार अपने दुराचारों से कब का नाश हो गया होता यदि करुणामय भगवान उसे अपना न समझते। हम पापी हैं चाहे अधर्मी पर परम पिता जानते हैं कि 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति'। इससे सिद्ध होता है कि जगत के कर्ता-धर्ता को भी अपनी प्रजा का पक्ष है। फिर हम नहीं जानते वुह लोग कितने मूर्ख हैं जिन्हें पक्ष का पक्ष नहीं।

हमारा भारत इसी से दिन 2 गारत होता जाता है कि यहाँ के लोगों को अपनी बात का, अपनी जाति का, अपने देश का, अपने धर्म का, अपनी मर्य्यादा का, अपनी भाषा का पक्ष नहीं है। यह तो सरासर देखते हैं कि ईश्वर न्यायी, समदर्शी, सब कुछ, पर अपने निज भक्तों का पक्ष अवश्य करता है। यहाँ तक कि पतितपावन अधमोद्धारण दीनबंधु आदि उसके नाम पड़ गए हैं। हमारे रिषि मुनि संसार से कुछ प्रयोजन न रखते थे तौ भी अपने संतान अर्थात ब्राह्मणों को जगत गुरु तथा देवता बना गए हैं। ईसा, मूसा मुहम्मदादिक महात्मा भी अपने निज धर्मियों को अन्य मतावलंबियों से अधिक आशा दे गए हैं। हमारी वर्तमान गौर्नमेंट भी प्रजापालन, न्यायपरायणतादि सब बातों का मुकुट धारण करे है तौ भी अपने देशवासियों का पक्ष अधिक करती है।

फिर भी हमारे हिंदूदास पक्ष की महिमा नहीं जानते ! बात के पक्ष में कह देते हैं कि 'मर्द की जबान और गाड़ी का पहिया फिरता ही रहता है ।' जाति के पक्ष में समझ लिया है कि हमें क्या, जो जैसा करेगा वुह वैसा भुगतेगा । यों चाहे दिन भर झूठ बोलें पर जो किसी भाई का काम आ पड़े तो बस युधिष्ठिर का अवतार बन जायँगे—'अरे भाई अपना दीन धरम तो न छोड़ेंगे' । छिः ! तुम्हारा दीन धरम तो तुम्हारी कुबुद्धि ने उसी दिन छुड़ा दिया जिस दिन तुम्हें यह ज्ञान दिया था कि पक्षपात करना अधर्म है ।

यदि पक्षपात अधर्म होता तो बड़े 2 क्यों करते ? पर यह बातें तो वुह समझे हो ! नहीं तो लड़के भी समझते हैं कि धर्म करने से सुख और अधर्म से दुःख मिलता है । और यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जिस जाति के लोग दूसरों के मुकाबिले में आपस वालों का पक्ष करना जानते हैं वे अपक्षियों के देखे अधिक सुखी होते हैं । फिर बताइए कि पक्षपात पाप है अथवा पुण्य ? बिचार के देखिए तो जान जाइएगा कि उन्नति की सीढ़ी और सौभाग्य का मार्ग पक्ष ही है । अतः हमारे पाठकों को चाहिए कि इस मूल मंत्र को न भूलें कि अपना अपना ही है । दूसरों की अच्छाई से हम अच्छे न कहावेंगे जब तक अपनों को अच्छा न समझेंगे । क्या ही अच्छा होता जो हमारे बंधुवर्ग और सब झगड़े छोड़ के केवल स्वदेशियों के पक्ष को अपना परम धर्म जानते !

नीति का यह वाक्य पक्ष का क्या ही अच्छा समर्थन करता है कि 'उत्तुंगशैलशिखरस्थितपादपस्य काकः कृशोऽपि फलमालभते सपक्षः । सिंहोवलीगजविदारणदारुणोऽपि सीदत्यधस्तरुतले खलु पक्ष हीनः' । अर्थात् शैल शिखर थित अति उतंग तरुवर के मृदु फल । खात बुद्धि बल रहित काग केवल पच्छहि बल । महाबली मृगराज नितहि करि कुंभ विदारत ! छुधित पक्ष बिन वृच्छ ओर रहि जात निहारत ।। यह समुझि बूझि अनबूझ नर, पच्छपात पथ नहिं गहत । ते पच्छ अछति मम सदा सहत रहत संकट महत ।।1।। हे मयूरपक्षापीड़धारी वृजभूमिचारी भगवान हृदयबिहारी हमारे देशभाइयों को सुमति दान करो जिसमें यह लोग अपनों का पक्ष सीखैं । प्रभो ! यह उन्हीं के संतान हैं जिनका तुम सदा पक्ष करते रहे हो । यदि हमारे पाप तुम्हारी करुणा से अधिक न हो गए हों तो अपनी इस कीर्ति का स्मरण करो कि—पातरी छाँछ निछीछी महा अहिरी गुहिराय के बेंचत आँठी । मीन जो ताल खुतार भई गोड़िया कहि ताहि पुकारत टाँठी (ताजी) ।। शंभु कहैं प्रभु ऐसोई चाहिए दास के औगुन झोंकिबों भाठी । जो कहुँ आपनो खोटो मिलै तो खरे ठहराय कै बाँधिए गाँठी ।।1।। क्योंकि 'दीन मीन बिन पक्ष के कहु रहीम कहँ जाहिं ?' अतः हमारा पक्ष करो जिससे हम अपनों का पक्ष करने योग्य हों ।

खं० 5 सं० 1 (15 अगस्त, ह० सं० 4)

कलि महँ केवल नाम प्रभाऊ

श्री गोस्वामी तुलसीदास जी रामायण में कहते हैं कि कलिकाल में केवल भगवान का नाम स्मरण करते रहो, बस इसी में सब कुछ है । हमारी समझ में यह वचन अत्यंत सत्य है । यदि प्रभु के किसी नाम

का स्मरण हमें सब काल बना रहे तो हम अशेष बुराइयों से बचे रहें । सर्वव्यापक नाम के स्मरण से किसी गुप्तातिगुप्त स्थान पर भी वुह काम करने का साहस न पड़ेगा जिसे अनेक विद्वानों ने बुरा ठहराया है । सर्वशक्तिमान के स्मरण से हमको चाहे जैसी ऊँच नीच आ पड़े, कभी घबराहट न होगी, क्योंकि वुह हमारे सब अभाव को दूर कर सकेंगे ।

प्रेमस्वरूप के स्मरण से हमारे चित्त को एक प्रकार की मस्ती बनी रहेगी और जगत् आनंदमय देख पड़ेगा । ऐसे ही राम, कृष्ण शिवादि अगणित नामों से असंख्य भलाई हो सकती है पर जब हम अर्थविचारपूर्वक भगवन्नाम स्मरण क़रेंगे तब नाम के प्रभाव से कलियुग का प्रभाव नहीं रहेगा । इससे ऊपर कहे हुए बचन का ठोस अर्थ यह है कि भक्ति का प्रभाव, श्रद्धा का प्रभाव, लुप्तप्राय हो गया है । केवल नाम का प्रभाव रह गया है, अर्थात् सरल चित्त से प्रेम के साथ परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, ध्यान करने वाले कदाचित लाखों में एक भी न मिले पर सुख से रामा 2 कहने वाले हजारों देख लीजिये । घंटों लेकचर दे के वेद, पुराण, कुरान, इंजील को चर डालने वाले हजारों ले लीजिये । यदि आपको यह शंका हो कि उपर्युक्त वाक्य के अक्षरार्थ से केवल नाम प्रभाव निकलता है, भगवान के नाम का वर्णन कहाँ है, तो हमें क्या दुनियाँ भरे के नाम लेते जाइये, वास्तविक अर्थ शायद कहीं न पाइएगा । पंडित का अर्थ है सत और असत का विवेक करने वाला, पर बतलाइये तो इन ढीली धोती और चौड़ी पगड़ी वालों में कै जने हैं जो सदा सत्यासत्य ही के निर्णय में लगे रहते हैं ।

ब्राह्मण का अर्थ है वेद और ईश्वर को जानने वाला, पर कहिये तो कै जने आपने देखे हैं जो त्रिवेदी कहा के गायत्री अच्छी तरह जानते हैं, औ कै जने नोन तेल की चिंता का शतांश भी उस नित्य स्मरणीय की चिंता रखते हैं । कितने वैश्य हैं जो दूसरे देश से कभी सौ रुपये भी कमाय लाए हों ? कितने अमीर हैं जो मुँदी भलमंसी लिए न बैठे हों ? कितने मित्र हैं जो काम पड़ने पर कटी उँगली पर मूतने का भी दृढ़ संकल्प किए बैठे हैं । कितनी स्त्रियाँ हैं जो चौराहे की ईंट के बराबर भी पति की प्रतिष्ठा करती हों ? कितने उपदेश हैं जिनके चरित्र अपने बचनों के षोड़शांश भी मिलते हों । कितने राजा हैं जो प्रजा के हितार्थ निज स्वार्थ को दमड़ी भर भी त्याग सकें ? कितने देश हितैषी हैं जो अपना धन, मान प्रतिष्ठा देश के लिये वार दें ? परमेश्वर करे किसी का भरभाला न खुले नहीं तो घर 2 मिट्टी के चूल्हे हैं।

यह कलियुग का जमाना है । वास्तव में कहीं कुछ तंत है नहीं । सब किसी का नाम ही सुन लीजिये, क्योंकि महात्माओं का वचन झूठ नहीं होता, और वे कहि चुके हैं कि 'कलि महँ केवल नाम प्रभाऊ ।'

खं० 5 सं० 1 (15 अगस्त, ह० सं० 4)

कानपुर और नाटक

अनुमान 12 वर्ष हुए कि यहाँ के हिंदुस्तानी भाई यह भी न जानते थे कि नाटक किस चिड़िया का नाम है। पहिले पहल श्रीयुत पंडितवर राम नारायण त्रिपाठी (प्रभाकर महोदय) ने हमारे प्रेमाचार्य्य का बनाया हुवा 'सत्य हरिश्चंद्र' और 'वैदिकी हिंसा' खेला था ! यह बात कानपुर के इतिहास में स्मरणीय रहेगी कि नाटक के अभिनय के मूलारोपक यही प्रभाकर जी हैं, और श्रीयुत बिहारीलाल जी परोपकारी उनके बड़े भारी सहायक हैं ! यद्यपि द्वेषियों ने बहुत शिर उठाया, और लज्जा के साथ प्रकाश करना पड़ता है कि इस पत्र का संपादक भी उन्हीं में से एक था, पर उस देशाभिमान रूपी आकाश के प्रभाकर ने परम धीरज के साथ अपना संकल्प न छोड़ा। रामाभिषेकादि कई बड़े 2 अभिनव ऐसी उत्तमता से किये कि किसी से अद्यापि हुए नहीं। पर जब त्रिपाठी महाशय उद्यमवशतः गोरक्षपुर चले गये तब से कई वर्ष तक इस विषय में सूनसान रही ! केवल 82 के सन् में प्रताप मिश्र की दौड़ धूप से 'नील देवी' और 'अंधेरनगरी' खेली गई थी ! फिर लोगों के अनुत्साह से कई वर्ष कुछ न हुवा। हाँ, 85 के सन् में 'भारत दुर्दशा' खेली गई और भारत एनटरटेनमेंट क्लब स्थापित हुवा जिसके उद्योग से दो बेर 'अंजामें बदी' नाटक (फारसी वालों के ढंग का नाटकाभास) खेला गया !

कुछ आशा की गई थी कि कुछ चल निकलेंगे, पर थोड़े ही दिन में मेम्बरों के परस्पर फूट जाने से दो क्लब हो गये ! फूटी हुई शाखा M.A. क्लब के नाम से प्रसिद्ध है और पहली का नाम दो एक हिंदी रसिकों के उत्साह से श्री भारतरंजनी सभा हो गया है ! इसका वृतांत पाठकगण इसके नाम से और प्रताप मिश्र की शराकत से समझ सकते हैं। सिवा इसके श्री बाबू पथनलाल प्रेसीडेंट और बाबू राधेलाल मैनेजर भी उत्साही पुरुष हैं। इन दोनों सभाओं की देखा देखी कई क्लब और भी खड़े हुए पर कई उगते ही ठिठुर गये, कई एक आध बेर जाग के सो गये ! जागे तो भी इतना मात्र कि फारसियों की शिष्यता की इतिकर्तव्यता समझ के। सो भी न कर सके।

बड़ी भारी छूत इस शहर के लोगों में यह है कि यदि कोई पुरुष अच्छा काम करना बिचारे, और अन्य लोग उसे समझ भी लें कि अच्छा है, तो भी उनके सहायक हो के उन्नति न देंगे। अपनी नामवरी के लालच में कुछ सामर्थ न होने पर भी ढाई चावल की खिचड़ी अलग पकावेंगे। इसमें दोनों की ही हानि होती है ! यदि यह सभायें एक हो के वा परस्पर सहायता करके सुयोग्य कवियों के बनाए हुए वा बनवा के नाटक खेला करें तो क्या कहना है ! पर कहे कौन ?

वर्ष भर से एक A.B. club और हुआ है जिसने कई बेर उलट फेर खाए, अंत में एक परोत्साही रत्न की शरण लेके रक्षित रहा। 9 अगस्त को इस क्लब ने अभिनय किया पर हम यह मुक्त कंठ से कहेंगे कि यदि हमारे प्रिय मित्र श्री भैरवप्रसाद वर्मा तन, मन, धन से बद्धपरिकर न होते तो यह दिन कठिन था। नाटक पहिले पहिल था और भाषा भी उरदू थी, पर पात्रगण चतुर थे, इससे अभिनय सराहने योग्य था इसमें शक नहीं। M.A. club के कई सभाषद नाराज हो के उठ गये। यह अयोग्य किया ! और बहुत से अशिक्षित जन कोलाहल की लत भी दिखाते रहे, पर हमारे कोटपाल अलीहुसेन साहब के परिश्रम और प्रबंध से शांति रही 'सदमए इश्क' और 'गोरक्षा' निर्विघ्न खेला गया। सुनते हैं कि इस क्लब में उत्तमोत्तम नागरी के नाटक भी खेले जाया करेंगे। परमेश्वर इस किंबदंती को सत्य

करे । हम अपने सुहृदवर भैरवप्रसाद (मोलो बाबू) से आशा रखते हैं कि नाटक का असली अमृतरस चरितार्थ करने में सदैव प्रोत्साहित रहेंगे ।

खं० 5, सं० 1 (15 अगस्त, ह० सं० 4)

हम राजभक्त हैं

इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे यहाँ जितने धर्मप्रचारक हो गये हैं उनमें से ऐसा कोई न था जो संसारीय वैभव को चाहता हो, प्रत्युत राजर्षि लोग स्वयं अपना राज्य छोड़कर बैराग्य लेते थे । इसी से उन्होंने कहीं राजा से ढिठाई करने का उपदेश नहीं दिया । क्योंकि वे जानते थे कि आज जो गद्दी पर है वुह हमारा ही लड़का व छोटा भाई व मंत्री है, फिर मनुष्य जाति स्वभाव् क्यों कर चाहेगा कि लोग हमारे एक आत्मीय से गुस्ताखी करें । रहे ब्रह्मर्षि, सो वे जानते थे कि सूर्यवंशी चंद्रवंशी सब हमारे प्रिय शिष्य हैं । उनसे यदि कोई धृष्टता करेगा तो संसार का प्रबंध बिगड़ेगा । इसी कारण से हमारे प्राचीन इतिहासों में एवं धर्मग्रंथ में यह कहीं न पाइएगा, अमुक राजा से प्रजागण बिगड़ गए । प्रत्युत यह आशय सैकड़ों ठौर लिखा है कि राजा प्रजा का पिता पुत्र का सा संबंध है ।

राजा ईश्वर का अंश है । गीता में तो साफ लिखा है कि मनुष्यों में राजा भगवान का रूप है । भगवान का रूप क्या साक्षात भगवान होने का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि मुसलमान, ईसाई, ब्राह्म, आर्य्य सब हमको ईश्वर विमुख कहते हैं, पर हम अपने अयोध्याधिपति भगवान रामचंद्र को अपना इष्टदेव, मुक्तिदाता और धर्मसर्वस्व मानते हैं । इससे अधिक हमारी राजभक्ति का नमूना और क्या होगा । जिस राजा ने हमको तनिक अच्छी तरह रखा हम उसी के उपासक हो जाते हैं । अकबर को मुसलमान इतिहासवेत्ता चाहे जो कहें पर हमारे यहाँ के बड़े उच्चकुल के अभिमानी वीर राजपूतों ने उन्हें दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा कहा है । हम साहंकार कह सकते हैं कि हम निस्संदेह सच्चे राजभक्त हैं ।

हमारे समान कोई बिरली ही जाति राजभक्त होगी । राजा की जाति, धर्म्म, आचार व्यवहार, कुछ ही क्यों न हो हम उसे मान्य करते हैं । मान्य ही नहीं बरंच यदि हमें प्रसन्न रखे तो हम उसे पूजने लगें । ईश्वर का नाम पढ़े लिखों में जगन्नाथ इत्यादि और बिना पढ़ों में दई राजा आदि से प्रत्यक्ष है कि हम ईश्वर और राजा को पर्याय समझते हैं । हम अपने धर्माचार्य ब्राह्मणों को भी महाराज कहते हैं । इससे हमारे यहाँ का एक लड़का भी जान सकता है कि राजा को हम क्या समझते हैं । फिर जो कोई हमारी राजभक्ति में संदेह करे वुह अवश्य न्याय के गले में छुरी फेरता है ।

हमारे इस सिद्धांत का खंडन आधुनिक गवर्नमेंट के झूठे खुशामदी सन् 1857 के बलवे के सिवा और कोई दोष नहीं लगा सकते । पर उन्हें भी समझना चाहिए कि वुह अपराध प्रजा का न था, किसी प्रतिष्ठित हिंदू मुसलमान का दोष न था, केवल थोड़े से अदूरदर्शी¨ के कारण हमारे भारतीय नेशन मात्र

को कलंक लगाना बुद्धिमत्ता से दूर है । यदि मान ही लें कि वुह अपराध हिंदुस्तानियों ही का था तौ भी इसका क्या उत्तर है कि उस घोर समय में हमारी सर्कार को सचमुच सहायता किसने दी थी ? हमी ने । क्योंकि हम राजभक्त हैं । राजभक्ति हमारा सनातन धर्म है । इतर उपधर्मों का हम तभी तक विचार करते हैं जब तक हमारी राजभक्ति में हानि न हो । खाने पीने में छुवाछूत, जहाज पर से विदेशजात्रा, बिना स्नान किए हुए भोजन इत्यादि हमारे धर्म के अंग हैं । पर राजा का काम लगे तो हमें उनमें किंचित आग्रह नहीं है । यह बात हम कई बेर दिखा चुके हैं फिर भी हमारी राजभक्ति में कोई संदेह करे तो लाचारी है । शरीफ हिंदू, मुसलमानों से ऐसा संदेह करना दूरदर्शिता की हत्या लेना है ।

खं० 5, सं० 2 (15 सितंबर, ह० सं० 4)

नास्तिक

संसार की गति बड़ी बेड़ी है । इसमें सत्य बड़ी कठिनता से ढूँढ़े मिलता है । जैसे सच्चा आस्तिक कहीं लाखों में कोई बिरला मिलता है वैसे ही सच्चे नास्तिक का मिलना भी सहज नहीं है । पुराने ढर्रे के लोग नास्तिक शब्द को निंदित समझते हैं और आजकल के अँगरेजीबाज बहुधा नास्तिक बनने में अपनी शोभा समझते हैं पर हमारी समझ में जो लोग अपने को आस्तिक समझे बैठे हैं उनमें नास्तिकों की संख्या बहुत है और नास्तिकता का दावा तो बहुत ही मुशकिल है क्योंकि मनुष्यात्मा का जातिस्वभाव है कि नितांत परवशता में सहारा ढूँढ़ती है ।

यदि कोई नास्तिक भाई किसी अत्युच्च पर्वत से गिर पड़े जहाँ कोई बचाने वाला देख न पड़ता हो, गिरते समय क्या उनका चित्त किसी बचाने वाले को न चाहेगा ? उस समय बुद्धि ठिकाने न रहेगी कि वुह विचार सके कि यहाँ बचाने वाला कौन है । आँखों से यह न सूझेगा कि बचाने वाला वुह बैठा है । जिह्वा में यह शक्ति न रहेगी कि बचाने वाला यदि कोई बैठा भी हो तो उससे कहें कि भाई कृपा करके हमारी रक्षा करो ! हाथ पाँव तो किसी काम ही के न होंगे कि कुछ पुरुषार्थ कर सकें ! पर अंतःकरण एक बचाने वाले की आशा करेगा । वुह इंद्रियों भर के अगोचर पर्वत पर से गिरे हुए नितांत असमर्थ को बचाने में समर्थ बचाने वाला कोई मनुष्य नहीं है क्योंकि मनुष्य वहाँ दिखाई नहीं देता । यदि दिखाई भी दे तो जिस समय हमारे पाँव उखड़ गए हैं पृथ्वी पर आ के जीवन समाप्त होने में केवल दो चार पल की देर है, उस समय मनुष्य हमारी रक्षा में क्या उपाय कर सकता है ? केवल मुख से इतना कह सकता है 'अरे ! राम 2 !' पर वुह कौन है जिसकी आशा हमारा चित्त करेगा ? वही हमारी नास्तिकता का नाशक हृदेश्वर !

फिर भला नास्तिक होना क्या सहज है ? हमें सहस्रों ऐसे लोगों से काम पड़ता है जो शास्त्रार्थ के समय ईश्वर का अस्तित्व खंडन करने में पूर्ण योग्यता दिखलाते हैं पर विपत्ति काल में ईश्वर ही ईश्वर

चिल्लाते हैं। हमें एक नास्तिक मित्र की दशा सदैव स्मरण आती है जिसने जीवन काल में कभी ईश्वर नहीं माना पर मरने के कई महीना पहिले अत्यंत रुग्ण रह के, असह्य कष्ट सह के, वैद्य हकीम डॉक्टरों से पूर्णतया निराश हो के, मरने के लिए मिनिट गिन रहा था। हम लोग उसकी दशा पर त्राहि त्राहि कर रहे थे। उस अवसर पर उस्की अल्पवयस्का पत्नी, जिसने संतान का मुख ही न देखा था, जिसका रक्षक संसार में केवल पति था, वुह आई और करुणासागर में डूबी हुई, आँसुओं से भींगी हुई, टूटी हुई वाणी से कहा, 'हाय ! अब मैं क्या करूँ !' फिर लिपट के चिल्लाई कि 'मुझे किसके हाथ सौंप जाते हो ?'

उस समय हमारे मित्र के मुख से यही निकला था कि 'ईश्वर !' हमें निश्चय है कि हमारे पाठकों में भी बहुतों ने ऐसे वा इसी ढंग के दृश्य देखे होंगे। फिर भला हम कैसे मान लें कि नास्तिकता सहज है। यों तो जितने लोगों के मुख पर अष्ट प्रहर ईश्वर 2, धर्म 2, स्वर्ग 2 इत्यादि रहता है उनमें आस्तिक बहुत थोड़े हैं। क्योंकि एक संप्रदाय वाला दूसरे समस्त संप्रदायियों को इसी के नाम से पुकारता है। अनुमान करो कि संसार में सौ मत प्रचलित हैं तौ निन्नानवे मत वाले एक 2 मतावलंबी की नास्तिकता पर साक्षी देने के लिए अपने आचार्यों और ग्रंथों की दुहाई देते हुए प्रस्तुत हैं।

'एक मत कीजै मूरख पंडित रंक नृप नीच ऊँच को नेम।
मेटि सबहिं इक सो करे अहो धन्य प्रिय प्रेम ॥1॥
जिहि केवल मतवाद की रुचति वृथा बकवाद।
सोई निंदत प्रेम को बिन पाए कछु स्वाद ॥2॥
नरक अग्नि की आँच अरु इंद्र अराम (बाग) अराम।
जानहिं जाननहार जग प्रेमहि के दोउ नाम ॥3॥
बिरले ही मन जानहीं कछुक प्रेम की बात।
मुख ते रूप सुभाव गुन कैसेहु कहे न जात ॥4॥
अगनित जन नित मरत हैं याके कारन हाय।
प्रीति महामारी अहै धौं कछु और बलाय ॥5॥
जो कोउ ब्रह्म अरूप को देख्यौ चहै सरूप !
नेह नयन सों लेहिं लखि जग के सुंदर रूप ॥6॥
जदपि प्रेम वह रोग है जाकी औषदि नाहिं।
पै या के परभाव ते आधि व्याधि सब जाहिं ॥7॥
मन की आँख उघारि कै देखि सकहिं मतिवान।
गूढ़ रूप सबके हृदय बसहिं प्रेम भगवान ॥8॥
श्री भारत शशि सरिस ऋषि उपदेशै जब मर्म।
प्रेमहिं गनै प्रताप किन सब धर्मन को धर्म ॥9॥
रची प्रेम एकादशी (?) प्रेमिन हित परताप !
प्रेम बुद्धि जिन के नहीं सो न समुझिहैं आप' ॥10॥

यदि आप सच्चे आस्तिक हैं तो संपूर्ण संसार आपके ईश्वर का है। उसमें जितने भले बुरे, जीव निर्जीव हैं सबकी सृष्टि और पालन का भार ईश्वर के आधीन है। इसके लिए किसी की निन्दा और

किसी से द्वेष करना आपके हक में महापाप है । यदि ऐसा करने का विचार भी करें तो अपने जगत पिता के अपराधी होंगे । क्योंकि यह आपको मालूम ही क्या है कि उस सर्वेश्वर ने किसको किसलिए जिला रक्खा है । और सुनिए, यदि आप आस्तिक हैं तो अपने निज के लिए कारस्तानी भी छोड़िए । तुम्हारे लिए जो कुछ मुनासिब है वुह परमेश्वर स्वयं कर लेगा ? आप क्या उससे अधिक हैं जो अपनी अकलमंदी छौंकते हैं ? आप उस्के सलाहकार हैं क्या ? वुह जो समझेगा करेगा ।

यदि आप उसकी इच्छा में हस्तक्षेप करें तो कठिन बेअदबी है । आपसे तो नास्तिक ही अच्छा क्योंकि वुह दूसरे को मानता ही नहीं जिसका सहारा ले ! नास्तिक जानते हो किसे कहते हैं कि उसकी निन्दा ही सीख ली है ? देखिए 'न आस्तिको विद्यते यस्मात्परं सनास्तिकः' अर्थात् जिससे बढ़ के कोई आस्तिक न हो क्या यह सहज है । बहुतेरे आस्तिक केवल लोकनिंदा और परलोक जातना के भय से तथा संसार के सुख, परमार्थ के कल्याण की लालसा से ईश्वर को मानते हैं पर नास्तिक उस भय और लालच की पर्वाह नहीं करता । फिर कहिए डरपोक लालची अच्छा या निर्भय निर्लोभ अच्छा ?

हमारे शास्त्रकारों के शिरोमणि मनु भगवान नास्तिक का लक्षण यों कहते हैं– 'नास्तिको वेदनिंदकः', अर्थात् वेद की निन्दा करने वाला नास्तिक है । पर हमारे आस्तिकों के परमाराध्य श्री कृष्ण भगवान कहते हैं– त्रैगुण्यविषया वेदानिस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' और सच भी है, जब तक हम कर्म ज्ञानादि के झगड़ों में पड़े हैं, जब तक लोक बेद के बंधन में पड़े हैं तब तक हम अपने प्रेमदेव का साक्षात जीवित संबंध कैसे प्राप्त कर सकते हैं । इस रीति से मनु जी की आज्ञा का यह अर्थ होना चाहिए कि नास्तिक (नहीं है) को (कौन) वेद निंदकः (वेद का निंदक) अर्थात् सभी सच्चे आस्तिक कर्म, उपासना, ज्ञान के निंदक हैं, क्योंकि उन्हें प्रतिक्षण ईश्वर से तन्मय रहने में आनंद आता है, भुक्ति मुक्ति की युक्ति के खटराग में क्यों पड़ने लगे ! जो सच्चे जी से किसी संसारी जीव को चाहता है वुह तो दीन दुनिया, लोक परलोक की पर्वा करता ही नहीं । परम सुंदर परमात्मा को चाहने वाला क्या इन झगड़ों को चाहेगा ?

आप अपने वेद, इंजील, कुरान को मानिए, परलोक को मानिए, हमें क्या । हम अपने जिसको मानते हैं उसको मानते हैं । ईश्वर कुछ आप ही का प्रभु तो हई नहीं, हमारा भी है । फिर क्या, हम अपने ईश्वर को चाहे मानेंगे चाहे न मानेंगे, आपको क्या ! आप कहीं के काजी हैं ? यदि आप कहें कि हम तुम्हें इसलिए सिखाते हैं कि वेद कुरान आदिक ईश्वर की पुस्तकें हैं, उनका न मानना नास्तिकता है, तो हमारे भी मुँह है, हम भी कहेंगे कि ईश्वर की यही पाँच-छः पुस्तकें हैं अथवा और भी हैं ?

यदि यही हैं तो आपके ईश्वर को दूर ही से दंडवत है ! हम तो उसे अनंत विद्यामय कहते हैं और आप चार संस्कृत की, एक अँगरेजी की, एक अरबी की पुस्तकों पर उसके विद्वत्ता की इतिश्री किए देते हैं ! और यदि उसकी और भी कोई पुस्तक है तो आपको क्या प्रमाण है कि हम नहीं मानते । हम मानते हैं अपने अंतःकरण की पुस्तक को, सृष्टिक्रम की पुस्तक को । क्या यह उसकी पुस्तकें हैं ! बरंच वह तो खास उसी की लिखी पुस्तकें हैं ! पर इन झगड़ों से हमें क्या है । हम तो मानेंगे तो उसे मानेंगे, पुस्तक उस्तक क्यों मानें । यदि हम आपको चाहते होते तो हम मतलबी यार नहीं हैं कि आपके रूप गुण धन आदि को चाहते ! यदि इस्पर आपका जी निन्दा किए बिना न रहे तो कीजिए साहब, हम तो नास्तिक हई हैं—काफिरे इश्कम मुसलमानी मरा दरकार नेस्त । हमें आपकी बनावटी आस्तिकता पसंद नहीं है ! हम एक सच्चे दृढ़ नास्तिक की प्रतिष्ठा असंख्य कृत्रिम आस्तिकों से अधिक करते हैं ।

खं० 5, सं० 3 और 5 (15 अक्टूबर, दिसंबर, ह० सं० 4)

बालशिक्षा

इस विषय पर लिखने का हमने कई बेर विचार किया पर कई बातें सोच के रह गए । इन दिनों हमारे परम सहायक श्रीस्वामी मंगलदेव संन्यासी महानुभाव की आज्ञा और कई एक मित्रों के अनुरोध से फिर इच्छा हो आई कि लिखा करें पर बुद्धिमान लोग समझ सकते हैं कि यह विषय अत्यंत आवश्यक है, बहुत सोच समझ के लिखने का है । क्योंकि और लोगों को शिक्षा करना शिक्षा नहीं है केवल उनका मन बहलाना मात्र है । जिन्हें उस विषय की रुचि अथवा ज्ञान नहीं है वे न सुनेंगे न देखेंगे और जो रसिक हैं वे स्वयं उन बातों को जानते ही हैं । उन्हें शिक्षा की क्या आवश्यकता है ? हाँ, हमारी बहुत सी बातों में से जो दस पाँच बातें उन्हें रुचेंगी वे प्रसन्न हो जायँगे वा उनमें दृढ़ हो जायँगे । तो शिक्षा काहे को जी बहलाव हो ठहरा । पर बालकों के साथ ऐसा नहीं है । वे अभी किसी शिक्षा संबंधी विषय को नहीं जानते और जो बातें उनसे, जिस रीति से, जिन शब्दों में, कही जायँगी वे उन्हें ज्यों का त्यों सुनें समझेंगे । अतः शिक्षा के मुख्य पात्र बालक ही हैं ।

इसके अतिरिक्त सयाने लोगों को कुछ न कुछ सारग्राहिणी बुद्धि होती है, उनसे चाहे जैसी टेढ़ी सीधी औरेबी भाषा में कोई बात कह दीजिए वे उसका मुख्य तात्पर्य यथाशक्ति समझ सकते हैं । पर बालक बहुधा बात की ध्वनि को न समझ के केवल शब्दार्थ ही समझ सकते हैं । यदि किसी बालक से कहा जाय कि पृथिवी का आधार गऊ है तो वुह यह न समझेगा कि पृथिवी के सर्वश्रेष्ठ निवासी मनुष्य को खाना कपड़ा गऊ ही के दूध घी तथा गऊ पुत्र के उपजाए अन्न, रुई आदि से मिलता है, पर वुह बालक समझेगा कि धरती को कोई गऊ अपनी पीठ अथवा सींग पर साधे है । अतः बालकों को जो बात समझाना हो वुह बहुत सरल रीति से कहना चाहिए । इसके सिवा बालक अभी अपने माता पिता तथा मुख्य साथियों के सिवा अपना घर मुहाल तथा दो चार सड़कों के सिवा दुनिया क्या है जानते भी नहीं हैं, इसलिए उन्हें सभी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है ।

धर्मशिक्षा, नीतिशिक्षा, व्यवहारशिक्षा, शिष्टाचारशिक्षा, उपयोगी भाषाओं की शिक्षा, इतिहास, गणित, इत्यादि ऐसी कोई शिक्षा नहीं है जो उनके लिए आवश्यक न हो । और हम देखते हैं तो पूर्ण रूप से उपर्युक्त पुस्तकें अभी हमारे देश के अभाग्य से यहाँ बहुत ही थोड़ी हैं, अतः यह कर्तव्य (बालशिक्षा) यदि अकेले हमीं लिखें (क्योंकि दूसरे लेखक अभी इस ओर बहुत ही कम झुके हैं) तो कितनी कठिनता पड़ेगी । दुनिया भर की बातें लिखना और अति ही सरल भाषा और भाव में लिखना थोड़े दिन का और सहज काम नहीं है ।

यही बातें सोच के अब तक इस विषय में हाथ नहीं डाला । पर अब इधर मित्रगण हुलियाते हैं कि लिख । और हम भी समझते हैं कि इसी नई पौध की भलाई के लिए हमारी और हमारे सहयोगियों की मुड़ धुन है, फिर इन प्यारे बालकों के उपयुक्त बातें क्यों न लिखी जायँ । अस्तु हम लिखेंगे । पर बहुत दिन तक थोड़ी 2 बातें लिखेंगे क्योंकि यह विषय अन्य विषयों की भाँति नहीं है । दूसरे ग्रंथकारों, संपादकों और कवियों से भी विनय है कि हमारा साथ दें, क्योंकि वे स्वयं विचार सकते हैं कि इसकी कितनी अधिक आवश्यकता है । भगवान बालमुकुन्द, नन्दअजिरबिहारी, जानुप्राणिचारी, दधिमाखन आहारी हमारी सहाय करें ।

जानना चाहिए कि बालकों की संपूर्ण शिक्षा उनके माता पिता और गुरु पर निर्भर है । लिखा भी है कि 'मातृमान्पितृमानाचार्यवान्पुरुषोवेद' । अतः हम पहिले माता, पिता और आचार्य के लिए कुछ उपयोगी बातें लिखते हैं । बालकों को पहिले 2 और अधिकाधिक काम माता से पड़ता है अतः माता का परम धर्म है कि अपने संतान को सुशिक्षित करें । पर खेद है कि हमारे देश में स्त्री शिक्षा का अभाव सा है अतः माता स्वयं अशिक्षिता हैं, वे लड़कों को क्या शिक्षा देंगी । पर हाँ, पिता को योग्य है कि बालक पर भी ध्यान रक्खें और उनकी माता पर भी । (यदि) हमारी आर्यललनागण जब तक लड़का दूध पिए तब तक मिरच खटाई तेल इत्यादि रोग वर्धक पदार्थ न खाया करें । बहुधा स्त्रियाँ मिट्टी को भून के बहुत खाती हैं यह महा औगुन है । न खाया करें । घी दूध आदि पुष्ट वस्तु खूब खाया करें । लड़के को रोने के डर से अफीम बहुत न खिलाया करें । तेल और काजल लगाने में न अलसाया करें । कपड़े, बिछौने आदि स्वच्छ रक्खा करें ।

लड़का कुछ स्याना हो तो रीछ, भूत, हौवा, गोदने वाले का नाम ले के उसे डरपोक न बनाया करें । बोलने लगे तो गालियाँ न सिखाया करें । बहुत पहिराय उढ़ाय के अकेले न छोड़ा करें । पढ़ाने वाले से यह न कहा करें कि "जाव, हमार बच्चा भीख माँग खाई, न पढ़ी ।" जिन स्त्रियों से उन्हें हँसी करने का नाता है उनके पास अधिक न रक्खा करें । यही बहुत कुछ है ।

पिता का कर्तव्य मुख्य तो यह है कि यदि माता अपने कर्तव्य (जो पहिले लिखे गए हैं) न निभा सके तो यथावकाश स्वयं उन पर ध्यान रक्खें, नीति के साथ उन्हें (स्त्रियों को) निज कृत्य के योग्य बनाने की चेष्टा करते रहें । नोचेत् न्हाने खाने सोने के अतिरिक्त उनकी संगति ही से दूर रक्खें । भोजन, वस्त्र, शरीर और गृह की स्वच्छता पर ध्यान रखना परम कर्तव्य है । भोर साँझ के समय निर्मल वायु सेवन, समयानुकूल व्यायाम कसरत, सोने जाने का नियत काल, सबसे सरल व्यवहार, भले लोगों का संग, भले कामों में रुचि, भली बातों में श्रद्धा, मधुर भाषण इत्यादि भी पिता ही सिखा सकते हैं ।

लड़कों के बिगड़ने का हेतु बहुधा यही होता है कि उनके पितृचरण उनके आचरण पर या तो ध्यान ही नहीं देते हैं या उनका बात बात पर इतना दबाव रखते हैं कि वे निरे दबैल हो जायँ । घर में आ के स्त्री से अथवा बाहर निज मित्रों से स्वच्छंद वार्ता करते हैं । इसमें लड़कों का चित्त भी बिगड़ैल हो जाता है । अतः पिता को योग्य है कि ऐसे 2 अवसरों पर संतान का इतना ही संकोच रक्खें जितना संतान को बड़ों के आगे रखना चाहिए । इसके सिवा पुस्तकादि की असावधानता, पढ़ने से जी चुराना, नशा, जुवा, झगड़ा, बड़ों की बेअदबी इत्यादि से बचाने में पूर्ण प्रयत्न रखना चाहिए । जो नौकर उनके (लड़कों के) साथ रक्खे जायँ उनके स्वभाव की परीक्षा भी अवश्य कर लेनी चाहिए । ढीठ, मुँहलगे, दुरभाषी, दुराचारी न हों नहीं तो लड़कों का बिगड़ना बहुत सहज है । साथ के लड़कों को भी देखते रहना चाहिए कि कौन कैसा है ।

संगति का गुण बड़ों को लग जाता है, लड़के तो लड़के ही हैं । मामूली खर्च तथा मेले ठेले का खर्च भी सामर्थ्यानुसार विचार के इतना देना चाहिए जिसमें उन्हें अपव्ययी बनने की संभावना न हो अथच निज मित्रों से रिण लेने का भी अवसर न आवे । उत्तम तो यह है कि उन्हीं से पूछ के तथा उन्हें भली बुरी रीति समझा के दिया जाय । बड़ी सभाओं तथा विद्या संबंधी कौतुकों (इल्मी जलसों) एवं जिन तमाशों में कुवाच्य और कुकृत्यों की शिक्षा संभावित न हो उनमें जाने से कभी रोकना न चाहिए । बहुत प्रकार के बहुत से लोगों की बहुत सी बातें देखने सुनने से सहृदयता आती है । बरंच ऐसे स्थान पर

अपने साथ ले जाके प्रत्येक विषय को समझाते रहना चाहिए ।

जहाँ तक हो पुत्र से सुमित्र का सा बर्ताव रखना योग्य है जिसमें उसे अपनी कोई बात छिपाने की इच्छा स्वयं न हो । ऐसा होने से दृढ़शा है कि संतान के सुधरने का मार्ग खुला रहेगा । जो कुछ गुरु का कर्तव्य है वह भी कभी 2 तभी चरितार्थ होगा जब पिता स्वयं गुरु की परीक्षा कर लें । यह कलियुग है । इसमें बहुत ही थोड़े से ऐसे लोग हैं जो पराए लड़के को अपना लड़का समझ के केवल पोथी ही पढ़ा देना मात्र अपना कर्तव्य न समझते हों ।

अतः गुरुजी के चाल चलन को देख के उनके पास लड़के को पढ़ने भेजना पिता का मुख्य धर्म है । शास्त्र का यह वाक्य कि 'माता शत्रुः पिता बैरी येन बालो न पाठितः' अत्यंत सत्य है । पर यदि पाठक सुपठित और सच्चरित्र न हुवा तो पढ़ाना भी दुर्व्यसन मोल लेना है । इससे तो यदि संभव हो तो पिता आप ही पढ़ावे, नहीं तो यह समझ ले कि पढ़े लिखे कुमारगी से बिना पढ़ा सज्जन अच्छा । जिन युवा पुरुषों को हम स्वतंत्राचारी देखते हैं उन्होंने बहुत सी बातें पाठशाला ही में सीखी हैं, अतः पिता को योग्य है कि लड़कों को पढ़ने पीछे भेजे, पहिले कुछ दिन तक यह निश्चय कर ले कि पढ़ाने वाले कैसे हैं ।

पढ़ाने वाला मतवाला न हो नहीं तो अन्य मत के बालकों को आफत होगी । यह दोष जिस मनुष्य में होगा वुह दूसरों का सच्चा हितेच्छु कभी नहीं हो सकता । यदि पढ़ाने में श्रम भी करेगा तो निज मत के आग्रह के मारे सदैव शिष्यों के कुलाचार की निंदा करेगा, जिसका फल यह होगा कि या तो लड़के अपने पूर्वजों की रीति नीति को तुच्छ समझने लगेंगे या गुरुजी की गुरुआई ही को मकड़ी की तरह झाड़ डालेंगे या सदा मन ही मन कुढ़ा करेंगे या सभी प्रकार की बातें कुबातें सह लेने के लती हो जायँगे । यह चारों बातें बुरी हैं ।

क्षमाशीलता के हम द्वेषी नहीं हैं, पर बहुत सी बातें ऐसी भी होती हैं जिनका सहन करना निरी नीचता, महा बेगैरती है । मतवाले का दूसरा अर्थ नशेबाज है । यह भी यद्यपि सबके लिए दूषित है पर शिक्षक के लिए महा दुर्गुण है । इसके होने से गुरुजी पढ़ाने में चाहे जी भी लगावें पर 'खरभूजे को देख के खरभूजा रंग पकड़ता है', क्या आश्चर्य है शागिर्द साहब भी गुरुजी के आचरण देखते 2 भंगड़ सुलतान अथवा होटलगामी हो बैठें ।

हमारे पुराने ढंग के हिंदू भाई लड़कों को मिशन स्कूल में भेजना नहीं पसंद करते । यह उनकी भूल नहीं है बरंच बड़ी दूरदर्शिता है । हम यह नहीं कह सकते कि वहाँ जाके सब क्रिस्तान हो जाते हैं पर इसमें संदेह नहीं है कि अपने सनातनाचार को वे उतना आदरणीय नहीं समझते जितना कि चाहिए । यही कौन भलाई है । बहुधा पढ़ाने वालों में यह दोष भी होता है कि चेले में औ नौकर में भेद ही नहीं समझते ।

चिलम भरना, तरकारी खरीदना, पंखा खींचना, सभी काम शिष्य ही के माथे । यह भी बड़ा हानिकारक बर्ताव है । हाँ, पढ़ने वाले का धर्म है कि गुरु सेवा में तत्पर रहे पर गुरु का भी यह धर्म है कि शिष्य को पुत्र की भाँति समझे । यह बात और है कि संथा दे दी गई है, छुट्टी का समय है, कोई ऐसा ही आवश्यक काम है अथवा और कोई कार्यकर्ता नहीं है तो शिष्य ही से कह दिया, पर यह क्या अँधेर है सारे काम लड़के ही के सिर पटक दिए जायँ ।

हिंदू विद्यादाता तो खैर यह विचार भी रखते हैं कि अमुक काम करने योग्य है अमुक नहीं है, पर

बहुतेरे मौलवियों के यहाँ हमने द्विज जाति के बालकों को चिलम भरते और पाँव दबाते, पंखा खींचते और झाड़ू देते देख के खेदपूर्वक यही विचार किया है कि लड़के तो अजान हैं औ शिक्षक भी बिधर्मी होने से इतना दोषास्पद नहीं है, पर माता पिता निश्चय तुच्छ एवं स्वार्थान्ध हैं। उनके इज्जत है न गैरत। हमने ऐसा शोकजनक दृश्य देख के कई बेर बालकों के माता पिता से कहा पर उन निर्लज्जों से यही उत्तर पाया कि उस्ताद का दर्जा बड़ा है। यह सच है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि ब्राह्मण क्षत्रियों के लड़के इतने तेजभ्रष्ट कर दिए जायँ। हम आशा करते हैं कि हमारे पाठकगण ऐसे गुरुओं से अपने प्यारे बच्चों को दूर रखेंगे।

काम, क्रोध, लोभ और मोह को बुद्धिमानों ने बहुत बुरा ठहराया है पर हमारी समझ में पढ़ाने वाले के लिए मोह कोई औगुण नहीं है, क्योंकि वह प्रवृत्तिमार्ग का पथदर्शक है और प्रवृत्तिरूपी रेल का अंजिन यही मोह है। यदि शिष्य के साथ सरल चित्त से गुरुजी पुत्र का सा बर्ताव रखें तो अहोभाग्य। क्रोध भी यदि काम और लोभ का सहवर्ती न हो तो कोई दोष नहीं बरंच गुण ही है।

चेले डरते रहेंगे तो बहुतेरी बुराइयों से बचेंगे। बहुधा देखा गया है कि क्रोधी गुरु के चेले पढ़ने में आलसी और ढीठ नहीं होते पर काम और लोभ निश्चय महा कुलक्षण हैं। बहुतेरे पंडित मौलवी और मास्टरों को हम देखते हैं कि जो लड़के उनकी भेंट पूजा नहीं करते उनकी ओर वे बहुत कम ध्यान रखते हैं। हमने स्वयं कई वर्ष स्कूलों में पढ़ाया है और कई लोगों की परीक्षा भी कर ली है कि बाजे 2 मास्टरों ने लड़के से कहा कि 'हमें एक रुपया दो तो तुम्हारा प्रोमोशन कर दें'। भला इस दशा में लड़के बिचारे क्या सीख सकते हैं ? इसके सिवा कानपुर में कई शिक्षक ऐसे भी हैं कि जिनके लक्षण किसी से छिपे नहीं हैं।

हम यदि उनके सच्चे 2 चरित्र लिखने बैठें तो एक अच्छी खासी लंबी चौड़ी बहार इश्क के ढंग की मसनवी बन जाय। पर सभ्यता बाधक होती है और यह भी जी में आता है कि सत्य का जमाना नहीं है, क्यों नाहक बिरोध बढ़ाइए। पर उन माता पिताओं को चाहिए कि यदि सचमुच अपने प्यारे बच्चों के शुभचिंतक हैं तो ऐसे तृणाच्छादित कूपवत गुरुघंटालों से उन्हें बचावें। वहाँ उनके पढ़ने की आशा थोड़ी है, बिगड़ना प्रत्यक्ष है। हमारे प्यारे देशभक्तों का धर्म है कि अपने 2 नगर में ऐसे पढ़ाने वालों को सुशिक्षा दें अथवा शिक्षा विभाग के ऊँचे अधिकारियों द्वारा उन्हें ठीक रखने का प्रयत्न करते रहें। परमेश्वर की दया से हमारी वर्तमान सर्कार ऐसी नहीं है कि प्रमाणपूर्वक निवेदन पर ध्यान दे।

हम स्वयं अपने दुखों को न प्रकाश करें तो हमारी भूल है। बहुतेरे पाठकों में यह भी अपलक्षण होता है कि वे अपने शिष्यों को उन सभाओं में जाने से भी रोकते हैं जो सभा वास्तव में अच्छी बातें प्रचार करती हैं। पर उनमें कोई एक आध व्यक्ति ऐसा है जिससे सकारण व निष्कारण मास्टर साहब को द्वेष है। यह नहीं समझते कि एक पुरुष की ईरषा के कारण किसी समूह को देशोपकारी शिक्षा से बंचित रखना अन्याय नहीं तो क्या है ?

खं० 5, सं० 5, 6, 7, 9 (15 दिसंबर, ह० सं० 4 और 15 जनवरी, 15 फरवरी, 15 अप्रैल, ह० सं० 5)

आल्हा आह्लाद

रसिकों के लिए संसार रसमय है अतः हम दिखाया चाहते हैं कि आल्हा में भी क्या मधुर रस है। जिस छंद में आल्हा गाया जाता है वुह यद्यपि किसी प्रसिद्ध पिंगल में हमने नहीं देखा पर अनेक विद्वानों का मत है कि वह कड़खा छंद है जिसका प्रस्तार यों है कि पहिली यदि 16 मात्रा पर होती है दूसरी 15 पर और अंत का अक्षर अवश्य लघु एवं उसके पहिले का एक अवश्य गुरु हो। मात्रा छंद होने से कुछ अधिक बंधन नहीं है। युद्ध में वीरों को उत्साह दिलानेवाले गीतों को कड़खा कहते हैं। और आल्हा में विशेषतः वीरों ही का वर्णन होता है। कहते भी मंगलाचरण (संवरनी) में हैं कि 'बीर पंवारो मैं गावत हौं भूले अच्छर देव बताय'। इसी मूल पर छंद का नाम भी कड़खा पड़ गया है, नहीं कड़खा छंद का रूप और है और आल्हा (कदाचित यह नाम अल्हन सिंह हो) का चरित्र ही इस छंद में बहुधा गाया जाता है।

अतः इस गीत को भी आल्हा कहते हैं। जिन दिनों इस देश में मुसलमानों का आना लगातार आरंभ हुवा था, हिंदुओं में आपस का विरोध फैला हुवा था, दिल्ली में पृथ्वीराज अर्थात् पिथौरा, कनौज में जयचन्द (कनौजी) राज करते थे वही आल्हा के जन्म मरण का समय था। इनके पिता देशराज, माता देबकुमारी (देबै) थीं। महोबे के चन्द्रवंशी राजा प्रमल्ल (परिमाल) के यह सेनापतियों में थे। यह घोर उपद्रव के समय में थे और परिमाल भीरु राजा था इससे इनके जीवन का अधिक अंश लड़ाई भिड़ाई में बीता था। यह एक चतुर और नीतिज्ञ पुरुष थे और इनके छोटे भाई उदयसिंह वीर स्वभाव के थे। इतिहास आल्हा में इतना ही है।

पर आल्हा का पंवारा (गीत) एक ऐसी अकृत्रिम ग्राम भाषा में और ऐसे सरल और हृदयग्राही भाव में होता है कि मूर्ख और बुद्धिमान सभों को प्रिय है। जिस टाइप के लोग संस्कृत न जानने पर भी भाषा कविता के निन्दक होते हैं (बाजे 2 बज्र मूर्ख भाषा में होने के कारण रामायण और सतसई को भी तुच्छ समझते हैं) ऐसे ही बहुत से पुराने ढंग के मुंशी यद्यपि फारसी कुछ ही जानते हैं पर उरदू को निंदनीय ही कहते हैं। सिवा ऐसों के और जिसने घंटे दो घंटे आल्हा सुना होगा वुह प्रशंसा ही करेगा यदि ग्राम्य भाषा समझता हो, क्योंकि कानपुर, फतेहपुर, बाँदा, फर्रुखाबाद के जिले की ग्राम्य भाषा स्वभावतः ऐसी मधुर होती है कि ब्रजभाषा की कविता में मिला देने से खड़ी बोली की तरह निरस नहीं जँचती।

हमें जहाँ तक स्मरण है वहाँ तक कहेंगे कि समाचारपत्रों में हमारे पूर्व शायद इस गान को किसी ने स्थान नहीं दिया। पर यह कविता रसास्वादियों के अनुकूल समझ के जब हमने 'ब्राह्मण' में आल्हा लिखा तो किसी सहृदय को निस्वादु नहीं जँचा प्रत्युत हमारे माननीय पंडितवर रामप्रसादजी त्रिपाठी, जो प्रयाग के एकमात्र भूषण हैं, उन्होंने 'हिंदोस्थान' में उस छंद को लिख के हमें प्रोत्साहित किया। यह इस बात का एक पुष्ट प्रमाण है कि आल्हा भी स्वादु से शून्य औ टकसाल से बाहर नहीं है। इससे हम आशा करते हैं कि हमारे दूसरे सहयोगी भी इस मधुर ध्वनि को अपने पत्रों में लिखके रसिकों को आनंद देते रहें। विशेषतः जिन महाशयों को हिंदी कविता का अच्छा अभ्यास नहीं है वे दूसरे छंदों तथा ब्रजभाषा की टाँग न तोड़ के अपने प्रांत की बोली में इस छंद को लिखा करें तो उन्हें अधिक सुभीता हो। क्योंकि यह सीधा छंद है, अशुद्धि का बहुत भय नहीं है। तुक के मिलने की भी इसमें विशेष चिंता

नहीं होती क्योंकि यह हमारा शून्य वृत्त (ब्लैंकवर्स) है ।

बड़े 2 व्याख्यान लिखने के लिए दोहा, चौपाई, लावनी और आल्हा से अधिक और छंदों में सुभीता नहीं होता । इन्हें जितना चाहें बढ़ा सकते हैं । पर सिवाय सादी दिहाती बोली के इसका मजा और भाषा में न आवेगा । विशेषतः आजकल परिष्कृत हिंदी और 'प्राप्त' 'व्याप्त' 'समाप्त' आदि कठिन काफिए इसका मजा और भी बिगाड़ देते हैं । 'हिंदोस्थान' में कांग्रेस आदि का आल्हा यद्यपि बहुत अच्छा है पर यदि सीधी गँवारी और बिना काफिया होता तो सोने में सुगंध हो जाती अथच उस्का मुख्य उद्देश्य भी बहुत ही अधिक फलता । हमारे यहाँ लोगों के जीवनचरित्र नहीं लिखे जाते इससे बड़ी हानि होती है । यदि यों होता तो हम यह भी लिख सकते कि पहिले पहल आल्हा को किसने वा किन्होंने प्रचार दिया । पर अनुमान यह कहता है कि मुसलमानी राज्य के आरंभ ही से इसका अधिक प्रचार हुआ और प्रचारक बड़े चतुर और रसिक थे । उसने जानबूझ के अपठित समुदाय को सामाष्टिक उद्देश्य की ओर झुकाने के लिए ऐसी बोली और ऐसा ढंग स्वीकार किया था ।

बहुत से पद अति गंभीर आशय से पूर्ण हैं, जो प्रत्येक अल्हइत के गाने में आते हैं, जिनमें कुछ हम यहाँ लिख के अपने पाठकों को काव्यानन्दयुक्त उपदेश किया चाहते हैं । कई एक पोथियाँ जो आल्हखंड के नाम से छपी हैं, उनमें आल्हा ऊदल का इतिहास मात्र है, आल्हा की रसीली बातें कम हैं और अब अल्हैत भी उन सब बातों को नहीं गाते । इसका कारण चाहे जो हो पर हम उन्हीं बातों को आल्हा का जौहर, अतर, रस या जो कहो समझते हैं ।

पहिले वे बेद (मिसरे) लिखे जाते हैं जो आल्हा में बहुधा नियत ठौर पर आया करते हैं । जो कोई प्रस्ताव इस धुन में लिखा चाहें उन्हें चाहिए कि यह पद स्मरण रक्खें और अपने लेख में जहाँ देखें कि आशय (मजमून) नहीं मिलता और छंद पूरा ही करना है वहाँ रख लिया करें । इन पदों के बिना लिखे प्रस्ताव वाले की अविज्ञानता झलकती है–1. 'मैं तुम्हें हालु देब बतलाय' । 2. 'ज्वानौ सुनियौ कान लगाय' । 3. 'भैया सुनियो बात हमारि' । 4. 'सुनौ हकीकत अब (कोई चार मात्रा का नाम) कै' । 5. जहाँ से दूसरे विषय का आरंभ हो वहाँ, 'हियाँ की बातैं तो हियवैं रहिं अब आगे को सुनौ हवाल ।' 'आगे' के ठौर पर कोई चार मात्रा का नाम भी रख सकते हो । 6. 'औंर बयरिया डोलन लागी औरै' होन लाग ब्यौहार ।' पाँचवाँ और छठवाँ पद दोनों एक संग भी ला सकते हो । 7. जहाँ कोई बात संक्षेप में कहना हो वहाँ यह पद रखना चाहिए–'ज्यादा कौन करै बकवादि ।' 8. मंगलाचरण में यह पद अवश्य लाने चाहिए–'भूले अक्षर देव बताय', अथवा 9. 'जो 2 अच्छर मात्रा भूलौं मेरे कंठ बैठि लिख जाव ।' 10. गावन वारे को गरु दीजों औ बजवैए दीजौ ताल, नाचन वारे को नैना देव मरद को देव ढाल तरवारि' अथवा, 11. जो सुर बाँधे ढोलन को बाँधे ताल मंजीरन, क्यार, गरो गवैया को जो बाँधे तेहिका खाँय कालिका माय' । जहाँ शीघ्रता का वर्णन हो वहाँ 'बीतै घरी 2 कै बेरि ।' 13. उत्सुकता, संदेह, शोक, अधीर्यादि के वर्णन में, 'हाय दैया गति जानि न जाय' । 14. उपदेश, उद्बोधन तथा साहसप्रदान में 'राम बनैहै तौ बनि जैहैं बिगरी (तथा 'भैया') बनत 2 बनि जाय ।' 15. किसी अच्छे काम का फल सूचित करने में, 'कीरति चली जुगाधिन जाय ।' 16. सब कर्म विमुखता पर भय दिखाने में, 'वहिं परे खटोली मा सरि जैहो घर में तिरिया देहै फुंकाय' अथवा 17. 'कौवा गीध मांस न खाय' । 18. अपना साहस दिखाने में, 'खटिया पर मिले बलाय' तथा 19. 'पाँव पछाड़ी हम धरिबे ना (चाहे) तन धंजीं 2 उड़ जाय' तथा 20. चाहे इंद्र बरूसैं सांगि, तथा 21. 'चाहैं मान रहै चहै

जाय ।' 22. कार्यदृढ़ता में, 'दुइ माँ एक अंकु रहि जाय', तथा 23. 'सब महनामथु जाय पटाय।' 24. जहाँ यत्न करने पर भी कार्यसिद्धि न हो वहाँ, 'जो हरि हरै तौ राखै कौन' तथा 'हम पर ('तुम पर' या 'वहि पर' जैसा मौका हो) रूठि गए भगवान ।' 25. किसी बैठक के वर्णन में, 'बिछे गलीचा उइ मखमल के जहँ मोरवन लग पायँ समायँ ।' 26. किसी नृत्यसभा के वर्णन में, 'तबला ठनकै बृजबासिन को (बृजवासिन के बदले चाहे जिस देश के बाद्यकार का नाम हो) बंगला (अथवा जो स्थान हो) माँ होय परिन का नाचु । अथवा 27. बारा जोड़ी नचै पतुरिया सोरह जोड़ भवैयन क्यार (कुछ बारह सोलह का नियम नहीं है) । 28. नृत्यबिसर्जन में, 'नचत कंचनी ठाढ़ी रहि गई भँडुअन तबला धरे उतारि।' 29. बीर सभा, 'तेगन के संग तेगा रगरैं ढालैं रगर 2 रहि जायँ । 30. अथवा, 'मछरी बीधनि धरी कटार ।' 31. वा, 'टिहना धरे नगनि तरवारि ।' 32. ऐसा सभा वा युद्ध की समाप्ति में, 'ज्वानन खोलि धरे हथियार ।' 33. राजसभा में, 'लगी कचहरी प्रथीराज (वा नुनि आह्ला अथवा पर मालिक तथा च कोई नाम) की बैठे बड़े 2 उमराय ।' 34. अथवा, 'भरमाभूत लगे दरबार ।' 35. वा, 'जिन घर भारी लगे दरबार ।' 36. ऐसे दरबार में कोई प्रस्ताव उठने पर, 'कलस सोबरन को मँगवाओ तेहि पर बीरा दओ धराय । है कोई जोधा मेरी नगरी (मजलिस, सेना वा कोई स्थान का नाम) माँ जो महुबे (दिल्ली वा कोई नगर तथा कार्य) पर पान चबाय ।' 37. किसी दूत का आगमन, 'तब लग दाखिल हैगा झुकि 2 करै बंदगी लगा ।' 38. अथवा, 'सात कदम ते करी बंदगी धावन हाथ जोरि रहि जाय ।' 39. वा 'सात कुन्सैं (कोरनिश) तेरह मोजरा जस कुछु राजन के व्यवहार ।' 40. सभा की समाप्ति, 'उठी कचेहरी भरौं परिगा औ बरखास भए दरबार ।' 41. पत्र पढ़ने की रीति, 'खोलि कदरनी तें बंद काटैं आँकुइ आँकु नजरि करि जायँ'; आजकल होना चाहिए, 'फारि लिफाफा रे चुटकी से ।' 42. और, 'पहिले बाचैं (वा लिखि गए) उइ सिरनामा औ पाछै कै दुवा सलाम ।' 43. रसोई का वर्णन, 'चढ़ी रोसैयाँ रजपूतन की बटुवन पकै हरिन को मांसु (यदि प्रस्तावना अन्य प्रकार की हो तो 'रजपूतन की' के ठौर पर, 'है बह्मन की' और 'हरिन की मांसु' के स्थान पर 'भातु और दालि' कहना दूषित नहीं है । 44. किसी बीर की चाल, 'जूता लपेटा मरकत आवै खटकत आवै ढाल तरवारि ।' 45. व, 'खटकत आवै भुजा पर ।' 46. अथवा गैंड़की चाल, 'रातिउ दौरैं औ दिन दौरैं बटिहा कहुँ न करैं मुकाम ।' 47. गाड़ी की चाल, 'खररररररर पैया बाजैं रब्बा चलैं पवन के साथ ।' 48. किसी सुंदरी की चाल, 'रुनुक झुनुक पग धरति धरनि पर कम्मर तीन बे लौचा खाय ।' 49. तलवार की चाल, 'आंवाझ्वार चलै तरवारि ।' 50. वा, 'रे तरवारि चलै पतिझारु ।' 51. किसी का क्रोध, 'कारी पुतरियाँ लाली परि गई नैना अगिनज्वाल है जायँ ।' 52. सोच, 'तरे की सासैं तरे हे रहि गईं उपरै ऊपर की रहि जायँ ।' 53. अथवा, 'राजा (वा कोई नाम) रहे सनाका खाय ।' 54. दुःख, 'मल्हना (वा किसी स्त्री अथवा पुरुष का नाम) छाँड़ि दई डिंडकार ।' 55. पुरुष की लज्जा, 'लटक कै मुच्छैं पिडरी होइगै ।' 56. वा, 'औझुकि गए मुच्छ के बार ।' 57. प्रसन्नता, 'फूलि कै ऊदन (वा कोई नाम) गरगजु हैगे ।' 58. अथवा, 'गजु भरि छाती भै ऊदन के (वा 'उदया' के) ।' 59. युद्धयात्रा, 'हाहाकारी बीतत आवे ।' 60. अथवा 'डंका होत गोल में जाय ।'

खं० 5, सं० 5, 6, 12 (15 दिसंबर, ह० सं० 4 और 15 जनवरी 15 जुलाई, ह० सं० 5)
तथा खं० 7, सं० 1, 2 (15 अगस्त, सितंबर, ह० सं० 6)

अहह कष्टमपंडितता विधेः

हाय भारत ! न जाने तुमसे दैव कब तक रुष्ट रहेगा । हा भगवति देवनागरी ! तुम्हारे भाग्य न जाने कब तक ऐसे ही रहेंगे । हाय वेद से लेके आल्हा तक की आधार हमारी प्यारी सर्व गुणागरी नागरी के अदृष्ट में न जाने क्या लिखा है कि इस बिचारी की वृद्धि के लिए हम चाहे जैसा हाय 2 करें पर सुनने वाला कोई देख ही नहीं पड़ता ! हाय, राजा अन्यदेशी होने के कारण इसके गुण नहीं समझते । प्रजा मूर्ख और दरिद्र होने से इसकी गौरवरक्षा नहीं कर सकती पर परमेश्वर को हम क्या कहें जो सर्वज्ञ अंतर्यामी, दीनबंधु इत्यादि अनेक विशेषणविशिष्ट होने पर भी हमारी मातृभाषा को भूला बैठा है ।

हा जगदीश ! क्या तुम्हारी दया से भी हमारे पाप बढ़ गए । हाय हिंदुस्तान ! क्या तुम्हारी स्थिति कागज पर भी दुष्ट दैव को अखरती है । अरे भाग्यहीन हिंदुस्तानियों ! क्या तुम्में अपनी भाषा तक की इतनी ममता नहीं रही कि दस बीस छोटे मोटे समाचारपत्रों को कायम रख सको ! हाय ! जब हम अन्य भाषाओं में सैकड़ों पत्रों के इसी देश में बहुत मूल्य होने पर भी हजारों ग्राहक देखते हैं तब हिंदी के अभाग्य पर रोना आता है कि इसी बिचारी ने न जाने क्या अपराध किया है कि किसी भाषा से किसी बात में कम न होने पर स्वयं अपने देश में इसके थोड़े से अत्यल्प मूल्य के पत्र महीं तिष्ठति निपाते ।

पाँच ही सात वर्ष के बीच में 'उचितवक्ता', 'भारतेन्दु', 'भारतोदय' आदि कई उत्तमोत्तम पत्र स्मृतिपथ को सिधार गए । जो थोड़े से एडिटरों के रक्त से सिंचित हो के बच भी रहे हैं उनके भी जीवन में हजार व्याधि लगी हुई हैं ! क्या यह भारत के लिए महाशोक और हिंदुओं के हक में बड़ी भारी लज्जा का विषय नहीं है ? हम समझे थे हमारे 'ब्राह्मण' ही के ग्रह मध्यम हैं पर तीन जनवरी का 'हिंदुस्थान' देख के और भी खेद हुवा कि यह बिचारा फरवरी से समाप्त ही हुवा चाहता है । केवल एक सौ बीस ग्राहकों के आसरे दैनिक पत्र कै दिन चले ? तीन वर्ष चला भी तो कुछ हिंदुस्तानियों की करतूत से नहीं केवल श्रीमान विशेनवंशभूषण समरविजयी राजा रामपाल सिंह महोदय के उत्साह से चला ।

यदि वे प्रतिमास सैकड़ों रुपये की हानि सह के इसे जीवित न रखते तो अब तक कब का हो बीता होता । पर वे कब तक इस नित्य की हानि को अंगेजें । इसी से हतोत्साह होके विज्ञापन दे दिया है कि यदि 400 ग्राहक जनवरी भर में हो जायँ तो इसे रख सकते हैं नहीं तो बंद कर देंगे । हमारी समझ में एक मास में इतने सच्चे ग्राहक होना असमंजस है अतः अब हमारी भाषा के एकमात्र दैनिक पत्र रहने की आशा नहीं है । हा भारत ! क्या बीस कोटि हिंदुओं में से 10) साल खर्चने वाले चार सौ लोग भी नहीं हैं ! हा ! हा !! हा !!!

खं० 5, सं० 6 (15 जून, ह० सं० 5)

किस पर्व में किसकी बनि आती है

श्री रामनौमी में भक्तों की बन आती है। व्रत केवल दुपहर तक का है, सो यों भी सब लोग दुपहर के इधर उधर खाते हैं। इससे कष्ट कुछ नहीं और आनंद का कहना ही क्या है, भगवान का जन्मदिन है। अनुभवी को अकथनीय आनंद है। मतलबी को भी थोड़े से शुभ कर्म में बहुत बड़ी आशा है।

बैशाख में कोई बड़ा पर्व नहीं होता तो भी प्रातः स्नान करने वालों को मजा रहता है। भोर की ठंढी हवा, सो भी बसंत ऋतु की। रास्ते में यदि नीम का वृक्ष भी मिल गया तो सुगंध से मस्त हो गए। ऊपर से एक के एक चंद्राननी का दर्शन !

जेठ में दशहरा को गंगापुत्रों की चाँदी है। गरमी के दिन ठहरे, बड़ा पर्व ठहरा, नहाने कौन न आवैगा और कहाँ तक न पसीजेगा। आषाढ़ी को चेला मूँड़ने वाले गोसाइयों के दिन फिरते हैं। गरीब से गरीब कुछ तो भेंट धरेईगो !

नागपंचमी में लड़कियों का, (परमेश्वर उनके माता पिता को बनाए रखे)।

भादों में हलषष्ठी को भुजरियों के भाग जगते हैं, जिसे देखो वही बहुरी बहुरी कर रहा है। हमारे पाठक कहते होंगे, जन्माष्टमी भूल गए। पर हम जब आधी रात तक निर्जल रहने की याद दिला देंगे, तब यकीन है कि वे भी सब आमोद प्रमोद भूल जायँगे, क्योंकि 'भूखे भगति न होय गुपाला।'

कुँआर का कहना ही क्या है ! प्रोहित जी पित्रपक्षों भर सबके पिता पितामहादि के रिप्रिजेंटेटिव (प्रतिनिधि) बने हुए नित्य शष्कुली खाते और गुलछर्रे उड़ाते हैं ! फिर दुर्गापूजा में बंगाली मासा पेट भर 2 मांस खाते और तोंद फुलाते हैं। कार्तिक में यों तो सभी को सुख मिलता है पर हमारे अटीबाजों की पौबारह रहती है। 'न हाकिम का खटका न रैयत का गस।' सरे बाजार मतलब गाँठना, विशेषतः दिवाली में तो देश का देश ही उनकी 'स्वार्थसाधिनी' सभा का मेंबर हो जाता है ! पीछे से 'आकबत की खबर खुदा जाने', आज जो राजा, बाबू, नवाब, सर (अंग्रेजी प्रतिष्ठावाचक शब्द), हजरत, श्रीमान् सब आप ही तो हैं !

अगहन और पूस हिंदुओं के हक में मनहूस महीने हैं। इनमें शायद कोई त्योहार होता हो। पर बड़ा दिन बहुधा इन्हीं में होता है। इससे मेवाफरोशों तथा हमारे गौरांग देवताओं का मुँह मीठा होता है !

माघ में स्नानादि अखरते हैं, इससे धर्मकार्य ही कम होते हैं, परबें कहाँ से हों ! पर हाँ बसंतपंचमी के दिन धोबियों की महिमा बढ़ जाती है। घर 2 श्री पार्वतीदेवी की स्थानाधिकारिणी बनी पुजाती फिरती है। हम नहीं जानते कि यह चाल कब से चली है और कौन उत्तमता सोच के चलाई गई है।

फागुन के तो क्या 2 गुन गाइएगा, होली है ! ऐसा कौन है जो खुशी के मारे पागल न हो जाता हो ? जब जड़ वृक्ष आम बौराते हैं आम खास सभी के बौराने की क्या बात है ! पर सबसे अधिक भँड़ुओं का महत्व बढ़ जाता है ! बड़े 2 दरबारों में उनकी पूछ पैठार होती है, बड़े 2 लोगों को उनकी पदवी मिलती है। 'आ आ आए होली के भँड़ुआ', बस सिर से पाँव तक तर हो गए !

खं० 5, सं० 8 (15 मार्च, ह० सं० 5)

किस पर्व में किस पर आफत आती है

नौरात्र (चैत्र और कुँआर दोनों) में बकरों पर। हमारे कनौजिया भाई एवं बंगाली भाई उन बिचारे अनबोल जीवों का गला काटने ही में धर्म समझते हैं।

बैशाख, जेठ, असाढ़, बरी हैं तौ भी छोटी मछलियों को आसन पीड़ा है ! जिसे देखो वही गंगाजी को मथ रहा है।

सावन में, विशेषतः रक्षाबंधन के दिन, कंजूस महाजनों का मरन होता है। इनका कौड़ी 2 पर जी निकलता है पर ब्राह्मण देवता मुसकें बाँधने की रस्सी की भाँति राखी लिए छाती पर चढ़े घर में घुसे आते हैं।

भादों में स्त्रियों की मरही होती है। हरतालिका पानी पीने में भी पाप चढ़ाती है ! बहुत सी बुढ़ियाँ तमाखू की थैली गाले पर धर के पड़ी रहती हैं। सभी तो पतिव्रता हईं नहीं, दिन भर पति से खाँव 2 करती हैं। कहीं पावे तो उस ऋषि की दाढ़ी जला दें जिसने यह ब्रत निकाला है !

पित्रपक्ष में आर्यसमाजी कुढ़ते 2 सूख जाते होंगे। 'हाय हम सभा करते, लेक्चर देते मरते हैं, पर पोप जी देश भर का धन खाए जाते हैं।'

कातिक में, खासकर दिवाली में आलसी लोगों का अरिष्ट आता है ! यहाँ मुँह में घुसे हुए मुच्छों के बाल हटाना मुशकिल है, वहाँ यह उठाव, वुह धर, यहाँ पुताव, वहाँ लिपाव, कहाँ की आफत !

अगहन पूस तो मनहूस हई हैं, विशेषतः धोबियों के कुदिन आते हैं। शायद ही कभी कोई एकाध दुपट्टा उपट्टा धुलवाता हो।

माघ का महीना कनौजियों का काल है। पानी छूते हाथ पाँव गलते हैं। पर हमें बिना स्नान किए फलाहारी खाना भी धर्मनाशक है ! जलसूर के माने चाहे जो हों, पर हमारी समझ में यही आता है कि सूर अर्थात् अंधे बन के, आँखें मूँद के लोटा भर पानी पीठ पर डाल लेने वाला जलसूर है !

फागुन में होली बड़ा भारी पर्व है। सबको सुख देती है। पर दुख भी कइयों को देती है। एक माड़वारी दिन भर खाना है न पीना, डफ पीटते 2 हाथ रह जाता है। हौकते 2 गला फटता है। कहीं अकेले दुकेले शैतान चौकड़ी (लड़कों के समूह) में निकल गए तो कोई पाग उतारै छै, कोई धाप मारै छै, कोई कीचड़ उछारै छै ! क्या करें बिचारे एक तो हिंदू, दूसरे कमजोर, तीसरे परदेशी, सभी तरह आफत है ! दूसरे नई रोशनी वाले देशभाइयों की बैलच्छ देख 2 जले जाते हैं। यह चाहते हैं सब ज्येंटिलमैन बन जायँ, वहाँ आदमी बनना भी नापसंद है। मुँह रंगे हनुमानजी की बिरादरी में मिले जाते हैं ! तीसरे…चौथे दाढ़ी वाले हिंदू दिन भर रंग अबीर धोओ पर ललाई कहाँ जाती है ! जो किसी ने गंधा पिरोजा लगा दिया तो और आफत है। लो, इतने हमने बता दिए, कुछ तुम भी सोचो ! अक्किल है कि चरने गई है।

खं० 5, सं० 8 (15 मार्च, ह० सं० 5)

एक विचार

गत मास में हमने 'समझने की बात' लिखी थी। उसमें अपने पाठक महाशयों को महीने भर तक कोई देशहित का काम सोचने की मुहलत दी थी पर किसी सज्जन ने कुछ न बताया कि क्या कर उठाना चाहिए, अतः हमी अपनी प्रतिज्ञानुसार लिखते हैं। पर याद रखो 'खान पियन अरु लिखन पढ़न सो काम न कछू चलो री। आलस छाँड़ि एक मत ह्वै कै साँची वृद्धि करौ री। समय नहिं नेक बचौ री। भारत में मची है होरी'। भाई, इस होली में जहाँ चार डेरे नचवाओगे वहाँ समझ लो पाँच नचाए। जहाँ दस बोतलें ढहती हैं वहाँ बारह सही। पर थोड़ा-थोड़ा रुपया जमा करके एक अनाथालय कानपुर में भी कायम करो। देखो हर साल सैकड़ों लोग मोरिशस टापू (मिर्च के मुल्क) को चल देते हैं। सैकड़ों हिंदू मुसलमानों के अनाथ लड़के या तो भूखों मर जाते हैं या पादरी साहब के यहाँ पल के तुम्हारे किसी काम के नहीं रहते। क्या तुम्हें इन विचारों पर कुछ दया नहीं आती ? क्या अनाथालय स्थापित होने से तुम्हारे देश का भला न होगा ? तुम्हें सच्चा पुन्य न होगा ?

एक समूह का समूह तुम्हारी दया से भूखों मरने और भ्रष्ट होने से बच के तुम्हारा सहायक रहेगा औ जन्म भर गुण मानेगा। फिर क्यों नहीं इसका आज ही उद्योग करते ? गोरक्षा में कई एक अड़चनें हैं तौ भी परिश्रम के बल से कुछ चल ही निकली और उसके अगुआओं को कुछ लोग परलोक का भय, लज्जा, विचार होगा तो चाहे हजार दिक्कतें पड़ें, पर जैसे तैसे चलाए ही जायँगे। पर इसमें तो कोई अड़चन नहीं है। हमारी सर्कार भी अवश्य सहायता करेगी क्योंकि यह मनुष्यरक्षिणी सभा है। ईसाइयों के पाले हुए हर एक अनाथ बालक और बालिका को सर्कार दो रुपया महीना देती है।

क्या तुम अच्छा प्रबंध दिखाओगे तो तुम्हारे पालितों को न देगी ? अवश्य देगी। कई अनाथालयों को (जो हिंदू मुसलमानों के हैं) देना स्वीकार किया है। विशेषतः इस नगर के लिए तो एक बड़ा भारी सुभीता यह है कि श्रीयुत पंडित अमरनाथ जी स्वर्गवासी (जिनके द्रव्य से यहाँ का गवर्नमेंट स्कूल चलता है) का रुपया ऐसे ही ऐसे देशहित के कामों में उठाने को रखा हुआ है। पर खेद है कि जिस धर्मबीर पुरुष ने अपनी गाढ़ी कमाई हमारे हेत लगाई है उसका हमारे बहुत से भाई नाम भी नहीं जानते। गवर्नमेंट स्कूल या जिला स्कूल इस नाम से उनका नाम स्मरण कहाँ होता है।

हाँ, यदि (अमर अनाथालय) स्थापित हो तो उनका यश भी कायम रहे, हमारी स्थानीय गवर्नमेंट को घर से कुछ बहुत न देना पड़े, राजा प्रजा दोनों को पुन्य और देश का एक बड़ा भारी काम हो। कुछ दिन हुए कि कुछ लोगों ने इसकी चर्चा छेड़ी थी पर वुह चर्चा गोरक्षा तथा हिंदुओं के विरोधियों की ओर से थी, इससे कुछ न हुआ।

हमें पूरी आशा है कि हमारे नगर के कोई प्रतिष्ठित पुरुष इसमें अग्रसर होंगे तो बहुत से सज्जन हिंदू और माननीय मुसलमान उनका साथ देने को उद्यत हो जायँगे और यह सदनुष्ठान ऐसी अच्छी रीति से चल डगरेगा कि दश ही पाँच वर्ष में कानपुर कुछ का कुछ दिखाई देने लगेगा। देखें कौन माई का लाल विप्रबचन परमान कर दिखाता है। हे अनाथनाथ किसी को तो प्रेरणा करो !

खं० 5, सं० 8 (15 मार्च, ह० सं० 5)

संसार की अद्भुत गति है

यह एक प्रसिद्ध नियम है कि जो व्यक्ति जैसा होता है उसके काम भी वैसे ही होते हैं। कोई पुस्तक ले बैठिए, उसके आशय देख के बनाने वाले के स्वभाव का बहुत कुछ परिचय हो जायगा। कोई वस्तु देखिए तो यह जरूर विदित हो जायगा कि उसका निर्माण करने वाला चतुर है अथवा गाउदी। इस नियम के मूल पर इस दुनियाँ पर दृष्टि फेंकिए तो स्पष्ट हो जायगा कि इसकी विचित्र गति है।

आप कैसे ही बुद्धिमान क्यों न हों पर संसार की किसी बात का दृढ़ निश्चय नहीं कर सकते। जबकि इसका बनाने वाला परमेश्वर ही ऐसा है कि उसके रूप गुण स्वभाव सर्वथा अकथनीय, अतर्कनीय, अचिंतनीय हैं, यहाँ तक कि बड़े 2 आचार्यों ने उसका एक लक्षण ही 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थः' निश्चित किया है तो उसकी सृष्टि ऐसी क्यों न हो?

आप यह सिद्धांत रक्खा चाहें कि दिन में प्रकाश होता है तो कभी 2 ग्रहण पड़ने पर ऐसा अंधकार देख पड़ेगा कि छोटी मोटी रात्रि भी उसके आगे क्या है? यह निश्चय कीजिए कि रात में अवश्य अँधेरा होता है तो कभी 2 लाखों तारे टूट के इतना उजियाला कर देंगे कि दिन की क्या गिनती है। सब लोग कहते हैं, 'दो दिन खाने को न मिले तो अच्छे अच्छों को जीना कठिन हो जाय।' हम देखते हैं महानिर्बल रोगी भी दो 2 सप्ताह तक दाना नहीं घोंटते। सब जानते हैं कि घर तथा वाटिका के वृक्ष बिना सींचे मुरझा जाते हैं, पर हमने देखा है कि बन और पर्वतों में एक से एक कोमल पौधे पड़े हैं जिन पर कभी कोई बूँद भर पानी डालने नहीं गया पर उनकी एक पत्ती भी नहीं सूखती। रीछ भेड़िया आदि बनैले जीव मनुष्यों के भक्षक प्रसिद्ध हैं पर उनके बिल से 10-10 बरस के लड़के जीते जागते निकले हैं।

सबको निश्चय है कि सज्जनों को अच्छी मौत मिलती है। इसके विरुद्ध राम, कृष्ण, ईसा, मुहम्मद, शंकराचार्यादि की कथा देख लीजिए, जन्म भर लोकोपकार ही में रहे पर अंत समय कोई फाँसी चढ़ाया गया, किसी को विष दिया गया। सब जानते हैं कि 'जो कल्पावैगा वुह क्या फल खावेगा' पर आँखें खोल के देखो तो वही लोग जो अपने पापी पेट को भरना और झूठी खुशामद करना जानते हैं, देश भर अन्याय से पीड़ित हो के मर जाय तो उनकी बला से, वही बड़ी 2 पदबी, बड़ी 2 प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं।

खं० 5, सं० 9 (15 अप्रैल, ह० सं० 5)

दाँत

इस दो अक्षर के शब्द तथा इन थोड़ी-सी छोटी 2 हड्डियों में भी उस चतुर कारीगर ने वह कौशल दिखलाया है कि किसके मुँह में दाँत हैं जो पूरा 2 वर्णन कर सके! मुख की सारी शोभा और यावत

भोज्य पदार्थों का स्वादु इन्हीं पर निर्भर है । कवियों ने अलक (जुल्फ), भ्रू (भौं) तथा बरुणी आदि की छवि लिखने में बहुत 2 रीति से बाल की खाल निकाली है, पर सच पूछिए तो इन्हीं की शोभा से सबकी शोभा है ।

जब दाँतों के बिना पुपला सा मुँह निकल आता है और चिबुक (ठोढ़ी) एवं नासिका एक में मिल जाती हैं उस समय सारी सुघराई मट्टी में मिल जाती है । नैनबाण की तीक्ष्णता, भ्रूचाप की खिंचावट और अलकपन्नगी का विष कुछ भी नहीं रहता । कवियों ने इसकी उपमा हीरा, मोती, माणिक से दी है वह बहुत ठीक है बरंच यह अवयव कथित वस्तुओं से भी अधिक मोल के हैं । यह वह अंग है जिसमें पाकशास्त्र के छहों रस एवं काव्यशास्त्र के नवों रस का आधार है । खाने का मजा इन्हीं से है ।

इस बात का अनुभव यदि आपको न हो तो किसी बुड्ढे से पूछ देखिए, सिवाय सतुआ को चाटने के और रोटी को दूध में तथा दाल में भिंगो के गले के नीचे उतार देने के दुनिया भर की चीजों के लिए तरस ही के रह जाता होगा । रहे कविता के नौरस, सो उनका दिग्दर्शन मात्र हमसे सुन लीजिए ।

1. शृंगार का तो कहना ही क्या है । ऐसा कवि शायद कोई ही हो जिसने सुंदरियों की दंतावली तथा उनके गोरे गुदगुदे गोल कपोल पर रदछद (दंतदाग) के वर्णन में अपने कलम की कारीगरी न दिखाई हो ! आहा हा ! मिस्सी तथा पान रंग रँगे अथवा यों ही चमकदार चटकीले दाँत जिस समय बातें करने तथा हँसने में दृष्टि आते हैं उस समय रसिकों के नयन और मन इतने प्रमुदित हो जाते हैं कि जिनका वर्णन गूँगे की मिठाई है । 2. हास्य रस का तो पूर्णरूप ही नहीं जमता जब तक हँसते 2 दाँत न निकल पड़ें । (पर देखना कहीं मक्खी लात मार न जाय) 3. करुणा और 4. रौद्र रस में दुःख तथा क्रोध के मारे दाँत अपने होंठ चबाने के काम आते हैं । एवं अपनी दीनता दिखा के दूसरे को करुणा उपजाने में दाँत दिखाए जाते हैं । रिस में भी दाँत पीसे जाते हैं । 5. सब प्रकार के बीर रस में भी सावधानी से शत्रु की सैन्य अथवा दुखियों के दैन्य अथवा सत्कीर्ति की चाट पर दाँत लगा रहता है । 6. भयानक रस के लिए सिंह व्याघ्रादि दाँतों का ध्यान कर लीजिए, पर रात को नहीं, नहीं तो सोते से चौंक भागोगे । 7. वीभत्स रस का प्रत्यक्ष दर्शन करना हो तो किसी जैनियों के जैनी महाराज के दाँत देख लीजिए जिनकी छोटी सी स्तुति यह है कि मैल के मारे पैसा चपक जाता है । 8. अद्भुत रस में तो सभी आश्चर्य की बात देख सुन के दाँत बाय, मुँह फैलाय के हक्का बक्का रह जाते हैं । 9. शांत रस के उत्पादनार्थ श्री शंकराचार्य स्वामी का यह महामंत्र है—'अंगं गलितं पलितं मुंडं दशनविहीनं जातं तुंडम् । कर धृत कंपित शोभित दंडं तदपि मुंचत्याशापिंडम् । भज गोविंदं भज गोविंदं गोविंदं भज मूढ़ मते ।'

सच है जब किसी काम के न रहे तब पूछे कौन ? 'दाँत खियाने खुर घिसे पीठ बोझ नहिं लेइ । ऐसे बूढ़े बैल को कौन बाँध भूसा देइ ।' जिस समय मृत्यु की दाढ़ के बीच बैठे हैं, जल के कछुवे, मछली, स्थल के कौवा, कुत्ता आदि दाँत पैने कर रहे हैं, उस समय में भी यदि सत चित्त से भगवान का भजन न किया तो क्या किया ?

आपकी हड्डियाँ हाथी के दाँत तो हईं नहीं कि मरने पर भी किसी के काम आवैंगी । जीते जी संसार में कुछ परमार्थ बना लीजिए, यही बुद्धिमानी है । देखिए, आपके दाँत ही यह शिक्षा दे रहे हैं कि जब तक हम अपने स्थान, अपनी जाति (दंतावली) और अपने काम में दृढ़ हैं तभी तक हमारी प्रतिष्ठा है । यहाँ तक कि बड़े 2 कवि हमारी प्रशंसा करते हैं, बड़े 2 सुंदर मुखारविंदों पर हमारी मोहर 'छाप' रहती

है । पर मुख से बाहर होते ही हम एक अपावन, घृणित और फेंकने योग्य हड्डी हो जाते हैं– 'मुख में मानिक सम दशन बाहर निकसत हाड़' । हम नहीं जानते कि नित्य यह देख के भी आप अपने मुख्य देश भारत और अपने मुख सजातीय हिंदू मुसलमानों का साथ तन, मन, धन और प्रानपन से क्यों नहीं देते । याद रखिए, 'स्थान भ्रष्टा न शोभंते दंता केशा नखा नराः ।'

हाँ, यदि आप इसका यह अर्थ समझें कि कभी किसी दशा में हिंदुस्तान छोड़ के विलायत जाना स्थान भ्रष्टता है तो यह आपकी भूल है । हँसने के समय मुँह से दाँतों का निकल पड़ना नहीं कहलाता बरंच एक प्रकार की शोभा होती है । ऐसे ही आप स्वदेशचिंता के लिए कुछ काल देशांतर में रह आएँ तो आपकी बड़ाई है । पर हाँ, यदि वहाँ जा के यहाँ की ममता छोड़ दीजिए तो आपका जीवन उन दाँतों के समान है जो होंठ या गाल कट जाने से अथवा किसी कारण विशेष से मुँह के बाहर रह जाते हैं और सारी शोभा खो के भेड़िए के से दाँत दिखाई देते हैं । क्यों नहीं, गाल और होंठ दाँतों का परदा है, जिसके परदा न रहा अर्थात् स्वजातित्व की गैरतदारी न रही, उसकी निरलज्ज जिंदगी व्यर्थ है ।

कभी आपको दाढ़ की पीड़ा हुई होगी तो अवश्य जी चाहा होगा कि इसे उखड़वा डालें तो अच्छा है । ऐसे ही हम उन स्वार्थ के अंधों के हक में मानते हैं जो रहें हमारे साथ, बनें हमारे ही देशभाई पर सदा हमारे देश, जाति के अहित ही में तत्पर रहते हैं । परमेश्वर उन्हें या तो सुमति दे या सत्यानाश करे । उनके होने का हमें कौन सुख है हम तो उनकी जै जैकार मनावेंगे जो अपने देशवासियों से दाँतकाटी रोटी का बर्ताव (सच्ची गहरी प्रीति) रखते हैं । परमात्मा करे कि हर हिंदू मुसलमान का देशहित के लिए चाव के साथ दाँतों पसीना आता रहे ।

हमसे बहुत कुछ नहीं हो सकता तो यही सिद्धांत कर रखा है कि– 'कायर कपूत कहाय, दाँत दिखाय भारत तम हरौ' । कोई हमारे लेख देख दाँतों तले उँगली दबा के सूझ बूझ की तारीफ करे अथवा दाँत बाय के रह जाय या अरसिकतावश यह कह दे कि कहाँ की दाँताकिलकिल लगाई है तो इन बातों की हमें परवा नहीं है । हमारा दाँत जिस ओर लगा है वह लगा रहेगा । औरों की दंतकटाकट से हमको क्या ।

यदि दाँतों के संबंध का वर्णन किया चाहें तो बड़े 2 ग्रंथ रँग डालें और पूरा न पड़े ! आदिदेव श्री एकदंत गणेशजी को प्रणाम करके श्री पुष्पदंताचार्य महिम्न में जिनकी स्तुति की है, उन शिवजी की महिमा, दंतवक्त्र शिशुपालादि के संहारक श्रीकृष्ण की लीला ही गा चलें तो कोटिं जन्म पार न पावें । नाली में गिरी हुई कौड़ी को दाँत से उठाने वाले मक्खीचूसों की हिजो किया चाहें तौ भी लिखते-लिखते थक जायँ !

हाथीदाँत से क्या 2 वस्तु बन सकती है ? कलों के पहियों में कितने दाँत होते हैं, और क्या 2 काम देते हैं, गणित में कौड़ी 2 के एक 2 दाँत का हिसाब कैसे लग जाता है, वैद्यक और धर्मशास्त्र में दंतधावन की क्या विधि है, क्या फल है, क्या निषेध है, क्या हानि है, पद्धतिकारों ने 'दीर्घदंता क्वचिन्मूर्खा' आदि क्यों लिखा, किस 2 जानवर के दाँत किस 2 प्रयोजन से किस 2 रूप गुण से विशिष्ट बनाए गए हैं ?

मनुष्यों के दाँत उजले, पीले, नीले, छोटे, मोटे, लंबे, चौड़े, घने, खुड़हे कै रीति के होते हैं, इत्यादि अनेक बातें हैं जिनका विचार करने में बड़ा बिस्तार चाहिए । बरंच यह भी कहना ठीक है कि यह बड़ी 2 विद्याओं के बड़े 2 विषय लोहे के चने हैं, हर किसी के दाँतों फूटने के नहीं । तिस पर भी

अकेला आदमी क्या 2 लिखे ? अतः हम इस दंतकथा को केवल इतने उपदेश पर समाप्त करते हैं कि आज हमारे देश के दिन गिरे हुए हैं अतः हमें योग्य है कि जैसे बत्तिस दाँतों के बीच जीभ रहती है वैसे रहें, और अपने देश की भलाई के लिए किसी के आगे दाँतों में तिनका दबाने तक में लज्जित न हों, तथा यह भी ध्यान रखें कि हर दुनियादार की बातें विश्वास योग्य नहीं हैं । हाथी के दाँत खाने के और होते हैं, दिखाने के और ।

खं० 5, सं० 9 (15 अप्रैल, ह० सं० 5)

धरती माता

आजकल हमारे देश में गौ माता के गुण तथा उनकी रक्षा के उपाव एवं तज्जनित लाभ की चर्चा चारों ओर सुनाई देती है । यद्यपि दुष्ट प्रकृति के लोग उसमें बाधा करने से नहीं चूकते, और बहुत से कपटी रक्षक बन 2 के भी भक्षक का काम करते हैं, अथवा कमर मजबूत बाँध के तन मन धन से इस विषय का उद्योग करनेवाले भी श्री स्वामी आलाराम, श्रीमान् स्वामी और पंडित जगतनारायण के सिवा देख नहीं पड़ते ।

नामवरी का लालच, आपस की वैमनस्य, सर्कार की स्वार्थपरता या बेपरवाई इत्यादि कई अड़चनें बड़ी भारी हैं, पर लोगों के दिलों पर इस बात का बीज पड़ गया है तो निश्चय है कि कभी न कभी कुछ न कुछ हो ही रहेगा । पर खेद का विषय है कि हमारी धरती माता की ओर अभी हमारे राजा प्रजा किसी का भी ध्यान नहीं है । हम अपने दिहाती भाइयों को देखते हैं तो सदा स्वच्छ वायु में रहते और परिश्रम करते एवं अनेक बलनाशक दुर्व्यसनों से बचते हुए भी अधिकांश निर्बल ही पाते हैं । यह बुद्धिमानों का महानुभूत सिद्धांत है कि 'उत्तम खेती मध्यम बान', निषिद्ध चाकरी भीख निदान', पर आजकल कृषिजीवी ही लोग अधिक दरिद्री पाए जाते हैं । कितने शोक की बात है कि जिनके घर से हमारे नगरवासी भाइयों को अन्न वस्त्र मिलता है उन्हीं को रोटी, लंगोटी के लाले पड़े रहते हैं । हमारे बुद्धिमान डाक्टर और हकीम जिन बातों को स्वास्थ्यरक्षा का मूल बताते हैं उन्हीं कामों को दिन रात करने वाले यथोचित रीति से हृष्ट पुष्ट न हों, इसका कारण क्या है ?

ईश्वर की इच्छा, काल की गति, वर्तमान राजा की नीति, चाहे जो कह लीजिए, पर इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि हमारे नाश का मुख्य कारण हमारी ही मूर्खता है ! नहीं तो कुत्ते भी जहाँ बैठते हैं वहाँ पूँछ हिला के बैठते हैं । पर हमने अपनी चाल उनसे भी बुरी कर रक्खी है कि जिस पृथ्वी पर रहते हैं उसी के बनने बिगड़ने का ध्यान नहीं रखते ! हमारे पूर्वज मूर्ख न थे जिन्होंने धरती को माता एवं शिव जी की आठ मूर्तियों में से एक मूर्ति कहा है, तथा उसके पूजने की आज्ञा दी है । वे भली भाँति जानते थे कि संसार में जितने पदार्थ हैं सबकी उत्पत्ति और लय इसी में और इसी से होती है ।

हम सारे धमधम इसी पर करते हैं, हमारे सुखभोग की सारी सामग्री हमें इसी से प्राप्त होती है । फिर इसके माता होने में क्या संदेह है ? यदि इस माता के प्रसन्न रखने में उद्योग न करते रहेंगे तो हमारी क्या दशा होगी ? अब इस समय के अनेक विदेशी विद्वानों को भी निश्चय हो गया है कि यदि कोई पुरुष नित्य शरीर पर साफ चिकनी मट्टी लगाया करे वा प्रतिदिन कुछ काल उसमें लोटा करे तो शरीर, मस्तिष्क एवं हृदय को बड़ा लाभ पहुँचता है । हमारे यहाँ के अपठित लोग भी जानते हैं कि 'मट्टी देही को पालती है' पर यदि हम मट्टी को शुद्ध न रक्खें, उसके अशुद्ध करने वालों को न रोकें, शुद्ध मट्टी प्राप्त करने में आलस्य अथवा लोभ करें तो हमारा अपराध है कि नहीं ? और उस अपराध से मट्टी लगाने तथा उसके लाभ उठाने से हम वंचित रहेंगे कि नहीं ? ऐसे ही मट्टी की यावत् वस्तुओं की खानि हमारी धरती माता निर्बीजा होती रहेगी (जैसी आजकल हमारी बेपरवाई से होती जाती है) तो इसमें भी कोई आश्चर्य है कि एक दिन हमारी जीवनयात्रा ही कठिन हो जायगी, और जिन गऊ माता के लिए आप इतनी हाय 2 कर रहे हैं उनका पालना भी महा दुर्घट हो जायगा ? क्योंकि सबसे बड़ी तो यही धरती माता है । जब यही खाने को न देगी तब किसको कहाँ ठिकाना है ।

इसलिए देशवासी मात्र को चाहिए, यदि अपना और आगे आने वाली पीढ़ियों का सचमुच भला चाहते हैं तो सब बातों से पहिले धरती माता के प्रसन्न रखने का प्रयत्न करें । फिर दूसरे काम तो सहज में हो जायँगे । आज हम देखते हैं कि हमारी भारतभूमि ऐसी बलहीन तनछीन हो रही है जिधर देखो उधर 'खेती ना किसान को, भिखारी को न भीख कहूँ । बनिया को बनिज न चाकर को चाकरी । जीविकाविहीन दीन छीन लोग आपस में, एकन सों एक कहैं जाई का करी ।' की दशा हो रही है ! इस दशा में बड़े 2 मनसूबे बाँधना शेखचिल्ली के इरादे हैं ! नहीं तो संपादकों, व्याख्यानदाताओं, लेखकों को चाहिए कि जहाँ और बातें सोचा करते हैं वहाँ धरती के पुष्ट रखने के उपाय भी सर्वसाधारण को विदित करते रहें । जड़ पदार्थ के पूजा के द्वेषी नेंक विचारें कि यदि इस पूजा से विमुख रहेंगे तो सारा धर्म और देशहितैषिता पोथियों ही में रह जायगी ।

मुख में बोलने की सामर्थ्य रहेगी नहीं, उस हालत में करते धरते कुछ न बनेगा । नहीं तो हमारे इस वाक्य पर विश्वास करो कि धरती है भगवती का रूप, इसके प्रयत्न रखने ही में सबका निर्वाह है । विश्वस्त बूढ़ों से सुनने में आया है कि अभी 40 ही 50 वर्ष हुए, जिन खेतों में सौ 2 मन अन्न उपजता था उनमें अब 50-60 मन मुशकिल से होता है ! यह धरती माता की पूजा न होने ही का फल है । यदि हम अब भी न चेतैंगे तो आगे को और भी अनिष्ट की संभावना है । अतः अभी से धरती माता की पूजा का उद्योग कीजिए ।

दूसरों को उपदेश दीजिए, जी में बिचारिए कि इनके प्रसन्न रखने को कैसी पूजा चाहिए । फिर उस पूजा की विधि का सबमें प्रचार कीजिए । यही परम कर्तव्य है । हमने जो कुछ सोचा, समझा और सुना है उसे आगामी अंक में प्रकाश करेंगे । हमारे दूसरे भाई भी सोचें तो क्या बात है । पर सोचने समझने के साथ यह भी विचार लेना चाहिए कि 'करनी सार है कथनी खुआर ।'

खं० 5, सं० 9 (15 अप्रैल, ह० सं०5)

धरती माता की पूजा

जिन्होंने स्वामी दयानंद सरस्वती के लेक्चर सुने होंगे उनको स्मरण होगा कि संस्कृत में वृक्ष को पादक कहते हैं, जिसका अर्थ है पाँव से पीने वाला अर्थात् उनके पाँव (जड़) में जल डालो तो वे पी लेते हैं। जैसे हम मुँह से जल दुग्धादि पीते हैं तो वह सारे शरीर को शीतल कर देता है वैसे ही पेड़ की जड़ में पानी डालो तो उसके डाल पात आदि को शीतल कर देता है, और पानी का जितना भाग पृथ्वी में होता है उसको वे स्वभावतः खींचा करते हैं। बड़े 2 आम, पीपल, महुआ आदि के पेड़ों को देखो वह बिना सींचे हरे रहते हैं।

इसका कारण यही है कि वे धरती के स्वाभाविक जल को मूल द्वारा पीते रहते हैं। इसी से जीवित रहते हैं और यह बात सबको विदित है कि पृथ्वी पर जितना जल है उसे सूर्यनारायण खींच लेते हैं। वही वर्षा में बरसा देते हैं। पर धरती में मिला हुआ या धरती के नीचे का जल सूर्य नहीं खींचते, क्योंकि धरती उस जल की आड़ है। इससे धरती के नीचे का जल खींचने में सूरज को वृक्षों से सहायता मिलती है। उन्होंने खींच के अपने पत्रपुष्पादि में भर लिया और पत्रादि पर सीधी सूर्य की किरणें पड़ीं, बस धरती के नीचे का जल भी मेघमंडल में पहुँच गया। विचार के देखिए तो नदी ताल आदि से भी वृक्षों का जल शीघ्र सूर्यनारायण तक पहुँचता है, क्योंकि वह उनके अधिक पास हैं।

अब वाचकवृंद बिचार लें कि वृक्षों से धरती को कितनी तुष्टि होती है। वृष्टि के लिए वृक्षों से कितनी अधिक सहायता होती है! वृक्षों के निकट पवन भी शीतल और आरोग्यदायक होती है। यह बात अनपढ़े लोग भी देखते हैं कि जहाँ कई वृक्ष होते हैं वहाँ जाने से ग्रीषम का महा कठिन ताप भी बहुत शीघ्र जाता रहता है। फिर इस बात में क्या संदेह है कि धरती माता के लिए वृक्षों की बड़ी आवश्यकता है।

इसी विचार पर पुराने राजा लोग नगरों के आसपास बड़े 2 जंगल रखते थे। खुशामदी टट्टू कह देते हैं, अगले राजा बंदोबस्त करना न जानते थे, इससे उनके शहरों के इर्द-गिर्द जंगल पड़े रहते थे। यह नहीं जानते कि जंगलों से लाभ कितना होता था। लाखों प्रकार की औषधि बिन जोते बोये हाथ आती थीं। शिकार खेलने का बड़ा सुभीता रहता था, जिससे शस्त्रसंचालन का अभ्यास रहता था। नित्य दौड़ने धूपने तथा स्वच्छंदचारी पूरे तंदुरुस्त मृगों का मांस खाने से बलवीर्य बढ़ता था। पत्ते, फल, फूल, छाल, लकड़ी का किसी को दरिद्र न रहता था। यदि जंगलों से क्या फल होता है, यह लिखने बैठें तो यह लेख बहुत ही बढ़ जायगा। बुद्धिमान पाठक स्वयं समझ लें कि धरती माता को वृक्षों से क्या सुख मिलता है। पर खेद है कि हमारी गवर्नमेंट ने हमारे देश के बन उजाड़ने पर कमर बाँध रक्खी है और उसकी देखादेखी हमारे छोटे 2 जमींदार भी अपनी भूमि में बीघा भर धरती भी पड़ी हुई देखते हैं तो किसानों को उठा देते हैं।

जब हमारे देश में वृक्षों का नाश होने लगा, तभी से हमारी धरती माता जीर्ण हो गईं। वर्षा की न्यूनता और रोगों की वृद्धि हो गई। यदि अब भी हमारे देशहितैषी भाई धरती का भला चाहते हैं तो वृक्ष और घास का नाश होना रोकें। लोगों को उपदेश देना, अपनी जमीन पर पेड़ों को न काटना, सदा उनकी संख्या बढ़ाते रहना, सरकार से भी इस विषय में प्रार्थना करते रहना, इत्यादि ही उपाय हैं। पीपल

का वृक्ष पीला होता है, वह औरों से अधिक जल खींचता है, इसी से उसका काटना वर्जित है ।

जहाँ तक हो सके उसको काटने से अवश्य ही बचाइए । बरगद, आँवला इत्यादि दूध वाले वृक्ष (जिनमें दूध निकलता है) से और भी अधिक उपकार है । आप जानते हैं पानी की अपेक्षा दूध अधिक गुणकारी होता है, सो भी वृक्षों का दूध ! जिसका प्रत्यक्ष फल यह है कि बरगद का दूध, गूलर के फल निर्बलों के लिए बड़ी भारी दवा हैं ! भला उनसे सूर्यनारायण कितनी सहायता पाते हैं, तथा उनके काटने से कितना धरती माता को दुख होता है, इसको हम थोड़े से पत्र में कहाँ तक लिख सकते हैं ?

हमारे रिखियों ने जेठ में बट पूजन एवं अन्यान्य मांसों में दूसरे वृक्षों का पूजन कहा है । इसका हेतु यह था कि सूरज की प्रखर किरणें उनका दूध सुखा देती हैं, वह घाटा उनकी जड़ में दूध डाल के तथा फूल और अष्टगंध की सुगंध से पूरा करना चाहिए । पर शोक है मतावलम्बियों की बुद्धि पर कि उन्होंने मूर्खता से ऐसी हिकमतों को जड़ वस्तु की उपासना समझा है ! अरे भाई, अपना भला चाहो तो मतवाले न बनो । प्रत्येक वृक्ष की रक्षा, वृद्धि और सनातन रीति से जल दुग्धादि द्वारा उनको सींचना स्वीकार करो ।

खं० 5, सं० 10 (15 मई, ह० सं० 5)

मतवादी अवश्य नरक जायँगे

हमारी समझ में बड़ी 2 पोथियाँ देखने और बड़े 2 व्याख्यान सुनने पर भी आज तक न आया कि नर्क कहाँ है और कैसा है, पर जैसे तैसे हमने मान रक्खा है कि संसार में विघ्न करने वालों की दुर्गति का नाम नर्क है । मरने के पीछे भी यदि कहीं कुछ होता हो तो ऐसे लोग अवश्य कठिन दंड के भागी हैं जो स्वार्थ में अंधे होके पराया दुख सुख, हानि लाभ, मान अपमान नहीं बिचारते । अगले लोगों ने कहा है कि 'बैद चितेरी जोतिषी हर निंदक औ कब्बि, इनका नर्क विशेष है, औरन का जब तब्बि' । पर इस बचन में हमें शंका है, काहे से बैद और चितेरे आदि में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के लोग पाये जाते हैं फिर यह कहाँ संभव है कि सबके सभी नर्क के पात्र हों ।

वह वैद्य नर्क जाते होंगे जो न रोग जानैं न देश काल पात्र पहिचानैं, केवल अपना पेट पालने को यह सिद्धांत किये बैठे हैं कि 'यस्य कस्य च पत्राणि येन केन समन्वितं । यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति' । पर वह क्यों नर्क जायँगे जो समझ बूझ के औषधि करते हैं और रोगी के दुख सुख का ध्यान रखते हैं अथवा अपनी दवा और मेहनत का दाम लेने में संकोच नहीं करते । चित्रकारों से किसी की कोई बड़ी हानि नहीं होती बरंच उनके द्वारा भूत और वर्तमान समय के अच्छे बुरे लोगों का, अन्य लोगों का स्मरण होता है । अतः औरों की अपेक्षा इनमें से नर्कगामी थोड़े होने चाहिए—हाँ, ज्योतिषियों में बहुत लोग ऐसे हैं जो पढ़े लिखे राम का नाम ही हैं पर सबके अदृष्ट बतलाने तथा अनमिल जोड़ी

मिलाने और वर कन्या का जन्म नसाने एवं बैठे बिठाये गृहस्थों के जी में शंका उपजाने का बीड़ा उठाये बैठे हैं ।

वे अवश्य नर्क के भागी हों । पर जो अपनी विद्या के बल से भूगोल खगोल को हस्तामलरु किए बैठे हैं उन्हें कौन नर्क में भेज सकता है ? अथवा यह कह देते हैं कि अमुक ग्रंथ के अनुसार हमारे विचार में यों आता है कि आगे क्या होगा क्या नहीं यह प्रश्न ईश्वर से जाके करो । यह कहने वाले भी नर्क से दूर हैं । रहे हरनिंदक, उन्हें नर्क से कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि परमेश्वर सदा एकरस आनंदमय है । उनकी निंदा से न उनकी हानि न जगत की हानि है । हाँ, निंदक अपना पागलपन दिखाता है, सो पागलपन एक रोग है, पाप नहीं । यदि हरनिंदक का अर्थ अनीश्वरवादी ही लीजिए तो भी नर्क को उससे क्या संबंध है ? एक बात उसकी समझ में नहीं आती, उसे वह नहीं मानता, बस ! बरंच हम देखते हैं तो सबकी स्वत्व रक्षा, सबसे न्यायाचरण आदि गुण बहुधा नास्तिकों ही में पाये जाते हैं । कपटी उनमें बहुत कम हैं ।

भला ऐसे लोग नर्क जायँगे ? हाँ हरि की वास्तविक निन्दा किसी मत के कट्टर पक्षपाती अवश्य करते हैं । उनका नर्कबास युक्तिसिद्ध है (यह बात आगे चलके खुलेगी) । कवियों के लिये बेशक यह बात है कि वे अकेले क्या चाहें तो एक बड़े समूह को लेके नर्क की यातना का स्वाद लें, चाहे बड़ी जथा जोड़ के जीवन के मुक्ति का आनंद भोगें, क्योंकि उन्हें अपनी औ पराई मनोवृत्ति फेर देने का अधिकार रहता है !

सिद्धांत यह कि ऊपर कहे हुए सब लोग अवश्य नर्क ही जायँगे यह बात विचारशक्ति को कभी माननीय नहीं हो सकती । पर हाँ, हमारे मतवाले भाई, अफसोस है कि, नर्क के लिये कमर कसे तैयार हैं ! क्योंकि इन महापुरुषों का उद्देश्य तो यह है कि दुनिया भर के लोग हमारे अथवा हमारे गुरु के चेले हो जायँ, सो तो त्रिकाल में होना नहीं । और लोगों का आत्मिक एवं सामाजिक अनिष्ट बात 2 में है। यदि ऐसा होता कि आर्यसमाजियों में आर्य, सनातनधर्मियों में पंडित महाराज, मुसलमानों में मुल्ला जी, ईसाइयों में पादरी साहब इत्यादि ही उपदेश करते तब कोई हानि न थी, बरंच यह लाभ होता कि प्रत्येक मत के लोग अपने 2 धर्म में दृढ़ हो जाते । सो न करके एक मत का मनुष्य दूसरे संप्रदायियों में जाके शांति भंग करता है । यही बड़ी खराबी है क्योंकि विश्वास हमारे और ईश्वर के बीच निज संबंध है।

एक पुरुष ईश्वर की बड़ाई के कारण उसे अपना पिता मानता है, दूसरा प्रेम के मारे उसे अपना पुत्र कहता है । इसमें दूसरे के बाप का क्या इजारा है कि पहिले के विश्वास में खलल डाले । वास्तव में ईश्वर सबसे न्यारा एवं सबमें व्यापक है । वह किसी का कोई नहीं है और सबका सब कोई है । दृढ़ विश्वास और सरल स्नेह के साथ उसे जो कोई जिस रीति से भजता है वह उसका उसी रीति से कल्याण, शांति, दान अथच परित्राण करता है । इस बात के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है ।

जिसका जी चाहे वह चाहे जिस रीति से भजन करके देख ले कि ईश्वर उसे उसी रीति में आनंद देता है कि नहीं । पर मत विषयक शास्त्रार्थ के लती स्वयं भजन नहीं करते बरंच दूसरे की भजनप्रणाली में विक्षेप डालने का उद्योग करते हैं, बहुत वर्षों से अथवा बहुत पीढ़ियों से जो विश्वास एक जी पर जमा हुवा है उसे उखाड़ कर उसके ठौर पर अपना विचार रक्खा चाहते हैं । भला इससे बढ़ के हरिविमुखता क्या होगी ? और ऐसे विमुखों को भी न नर्क हो तो ईश्वर के घर में अंधेर है । संसार में जितनी पुस्तकें

धर्मग्रंथ कहलाती हैं सबके लिखने वाले भगवान के भक्त एवं जगत के हितैषी मनुष्य थे ।

अपने 2 देशकाल अथच निज दशा के अनुसार सबों ने ही अच्छी ही अच्छी बातें लिखी हैं । रहा यह कि मनुष्य की बुद्धि सब बातों में और सब काल में पूर्णतया एक रूप में नहीं रहती इससे संभव है कि प्रत्येक मत के प्रवर्तक से कुछ बुराई हो गई हो या उसके लेख में कहीं भ्रम या दोष ही रह गया हो, पर हमें अधिकार नहीं है कि उनके काम या वचन पर आक्षेप करें । यदि आप यह न भी मानें कि हमारे दोषों से उनके अल्प थे तौ भी इसमें संदेह नहीं है कि आपके भी सब काम और बातों में अशुद्धि का संभव है । फिर आप किस मुख से दूसरों को बुरा कहें; जब कि भलाई बुराई सबमें है तो मतवालों को यह अधिकार किसने दिया कि दूसरे की बुराई गावें । यह उनकी शुद्ध दुष्टता नहीं है तो क्या है !

श्री रामानुज, श्री शंकराचार्य, श्री मसीह, श्री मुहम्मद, सब मान्य पुरुष थे (इस बात के साक्षी लाखों लोग हैं) । इनमें से किसी के जीवन चरित्र में ऐसी बात नहीं पाई जाती जैसी आजकल के लोग मुँह से बुरी बताते हैं पर करते अवश्य हैं ! इसी प्रकार वेद, पुराण, बाइबिल, कुरआन, सब धर्मग्रंथ हैं क्योंकि चोरी, जारी, विश्वासघात आदि की आज्ञा किसी में नहीं है । फिर इनकी निन्दा करने वाला स्वयं निन्दनीय नहीं है तो क्या है ? यदि परमेश्वर संसार भर का स्वामी है और सभी की भलाई का उद्योग करता है एवं उद्योग यही है कि आचार्यों के द्वारा धर्मपुस्तकों का प्रचार करना, तौ यह कैसे हो सकता है कि एक ही भाषा की एक ही पोथी और केवल एक ही आचार्य सब देशों और सब काल के लिए ठीक हो सकें ! हर देश के लोगों की प्रकृति, स्वभाव, सामर्थ्य, भाषा, चाल ढाल, खाना, पहिनना आदि एक सा कभी नहीं हो सकता । फिर ईश्वर की एक ही आज्ञा सब कहीं के सब जन कैसे पालन कर सकते हैं ?

आज भारतवर्ष का कौन राजा अश्वमेध अथवा राजसूय यज्ञ कर सकता है ? अरब (या अपने ही यहाँ बंगाल) के रहने वाले मांस के बिना कै दिन सुख से रह सकते हैं ? चालीस 2 दिन का ब्रत राजा, निर्बल और कोमल प्रकृति वालों से कब निभ सकता है ? फिर यदि ईश्वर एक ही लाठी से सबको हाँके तो उसकी जगदीशता का क्या हाल हो ? कभी किसी वैद्य को हमने नहीं देखा कि सबको एक ही औषधि सब प्रकार के रोगियों को दे देता हो ! जब जिसके लिए जो बात ईश्वर योग्य समझता है तब तिसको तौन ही बतला देता है । उससे बढ़ के बुद्धिमान कोई नहीं है । वह अपनी प्रजा का हिताहित आप जानता है । वेद, बाइबिल, कुरान बना के मर नहीं गया, न पागल हो गया है कि अब पुस्तक रचना न कर सके । यदि एक ही मत से सबका उद्धार समझता तो अन्य मतावलंबियों के ग्रंथ, मनुष्य और सारे चिह्न नाश ही कर देने में उसे किसका डर है ? इन सब बातों को देख सुन और सोच के भी मतवादीगण सबको अपनी राह चलाने के लिए हाव 2 करते हैं, फिर हम क्यों न कहें कि वे परमात्मा से अधिक बुद्धिमान बन के उसकी चलती गाड़ी में रोड़ा अटकाते हैं ।

भला इससे बढ़ के हरिनिंदा और नर्क का सामान क्या होगा ? जैसे हमारी प्रतिमा न पूजने वालों को कभी एक फूल उठा देती हैं न निंदकों को एक थप्पड़ मार देती है, वैसे ही आपके निराकार भी न किसी उपासक को प्यार की बात कहते हैं न गाली देने वाले का सिर दुखाते हैं । फिर हम आपकी अथवा आप हमारी पूजा पद्धति पर आक्षेप करें तो सिवाय परस्पर विरोध उपजाने के और क्या करते हैं ? यदि वेद, बाइबिल, कुरानादि की एक प्रति अग्नि तथा जल में डाल दी जाय तो जलने अथवा गलने से कोई

बच न जायगी । फिर एक मतवाला किस शेखी पर अपने को अच्छा और दूसरे को बुरा समझता है ?

आपको जिस बात में विश्वास हो उसको मानिए, हम आपकी आत्मा के इजारदार नहीं हैं जो यह कहें कि यों नहीं यों कर ! यदि आप दृढ़ विश्वासी हैं तो हम अपनी बातों से डिगा नहीं सकते पर डिगाने की नीयत कर चुके, फिर कहिए विश्वास डिगाने की मानसाही कौन धर्म है ? जो आपका विश्वास कच्चा है तो हमारी बातों से आप फिसल जायँगे पर यह कदापि संभव नहीं है कि पूर्ण रूप से अपनी मुद्दत से मानी हुई रीति को छोड़ के एक साथ हमारी भाँति हो जाइए । इस दशा में हम और भी घोर पाप करते हैं कि अपनी राह पर तो भली भाँति ला नहीं सकते पर आप जिस राह में आनंद से चले जाते थे उससे फिर गए । भला धर्म मार्ग से फेर देने वाला या फेरने की इच्छा रखने वाला नर्क के बिना कहाँ जायगा ?

खं० 5 सं० 10, 11 (19 मई, जून, ह० सं० 5)

लत

(चलती फिरती बोली में)

अहा ! इन द्वै अखरानऊ मैं कैसो सवाद है कै कछू बोलते चालत नाय बने ! एक बार हमारे प्यारे 'हिंदीप्रदीप' ने लिखी ही कै 'ल' (लकार) सगरी वर्णमाला को अमृत है और व्याकरण वारे कहैं हैं कै 'त' ('तकार') और 'लकार' दोऊ मुख के एकई स्थान सो कढ़ै हैं– 'लृतुलसा दंत्या' । फेर यामैं कहा संदेह रह्यौ कै या शब्द में द्वै 2 अमृतन को मेल है (काऊ समय 'त' कार केऊ गुण लिखैंगे) ।

जब एक अमृत को सवाद मनुष्य न को दुर्लभ है तब द्वै अमृतन की तो बात ही कहाँ रही ? जा काऊ कों काऊ बात की लत पड़ जाय है वाय अपनी लत के आगे लोक परलोक, हानि लाभ, निंदा बड़ाई आदि को नेकऊ बिचार नायँ रहै है । लोग बड़े 2 कष्ट उठावैं हैं, सारे संसार सो आपको हँसावैं हैं, पै लत को निभावै हैं । यासों सिद्ध है कै लत मैं कछू तौ मिठास है जाके लिए सब प्रकार के दुख सुख सों सहे जाय हैं ।

पारसी में ऐसे नाम बहुत से हैं जिनके पीछे लत की लगी है । पै सबके वर्णन को या छोटे से पत्र में ठौर कहाँ ? तहूँ द्वै चार को नमूनों दिखाय दिंगे । दौलत (धन) कों तौ कहनोई कहा है । नारायण की घर वारी (लक्ष्मी) ही ठैरी ! सारे जगत को काम याई सों चलै है । भाँति 2 के पाप पुण्य याई के हेत करे जायँ हैं । बड़े 2 अधमन को याई के लए धरमावतार बनायबे परै है । जाय देखौ याई के कारन हाय 2 कियो करै है । सौलत (दबदबा, प्रताप)—याऊ के निमित्त बड़े 2 बीर अपनी जान जोखौं में डारै हैं ।

अदालत की कथा ही अकथ है । भाई 2 की बात नाय सहै पै एक 2 चपरासी की लातऊ प्यारी

लगै । सारी कमाई एक बात पै स्वाहा ! सब जानै हैं कै जीत्यो सो हार्यौ और हार्यौ सो मर्यौ पै अदालत की बुरी लत बहुतेरन को । कछु निज को कांम नायँ होय है तौ औरन को तमासाई देखबे को धूप मैं धावै हैं । इत उत माँ ऊ 'कहा भयो कहा गयो' करत डोलै हैं । फजीलत (विद्वत्ता) की चाट पै लोग सारे सुखन को होम करि कै पढ़बेई मैं जीवन बिताय देतु हैं । जिल्लत (बदनामी) सगरो धन और सारी प्रतिष्ठा खोइबेई सों मिलै है ।

कहाँ लौं कहिए, जा शब्द मैं लत को जोग होय वामै बड़ी ही बड़ी बातैं दीखैं हैं । फेर 'लत' को वर्णन सहज कैसे कह्यो जाय । संसार में बड़ी 2 बातन को मूल लतई है ! बड़ो नाम, बड़ो जस, बड़ो धन, बड़ो पद, बड़ो सुख, बड़ो दुख, बड़ो अजस, सब लत सोई प्राप्त होय है । परमेश्वर को नाना प्रकार की सृष्टि रचने की लत है । उनको कुछु प्रोजन नायँ पै एक को बनावै हैं । एक को नसावैं हैं याई लत के मारे ज्ञानीन में जगतपिता, प्रेमीन में जगजीवन कहावै हैं । पढ़े लिखेन में पूजे जाय हैं । गवाँरन की गारी खाय हैं ।

पानी बहुत बरसै तौ मूरख कहिंगे, 'सारे के घर मैं पानी ही पानी है गयो है' । जब नायँ बरसे तब कहै हैं कै 'नपूतो सूख गयो है ।' धन्य रे नंद के छोरा ! गारिऊ खाय है पै लत नायँ छोड़े है । हमारे रिसीन कों भगवान के भजन और जगत के उपकार की लत परी ही, जाके मारे सारे सुखन को छोड़ि, संसार सों मुख मोड़ि, कंद मूल खाय 2 बन में जाय रहे हे । याई के फल सों ब्रह्ममय कहावें हे । आज ताऊँ हम उनके नाम सुन नार (ग्रीवा) नमावें हैं और उनके उपदेशन पर चलन बारे अपनो जनम बनावै हैं । हमारी सरकार और माड़वारीन को कमायबेई की लत है । कोई कछु कहे पे वे एक न एक रीति सो अपनोई घर भरिंगे । जिनको खुशामद की लत है वे हजूर की हाँ में हाँ मिलायोई करिंगे, देश सारी चाहे आज धूर में मिल जाय, प्रजा चाहे याई घरी नास है जाय, राजा चाहे भलेई अजस पावे, संसार चाहे कछू कहे कहावै पै लत तौ मरबेई पै छूटे तौ छूटे ।

हमारे हिंदू भाईन कों आलस की ह्याँ ताऊँ लत है के लाख समुझावो पे सोयबो छोड़ेइँ नायँ । चौबेन भाँग की है, गुसाँइन को मरकबे की लत है । धनीन को टेंटँई (वेश्या) की लत है, बाबून को अँगरेज बनबे की लत है । कहाँ लौं कहैं, एक 2 लत सबको परी है, पे हाय, देशसुधार की लत साँची 2 काऊ को नायँ दीखे । तन,:मन, धन, धर्म, कर्म, लज्जा, प्रतिष्ठा सब सों अधिक भारत को माने जमाना, मैया जा दिना देशहित के लती उपजावेगी, वाई दिना सब संकट कटेगो ।

हे दऊदयाल ! हमारे भाई कहा मुख ही सों देशहित के गीत गायो करिंगे । इन्हें ऐसी बुद्धि कब देउगे के सगरो धन खोय के, जात बाहर होय के, देश विदेश जाय के, सबन की गारी लौं खाय के, देशी बिदेसी राजा प्रजा सबके कडुवे बनेंगे पे प्रान लौं देके भारत के हेत सब कुछ करिंगे । हम कौ लिखबे की लत है, खायबे को चाहे भलेई न मिलौ, साल में घटी कितनिई परौ, कोई रीझौ तौ वाह 2, खीझौ तौ वाह 2, पे कलम राँड चले बिना मानेई नायँ ! कोई सुनौ के न सुनो पे हमें तौ बलबे की लत है, यासों कहेई जायँगे के जाय भले कामन की लत परेगी, राधारानी बाई को भलो करेंगी । सब सों भली देशभक्ति है, जाय याकी लत नायँ वाके जीवन पर लानत (लअनत) है ।

खं० 5, सं० 11 (15 जून, ह० सं० 5)

उपाधि

यद्यपि जगत में और भी अनेक प्रकार की आधि व्याधि हैं पर उपाधि सबसे भारी छूत है । सब आधि व्याधि यत्न करने पर ईश्वरेच्छा से टल भी जाती हैं पर यह ऐसी आपदा है कि मरने ही पे छूटती है । सो भी क्या छूटती है, नाम के साथ अवश्य लगी रहती है । हाँ, यह कहिए सताती नहीं है । यदि मरने के पीछे भी आत्मा को कुछ करना धरना तथा आना जाना या भोगना भुगतना पड़ता होगा तो हम जानते हैं उस दशा में भी यह राँड पीछा ना छोड़ती होगी । दूसरी आपदा छुट जाने पर तन और मन प्रसन्न हो जाते हैं, पर यह ऐसा गुणभरा हँसिया है कि न उगलते बने न निगलते बने । उपाधि लग जाने पर उसका छुड़ाना कठिन है । यदि छूट जाय तो जीवन को दुखमय कर दे ।

संसार भर में थुडू 2 हो और बनी रहे तो उसका नाम भी उपाधि है । हमारे कनौजिया भाइयों में आज विद्या, बल, धन इत्यादि कोई बात बाकी नहीं रही, केवल उपाधि ही मात्र शेष रही है । ककहरा भी नहीं जानते पर द्विवेदी, चतुर्वेदी, त्रिवेदी, त्रिपाठी आदि उपाधि बनी है । पर इन्हीं के अनुरोध से बहुतेरे उन्नति के कामों से वंचित हो रहे हैं । न विलायत जा सके न एक दूसरे के साथ खा सके, न छोटा मोटा काम करके घर का दरिद्र मिटा सके ।

परमेश्वर न करे, यदि इस दीन दशा में कोई कन्या हो गई तो और भी कोढ़ में खाज हुई । घर में धन न ठहरा, बिना धन बेटी का ब्याह होना कठिन है । उतर के ब्याह दें तो नाक कटती है । न ब्याहें तो इज्जत, धर्म, पुरुषों के नाम में बट्टा लगने का डर है । यह सब आफतें केवल उपाधि के कारण हैं । शास्त्रों में उपाध्याय पढ़ाने वाले को कहते हैं । यह पद बहुत बड़ा है पर उपाधि और उपाध्याय दोनों शब्द बहुत मिलते हैं, इससे हमारी जाति में उपाध्याय एक नीच पदवी (धाकर) मान ली गई है ।

इस नाम के मेल की बदौलत एक जाति को नीच बनना पड़ा । पर नीच बने भी छुटकारा नहीं है । वे धाकर हैं, उन्हें बेटी ब्याहने में और भी रुपया चाहिए । बरंच बेटा ब्याहने के लिए भी कुछ देना ही पड़ता है । यह दुहरा घाटा केवल उपाधि के नाम का फल है । हमारे बंगाली भाई भी कानकुब्ज ही कुल के हैं पर उन्होंने मुखोपाध्याय चटोपाध्याय इत्यादि नामों में देखा कि उपाधि लगी है, कौन जाने किसी दिन कोई उपाधि खड़ी कर दे इससे बुद्धिमानी करके नाम ही बदल डालें; मुकरजी चटरजी आदि बन गए । यह बात कुछ कनौजियों ही पर नहीं है, जिसके नाम में उपाधि लगी होगी उसी को सदा उपाधि लगी रहेगी । आज आप पंडित जी, बाबू जी, लाला जी, शेख जी आदि कहलाते हैं, बड़े आनंद में हैं । चार जजमानों को आशीर्वाद दे आया कीजिए या छोटा मोटा धंधा या दस पाँच की नौकरी कर लिया कीजिए, परमात्मा खाने पहिनने को दे रहेगा ।

खाइए पहनिए, पाँव पसारकर सोइए, न ऊधव के लेने न माधव के देने । पर यदि प्राज्ञ, विद्यासागर, बी०ए०, एम०ए०, आदि की उपाधि चाहनी हो तो किसी कॉलेज में नाम लिखाइए, परदेश जाइए, 'नींद नारि भोजन परिहरही' का नमूना बनिए, पाँच-सात बरस में उपाधि मिल जायगी । घर में चाहे खाने को न हो पर बाहर बाबू बन के निकलना पड़ेगा । चाहे भूखों मरिए पर धंधा कोई न कर सकिएगा । नौकरी भी जब आपके लायक मिलेगी तभी करना नहीं तौ बात गए कुछ हाथ नहीं है । एक प्रकार की उपाधि सर्कार से मिलती है । यदि उसकी भूख हो तो हाकिमों की खुशामद तथा

गौरांगदेव की उपासना में कुछ दिन तक तन, मन, धन से लगे रहिए ।

कभी आपके नाम में भी सी०एस०आई० अथवा ए०बी०सी० से किसी अक्षर का पुछल्ला लग जायगा अथवा राजा, रायबहादुर, खाँ बहादुर अथवा महामहोपाध्याय की उपाधि लग जायगी । पर यह न समझिए कि राजा कहलाने के साथ कहीं गद्दी भी मिल जायगी अथवा सचमुच के राजा भी आपको कुछ गनै गूँथैंगे । हाँ, मन में समझे रहिए कि हम भी कुछ हैं, पर उपाधि की रक्षा के लिये कपड़ा लत्ता, चेहरा मुहरा, सवारी शिकारी, हजूर की खातिरदारी आदि में घर के धान पयार में मिलाने पड़ेंगे ।

अपने धर्म, कर्म, जाति आदि से फिरंट रहना पड़ेगा, क्योंकि अब तो आपके पीछे उपाधि लग गई है ! इसी से कहते हैं, उपाधि का नाम बुरा । उपाधि पाना अच्छा है सही पर ऐसा ही अच्छा है जैसा बैकुंठ जाना, पर गधे पर चढ़े के !

खं० 5 सं० 12 (15 जुलाई, ह० सं० 5)

त

यह अक्षर भी कैसा मधुर और रसीला है कि 'लकार' का भाई ही समझना चाहिए । हमारे इस कहने पर कोई संदेह हो तो किसी व्याकरणी से पूछ देखिए, वुह पाणिनी जी के 'लृतुलसानां दंताः' के प्रमाण से बतला देंगे कि 'तकार' की भी उत्पत्ति वहीं है जहाँ से 'लकार' निकली है । बरंच बिचार के देखिए तो जान ज़ाइएगा कि 'लकार' का रूप 'तकार' से पृथक नहीं है । 'तकार' ही को दुहरा कर देने से 'लकार' बन जाती है । अतः यह कहना भी झूठ नहीं है कि दोनों एक ही हैं ।

न मानिए तो स्वयं सोच लीजिए, जितने शब्दों में 'तकार' का योग होगा वे अवश्य प्यारे लगेंगे । छोटे 2 बच्चों के कोमल मुख की तोतली बातैं कैसी भली लगती हैं । प्रेमपात्र के मुँह से 'तू' कहना कैसो सुहावना जान पड़ता है । मनुष्य का तो कहना ही क्या है, कुत्ते से भी 'तू तू' कहो तो स्नेह के मारे पूँछ हिलाने लगता है । गाने में ताना दिरना, तथा नाचने में 'ता तत थेइया' इत्यादि पद इसीलिए रक्खे गए हैं कि यह दोनों बातें मनोहारिणी होती हैं । कवियों के नव रसों में शृंगार और वीर रस प्रधान हैं ।

उनके उद्दीपनार्थ तंत्री (वीणा) और धनुष के लिए ताँत की आवश्यकता होती है । पाकशास्त्र के तो छहों रसों में तवा और तई (कढ़ाई) ही सबसे मुख्य प्रयोजनीय वस्तु हैं । बस प्रकार के संबंधियों में पिता सबसे श्रेष्ठ प्रेम और प्रतिष्ठा का पात्र है । उसमें तो 'ता' हई है पर ताऊ उससे भी अधिक माननीय है, क्योंकि उसके आदि में 'ता' है । हमें अपना शरीर सबसे अधिक प्रिय है, उसी के मारे उसके नाम में भी इस अक्षर को मिला के 'तन' शब्द व्यवहार में लाते हैं । इसकी रक्षा के लिए कपड़े पहनने पड़ते हैं । वे भी सूत से बनते हैं और ताना तान के बनाए जाते हैं ।

यावत देहधारियों को अपने घर से बड़ी प्रीति होती है । कहीं हो आवैं अंत कौ घर आ जाते हैं ।

उस घर का नाम भी 'आयतन' है। जीवन की तीन अवस्थाओं में तरुणता ही बड़ी मजेदार होती है। उसमें भी तरुणी ही बड़ी सुखदा जान पड़ती है। उसकी भी शोभा की अधिकाई तैल ताम्बूल ही से होती है। यदि ऐसे शब्द गिना चलें तो लाखों तक गिनती पहुँचे। तितलियों के रूप रंग, तोते तथा तूतियों की मधुर ध्वनि, तरुवरों के नाना जाति ज्ञात स्वादु, संयुक्त, फलफूल इत्यादि अनेक बातें ऐसी ही हैं कि 'जहाँ जाइ मन वहीं लुभाई'। पृथ्वी पर की वस्तुओं को छोड़ आकाश की ओर दृष्टि कीजिए तो वहाँ भी तपन (सूर्य), तमीपति (चंद्रमा) और तारागण हैं। दिन रात दैदीप्यमान रहते हैं।

सारांश यह कि उस त्रिभुवनपति ने जगत का चित्त आकर्षित करने के हित जितने उत्तम पदार्थ बनाए हैं, सबमें 'तकार' का योग पाया जाता है। यदि कोई हमारे विरुद्ध तूतिया, तिताई, तातापन, तमाचा, इत्यादि शब्द सोच के 'तकार' की मधुरता में कटुता दिखाना चाहे तो उसके लिए दंतत्रोटक उत्तर यह है कि तूतिया भी डॉक्टरों की हाथ से महौषधि का काम देती है, तिताई भी वुह स्वादु देती है कि छहों रस उसके आगे दब जाते हैं, तातापन भी वह है जो मोटे अन्न को स्वादिष्ट करता है, तमाचा के डर के मारे धृष्टों की धृष्टता जाती रहती है। फिर कोई कैसे कह सकता है कि तकार भी वर्णमाला का अमृत नहीं है।

जब तक त्रिपथगामिनी भगवती भागीरथी, तुलसी, त्रैलोक्यनाथप्रिया आदि के नाम का स्मरण, शोभा का दर्शन, महिमा का विचार एवं तपोधन महर्षियों के उपदेशों के अनुकूल आचार ग्रहण करने से त्रिताप के नाश हो जाने का पूर्ण निश्चय हो जाता है, तब तक तो 'तकार' का संबंध बना ही रहता है और समयों की क्या कथा है। क्यों न हो, जब जगतत्राता, विश्वविधाता तक का नाम परमतत्त्व है—'योगिन परम तत्त्वमय भासा', वेदों तक में उसके लिए 'तत्' शब्द का प्रयोग किया गया है, 'तत्त्वमसि' 'ततसत' इत्यादि, जिसका नाम रूप गुण स्वभाव सभी गूँगे के गुड़ का सा स्वादु रखते हैं तब हम कहाँ तक इस अक्षर के स्वादु को लिख सकेंगे।

अतः अपने रसिकों को केवल इतनी सम्मति देते हैं कि जैसे बने तैसे अपने देश, जाति, भाषा, आदि के हित में नित्य दत्तचित्त रहा करें तथा दिन रात एतद्विषयक सभा कमेटियों में उत्साह के साथ नृत्य करने को तत्पर रहें। नेशनल कांग्रेस ऐसी समाजों की ताज है और सत्य के प्रताप से प्रतिवर्ष उसकी वृद्धि होती रहती है। इसका अधिवेशन अब की साल बंबई में होगा। अतएव सब देशहित के तत्त्ववेत्ताओं को चाहिए कि अभी से उसकी चिंता में लगे रहें जिसमें समय पर हर ओर से डेलीगेटों का ताता बँध जाय। हे तात, नरतन का कर्तव्य यही है।

खं० 5, सं० 12 (15 जुलाई, ह० सं० 5)

स्वार्थ

इस गुण को हमारे पुराने ऋषियों ने बुरा कहा है, पर हमारी समझ में इस विषय में उनका कहना अप्रमाण है, क्योंकि जो जिस बात को जानता ही नहीं उसके वचनों का क्या प्रमाण ? बन में रहे, कंद मूल खाए,

भोजपत्र पहिने, पोथियाँ उलटते व राम 2 स्याम 2 करते जन्म बिताया । न कभी कोई धंधा किया, न किसी की नौकरी की, न किसी विदेशी से काम पड़ा, फिर उन्हें स्वार्थ का मजा क्या मालूम था ? यदि कहिए कि नवीन ऋषियों में महाराज भर्तृहरि ने भी तो 'तेमीमानुष राक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघन्तिये' लिखा है, तो हम कहेंगे उन्होंने केवल पुराने लोगों की हाँ में हाँ मिलाई है, या जानबूझ के धोखा दिया है, नहीं तो स्वार्थ कोई बुरी वस्तु नहीं है ।

सदा से सब उसी का सेवन करते आए हैं । हिंदुओं का राज्य था तब ब्राह्मण चाहे जो करें अदंड्य थे, क्योंकि राजमंत्री तथा कवि यही होते थे, इससे अपने को सब प्रकार स्वतंत्र बना रखा था । यह स्वार्थ न था तो क्या था ? मुसलमानी अमलदारी में भी राजा करै सो न्याव था । बादशाह का जुल्म भी ऐन इंसाफ समझा, उसमें भी स्वार्थ ही का डंका बजता था । आजकल अँगरेजी राज्य में तो ऐसा कोई काम ही नहीं है जो स्वार्थ से खाली हो, नहीं तो दो चार बातें बतलाइए जो केवल प्रजा ही के हितार्थ की गई हों । कोई काम बतलाइए जिसमें हिंदोस्तान की महान हानि के लिए इंग्लिश जाति का छोटा सा लाभ भी उठा रखा गया । चाहे जितना सोचिए अंत में यही कहिएगा, कोई नहीं ।

फिर हम क्या बुरा कहते हैं कि 'स्वार्थ में बुराई कोई नहीं सभी सदा से करते आए हैं ।' यदि महिदेवों (ब्राह्मणों) और दीन दुनिया के मालकों (बादशाहों) हमारे गौरांग प्रभुओं को मनुष्य समझिए तो रामायण में देवताओं का चरित्र पढ़िये । रामचंद्र लक्ष्मण सीता को चौदह वर्ष वन 2 फिराया, भरतजी को अयोध्या में रख के उपवास कराया, दशरथ जी के प्राण ही लिए । क्यों ? स्वार्थ के अनुरोध से । गोस्वामी जी ने खोल के कही दिया है 'आए देव सदा स्वारथी ।' जब देवताओं की यह दशा है तब मनुष्य स्वार्थ परता से कैसे पृथक रह सकता है । सच पूछो तो जो लोग स्वार्थ की निंदा करते हैं वे स्वार्थ ही साधन के लिए दूसरों को भकुआ बनाते हैं । दूसरों को दया, धर्म, सत्य, न्याय, निःस्वार्थ इत्यादि के भ्रमजाल में न फँसावें तो अवसर पर अपनी टही कैसे जमावैं । इससे हमें निश्चय हो गया है कि चतुर बुद्धिमान नीतिज्ञ पुरुषों के लिए स्वार्थ कभी किसी दशा में अत्याज्य नहीं है ।

जो लोग दूसरों को परस्वारथ सिखाते हैं वे तो खैर अपना काम चलाने के लिए लोगों को फुसलाते हैं पर जो उनकी बातों में फँसकर परस्वार्थी बनने का उद्योग करते हैं वे नेचर के नियम को तोड़ते हैं अथच अपने सुख, संपत्ति, सौभाग्य से मुँह मोड़ते हैं । नहीं तो बड़े बड़ों में निःस्वार्थी है कौन ? क्या देवता लोग राक्षसों का भला चाहते हैं ?

क्या महात्मा लोग नास्तिकों की खैर मनाते हैं ? क्या स्वयं परमेश्वर अप्रेमिकों से प्रसन्न रहें ? फिर परस्वारथ कहाँ की बलाय है ? सब स्वार्थ तत्पर हैं । हाँ, अपने 2 कुटुंब, अपनी जाति, अपने देश की जूठन काठन थोड़ी सी इतरों को भी देना चाहिए, जिसमें यश हो । परस्वार्थ ऐसी मजेदार चीज को बुरा समझ के उससे दूर रहना निरी मूर्खता है । जो लोग बड़े त्यागी बैरागी, भक्त विभक्त होते हैं वे तो स्वार्थ को छोड़ते ही नहीं । वे दुनियाँ के सुखों को छोड़ के महासुख स्वरूप सच्चिदानंद को चाहते हैं अतः बड़े भारी स्वार्थसाधक हैं । फिर गृहस्थी करके, दुनियाँ में रह के, निःस्वार्थ या परस्वार्थ पर मरना कहाँ की बैलच्छि है । स्वार्थ न हो तो संसार की स्थिति ही न हो ।

बड़े 2 परिश्रम करके जिन उत्तम बातों को लोग संचित करें वुह दूसरे को सौंप दें, दूसरा तीसरे को सौंप दे, इसी तरह होते 2 थोड़े दिन में किसी के पास कुछ रही न जाय । इसी से कहते हैं "स्वार्थ समुद्धरेत्प्राज्ञः" । हाँ बहुत ही न्यून स्वार्थ बुरा है, "आप जियंते जग जिये कुरमा मरे न हानि" का आचरण

निंदित है । इससे अधिक से अधिक स्वार्थ बढ़ाते रहना चाहिए । अपने ही लिए स्वार्थी न हो के अपने संबंधी मात्र का स्वार्थ करना चाहिए । अपने देश के स्वार्थ के लिये दुनिया भर को कैसी ही हानि हो, कैसा ही कर्तव्याकर्तव्य कर उठाना चाहिए । क्योंकि इसके बिना निर्वाह नहीं है । परस्वार्थी मरने पर चाहे बैकुंठ जाते हों पर दुनिया में सदा दुखी रहते हैं और हमारे महा मंत्र के मानने वाले दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति किया करते हैं ।

भारत और इंगलैंड इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । फिर भी न जाने कब हमारे देशी भाई स्वार्थ की महिमा जानेंगे । हम प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं, जो कोई स्वार्थ साधन के लिये निंदा स्तुति, पाप पुन्यादि का विचार न करेगा वुह थोड़े ही दिन में सब प्रकार संपन्न हो जायगा और अंत में किसी को उसकी निंदा करने का साहस न होगा । महात्मा कह गए हैं 'समरथ को नहिं दोष गुसाँई' । स्वार्थसाधन में दक्ष होने से बेईमान मनुष्य चतुर कहलाता है, हत्यारा बीर कहलाता है, परनिंदक स्पष्टवक्ता कहलाता है । जिस पर परमात्मा की दया होती है वही स्वार्थसाधन तत्पर होता । इससे हे भाइयो, ब्राह्मण के वाक्य को वेद की रिचा समझ के दिन रात, सोते जागते, स्वार्थ 2 रटा करो । इसी में भला होगा, नहीं सदा यों ही अवनति होती रहेगी जैसी महाभारत के समय से होती आई है ।

खंड 6, सं० 2 (15 सितंबर, ह० सं० 5)

स्वप्न

यह सपना मैं कहौं बिचारी ।
ह्वैहै सत्य गए दिन चारी ।।

ज्यों-ज्यों कांग्रेस के अधिवेशन का समय निकट आता जाता है त्यों त्यों देशभक्तों के हृदय में नाना भाँति के विचार उत्पन्न होते रहते हैं । हमारे पाठकों को यह तो भली भाँति बिदित ही है 'ब्राह्मण' का संपादक बल, बुद्धि, विद्या और धन के नाते केवल रामजी का नाम ही रखता है तिस पर भी प्रेमदेव की दया से प्रत्येक विषय में पाँचवाँ सवार समझा जाता है । विशेषतः अपने मन से तो धुआँ के धौरहर बनाने में कोई नहीं चूकता, फिर यही क्यों चूके ? अतः जहाँ बड़े 2 लोगों को देशहित की बड़ी 2 चिंता उपजती रहती है वहाँ इसके जी में भी अनेकानेक तरंगें उठा करती हैं । विशेष करके जब से सैकड़ों सहृदयों के द्वारा यह निश्चय हो गया है कि राजा प्रजा दोनों का सच्चा हित कांग्रेस के उद्योगों की सफलता ही पर निर्भर है तब से इसी का ध्यान अधिकतर आया करता है । तिस पर भी जब यह समझा जाता है कि अब आगामी समारोह के थोड़े ही दिन रह गये हैं तब दूसरी बातों का अधिक विचार होना जाति स्वभाव के विरुद्ध है । अतः कभी यह उमंग उठती है कि अब अवश्य भारत के दिन फिरेंगे क्योंकि चारों ओर चतुर लोगों में देशोद्धार ही की चर्चा रहा करती है । कभी यह सूझती है कि 'बारह बरस पीछे घूरे के भी दिन

फिरते हैं', फिर हम तो मनुष्य हैं पृथ्वीराज (बरंच कौरवों पांडवों के युद्ध) के समय से दिन दिन दुर्गति ही भोग रहे हैं । अतः यदि 'सुखस्यानन्तरन्दुःखन्दुःखस्यानन्तरं सुखम्' सत्य है तो अब परमात्मा अवश्यमेव हमारी सुध लेगा । कभी यह सनक चढ़ती है कि अभी थोड़े दिन हुए, जो लोग (आस्ट्रेलिया वाले) सभ्यता में पशु पक्षियों से अधिक न थे वे आज विद्यादि सद्‌गुणों में उन्नति कर रहे हैं, हम तो इतने गिर भी नहीं गए, हमारा उठना क्या असंभव है ?

कभी यह तरंग आती है कि मरणानन्तर कल्पित सुखों की आशा पर हमारे बहुत से भाई सहस्रों की संपत्ति और समस्त वर्तमान सुखों का मोह छोड़ देते हैं तो क्या हमें अपने देश के भावी सुखों की दृढ़ आशा पर अपने तन मन धन का लोभ करना चाहिए ? कदापि नहीं । कभी यह विश्वास आता है कि हमारे प्रेमशास्त्र के अनुसार अनेक प्रकार के लोगों का कुछ एकमत हो जाना ही अभ्युदय का मूल है । और कांग्रेस में यह बात प्रत्यक्ष देख पड़ती है कि सैकड़ों कोस से सैकड़ों भाँति के लोग आते हैं और सारी भिन्नता छोड़ के परस्पर भ्रार्तृत्व दरसाते हैं एवं एक स्वर से देश दुर्दशा निवारण एवं राजा प्रजा में सरल स्नेह संचारण के गीत गाते हैं ।

इसका फल क्या कुछ न होगा ? अवश्य होगा । कभी ध्यान आता है कि महात्मा ह्यूम जो न हमारे देश के हैं न जाति के, पर हमारे भले के लिये तन मन धन अर्पन कर दिया कर रहे हैं, करेंगे, क्या इनके उपकारों को हम कभी भूल जायँगे ? क्या इनके साहस में हमारे देशबंधु योग न देंगे ? जब कि कुत्ते भी अपने हितैषी के लिये प्राण दे देते हैं तो क्या भारत संतान उनसे भी गये बीते हैं कि केवल धन का मुँह देख के ऐसे निष्कपट शुभाकांक्षी को कुंठित कर देंगे ? नहीं ह्यूम बाबा, हम लोग कभी तुम्हारे उद्देश्य से जी न चुरावेंगे ।

हम भारतमाता के पुत्र हैं जो अपने उपकारियों की प्रतिमा पूजन में परम धर्म समझते हैं । सारा संसार हँसा करे, कुछ पर्वा नहीं, पर जिसे हम समझ लेंगे कि हमारा है उससे विमुख होंगे तो मुख दिखाने योग्य न रहेंगे । अतः कभी किसी दशा में तुम्हारा जी छोटा न होने देंगे । हम जानते हैं कि तुम्हारी प्यारी तथा हमारी हितसाधनहारी भारत की जातीय महासभा एवं इंगलिश एजेंसी को चालिस सहस्र रुपया वार्षिक व्यय निश्चय चाहिए । इसके बिना यह दोनों महत्कार्य नहीं चल सकते । पर परमेश्वर करे जो कहीं इनमें कुछ भी बाधा हुई फिर तौ पचास वर्ष हिंदोस्तान का सँभलना कठिन है । यह भी हम मानते हैं कि हमारे पूजनीय बुढ़ऊ (ह्यूम महोदय) ने बित बाहर धन लगा के अब तक कांग्रेस का काम चलाया है और यहाँ वालों से यथोचित सहारा नहीं पाया है बरंच बंबई वालों ने रुपये के लोभ से हमारे ह्यूम का जी कुढ़ाया है । पर क्या चिंता है—उद्योगिनम्पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः ।

बंबई की महासभा में जब इसका आंदोलन होगा तो अवश्य कोई उत्तम राह निकल आवेगी । अपने सच्चे उपकार के लिये तीन सौ पैंसठ दिन में चालिस सहस्र रुपया एकत्र होना कठिन चाहै हो, असंभव नहीं है । यदि एक बार बीस लक्ष मुद्रा एकत्रित हो जाय तो उनके ब्याज से सारे दुःख दरिद्र टल जायँगे । हर साल की हाव 2 मिट जायगी । हम बीस कोटि भारतवासी यदि धेला 2 इकट्ठा करेंगे तो 2000000 रुपया हो सकता है । बहुत से लोगों ने वर्ष भर तक एक रुपया प्रति मास देने का एवं अन्य लोगों को इसी निमित्त कटिबद्ध करने का प्रण कर लिया है ।

इसके अतिरिक्त अभी ग्रामों में एतद्विषयक चर्चा भली भाँति नहीं फैली । यदि सौ पचास लोग अपने आसपास के ग्रामों में फिरने और उचित रीति से सर्वसाधारण को कांग्रेस की उत्तमता एवं

आवश्यकता समझाने तथा उनसे सहायता लेने का उद्योग करें तो बहुत सहज में सब कुछ हो सकता है। उपाय में न चूकना चाहिए सिद्धि ईश्वर आप ही देगा—मनुष्य मंजूरी देत है कब राखैंगे राम। हमारे प्यारे ह्यूम हतोत्साह क्यों होते हैं, धैर्य और साहस से क्या नहीं हो सकता ? जिस कांग्रेस के लिये हिंद और इंगलिस्थान के एक से एक विद्वान सज्जन छटपटा रहे हैं उसमें कभी त्रुटि होगी यह कैसे हो सकता है।

इसी प्रकार के विचार करते 2 एक आँख लग गई तो क्या देखते हैं कि दुपहर का समय है, सूर्यनारायण की प्रखर किरणें शीत के प्राबल्य को ललकार 2 के साहस दिला रही हैं, पर उसे भागते हुए कुवाँ खाता भी नहीं सूझता। ऐसे में हम और हमारे नगरनिवासी एक नवयुवक मित्र न जाने किस काम से निबृत्त हुए घर आ रहे हैं और सड़क पर एक ग्रामीण भाई वृक्ष के नीचे विश्राम ले रहे हैं। इनकी अवस्था चालीस वर्ष के लगभग है और अंबौआ की मिरजई, गुलाली से गहरी रँगी हुई मारकीन की धोती, शिर पर ढाई तीन आने गज वाली मलमल का मुरेठा, पास ही गठरी के ऊपर पिछौरी चढ़ी हुई मोटी लाल रंग की बनात और एक अधोतर के अंगोछे में बँधी हुई लुटिया डोर तथा पान की थैली देखने से स्पष्ट होता था कि किसी गाँव के साधारण भलेमानस हैं। कई कोस की सफर किए आ रहे हैं इससे शरीर शिथिल हो रहा है, पैरों में धूल चढ़ रही है, अभी 2 जूता उतार के बैठे हैं। पर मुख पर एक प्रकार का उत्साह दिखलाई दे रहा है जिससे जान पड़ता है कि अपने विचार के आगे थकावट की कुछ चिंता नहीं करते।

इस जमाने में इस वय के पुरुष में ऐसी दृढ़ता देख के हमारा कौतुकी चित्त इन महाशय से बातचीत किए बिना न माना अतः पास जा के वार्तालाप छेड़ा।

वह बातें फिर सुनावैंगे।

खं० 6, सं० 5 (15 दिसंबर, ह० सं० 5)

मूलन्नास्ति कुतः शाखा

हमारे अनेक देशभक्तगण अनेकानेक उत्तम विषयों के प्रचार के लिये हाय 2 किया करते हैं। समाचार-पत्रों के संपादक तथा संबाददाता और सभाओं के अधिष्ठाता एवं सभ्य सदा समाज संशोधन, राजनैतिक उद्बोधन, धर्म प्रचार, विद्या, सभ्यता, उद्योग एकतादि के संचार के लिये दिन रात उपाय किया करते हैं, पर हमारी समझ में पश्चिमोत्तर देश वालों की भलाई के लिये शिर पटकना निरा व्यर्थ है। सच पूछिये तो पशु और मनुष्य में बड़ा भारी भेद केवल भाषा का है। भय प्रीति क्रोधादि हार्दिक भाव पशु पक्षी भी अपने सजातियों को भली भाँति समझा लेते हैं। यदि इतनी ही विशेषता मनुष्य में भी हुई तो कौन विलक्षणता है ?

भर्तृहरि जी के इस वाक्य में कोई संदेह नहीं है कि 'साहित्य संगीत कलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः' । फारसी के विद्वान भी मानते हैं कि हैवाने नातिक–हैवाने मुतलक से केवल भाषा ही के कारण श्रेष्ठ होते हैं । उस भाषा का एतद्देशवासियों को कुछ भी ममत्व नहीं है । इसका बड़ा भारी प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि अंग्रेजी और उरदू (जो यहाँ की भाषा न हैं न होंगी) के पत्रों की तो बड़ी 2 पूँछ है, पर देवनागरी, जो त्रिकाल में इनकी भाषा है, और किसी बात में किसी बोली से न्यून नहीं बरंच हम तथा हमारे सहयोगी अनेक बार सिद्ध कर चुके हैं और काम पड़े तो दिखला सकते हैं कि सबसे सरल, सबसे सरस, सबसे शुद्ध होती है, उसका मोह तथा अभिमान करने वाले यदि हैं भी तो ऊँगलियों पर गिनने लायक, सो भी नितांत निस्सहाय एवं निरुत्साह ।

जिसने कोई समाचारपत्र चलाया होगा उसका जी ही जानता होगा । भला इस दशा में क्यों कर आशा हो सक्ती है कि इस देश के लोग कभी सुधरेंगे । कब कहाँ किस जाति ने अपनी भाषा का गौरव बढ़ाए बिना किसी बात में उन्नति की है ? कोई बतावे तो हम दृढ़तार्वूक कहते हैं और कोई हठी हमारे विरुद्ध कुछ कहेगा तो प्रमाणित कर देंगे कि हिंदू समुदाय, हिंदी के स्वादुग्राही, जब तक हिंदी की ममता एवं सहानुभूति में तन मन धन से सच्चे उत्साही न होंगे, देशी विदेशी प्राचीन नवीन सुलेखकों के समस्त भाव हिंदी में न भरेंगे, तब तक कभी किसी के किये कुछ न होगा । अभी तो यह इतना भी नहीं जानते कि हमारी भाषा क्या है, कैसी है ।

उसके संबंध में हमें क्या कर्तव्य है, उसके द्वारा हमारा क्या हित हो सकता है तथा अपने हितैषियों के साथ हमें कैसा आचरण रखना चाहिए ? जब तक यह लोग इन बातों में पक्के न हो जायँ तब तक अन्य बातों का उद्योग करना ऐसा है जैसे बिना जड़ के वृक्ष को सींच के फल की आशा करना । जिन महात्मा हरिश्चंद्र ने हिंदी और हिंदुओं के उद्धारार्थ अपना लाख का घर खाख कर दिया, बरंच मरते 2 भी हिंदोस्थान ही के अभ्युत्थान की चिंता करते 2 लीला बिस्तार गये, उनका तो अभागे हिंदुओं ने कुछ गुण ही न जाना, उनकी परमोत्तम पुस्तकों को तो कुछ आदर ही न किया, दूसरे लोग क्या आशा कर सक्ते हैं कि हमारे परिश्रम से यह कुछ उपकार लाभ कर सकेंगे जो भली बात की महिमा ही नहीं जानते, भलाई करने वालों को माननीय ही नहीं मानते, उनसे वे लाभ उठा सकेंगे ?

हाय, कहते हुए कलेजा फटता है कि श्री बाबू हरिश्चंद्र के अमूल्य ग्रंथों को महाराजकुमार श्रीरामदीन सिंह (खड्गबिलास प्रेस बाँकीपुर के स्वामी) ने प्रकाशित करके दो वर्ष तक सहस्त्रों रुपये खोये, महान् परिश्रम किया पर अंत में जब देखा कि केवल बारह ग्राहक हैं तो निराश हो के बैठ रहे । क्या भारत भूमि इतनी निर्जीव हो गई कि उसके बीस कोटि संतान में से हरिश्चंद्र कला के लिये दो तीन सौ मनुष्य भी वर्ष भर में 6 रुपये न दे सकें । बाबू रामदीन सिंह को हम कुछ नहीं कह सकते, उन्होंने बित बाहर साहस दिखलाया, सर्कार को भी कुछ कहना व्यर्थ है कि उसने 80 कापियाँ खरीदने से क्यों मुँह मोड़ा । उसे हमारी भाषा से ममता ही क्या है । दो वर्ष सहायता दी वही क्या थोड़ा अनुगृह था ।

पर जिन लोगों को हिंदी की रसिकता का अभिमान है, जिनके विचार में हरिश्चंद्र का सम्मान है उन्हें इससे बढ़ के लज्जा का विषय क्या होगा कि उनके जीते जी उनकी प्यारी भाषा के परमाचार्य, उनके प्रेम के परमाधार, नहीं 2 परमाराध्य के जन्म भर का परिश्रम इस दशा को पहुँचे । हा धिक ! या कोई कमर बाँधने वाला नहीं है ? फिर किस बिरते पर बड़े 2 मनमोदक बनाये जाते हैं ? यदि किसी को कुछ

भी पक्ष हो तो सबसे पहिले 'कला' के पुनः प्रकाश का उद्योग करे अथवा अन्य बातों का नाम लेना छोड़ दे नहीं तो संसार उपहासपूर्वक कहेगा कि मूलन्नास्ति कुतः शाखा !

खं० 6, सं० 5 (15 दिसंबर, ह० सं० 5)

काल

संसार में जो कुछ देखा सुना जाता है सब इन्हीं दो अक्षरों के अंतर्गत है। इसका पूरा भेद पाना मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर है। क्योंकि यदि—'नृपति सेन संपति सचिव, सुत कलत्र परिवार। करत सबन को स्वप्न सम, नमो काल करतार ॥' के अनुसार उसे ईश्वर का रूपांतर न मानिये तौ भी इसमें कोई संदेह नहीं है कि अनादि और अनंत एवं अनेक रूपधारी तथापि अरूप यह भी है। इसी कारण बहुत से महात्माओं ने परमात्मा का नाम महाकाल रखा है। पर हमारी समझ में जो स्वयं महत्व विशिष्ट है उसके नाम में महा का शब्द जोड़ना व्यर्थ ही नहीं, किंतु एक रीति से हँसी करना है।

ब्राह्मण को महाब्राह्मण कहने से कोई प्रशंसा का द्योतन नहीं होता। केवल काल ही कहने से पूरी स्तुति हो जाती है। जिन्होंने परमात्मा को अकाल कहा है वे भी न जाने क्या समझे थे नहीं तो जो सब काल में विद्यमान है वह अकाल क्यों ? उसे तो नित्य कहना चाहिए। काल से यहाँ हमारा अभिप्राय मृत्यु से नहीं किंतु समय से है। मृत्यु का यह नाम केवल इसलिए पड़ गया है कि उसके लिये एक निश्चित और अटल काल नियत है। पर सूक्ष्म विचार से देखिये तो सभी बातें काल के अधीन हैं। वृक्ष लगा के सींचते 2 सिर दे मारिये, जब तक उसके फलने का काल न आवेगा तब तक फल का दर्शन न होगा। इसी प्रकार जिधर दृष्टि फैलाइये यही देखिएगा कि सब कुछ काल के अधीन है। बिना काल कभी कहीं कुछ हो ही नहीं सक्ता।

यों उद्योग करना पुरुष का धर्म है। उसमें लगे रहो। आलस्य बड़ी बुरी बात है। उसे छोड़ो पर यह भी स्मरण रक्खो काल बड़ा बली है। वह अपने अवसर पर सब कुछ करा लेता है। या यों कहिए कि आप कर लेता है। आप बड़े उद्योगी हैं पर तन मन धन सब निछाबर कर दीजिए हम आपकी ओर दृष्टि भी न करेंगे, साथ देना कैसा ? हम बड़े भारी आलसी हैं, पर जब पास पल्ले कुछ न रहेगा और स्वाभाविक आवश्यकताएँ सतावैंगी तब विवश हो, हाथ पाँव अथवा जिह्वा किसी काम में लगावैंगे, जिससे निर्वाह हो। इसी से बुद्धिमान लोग कह गये हैं कि मनुष्य को काल का अनुसरण करना चाहिए—जमाने के तेवर पहिचानना चाहिए।

जो लोग ऐसा नहीं करते वे या तो बीते हुए काल की दशा पर घमंड करके अपने लिए काँटे बोते हैं अथवा आगामी काल की कल्पित आशा में पड़ के हानि सहते हैं। पर यह दोनों बातें मूर्खता की हैं। हमें चाहिए कि जो कुछ करना हो वर्तमान गति के अनुसार करैं। जो लोग अपने काल के अनेक

पुरुषों की चाल-ढाल परिवर्तित कर देने के लिये प्रसिद्ध हो गए हैं वे वास्तव में साधारण व्यक्ति न थे। उन्हें मूर्ख समझिए चाहे मनीषी कहिये, पर वे थे बड़े। किंतु उस बड़प्पन का कारण काल ही के अनुसरण पर निर्भर था।

जिन्होंने यह विचार कर काम किया कि हमारे पूर्व इतने दिनों से जनता इस ढर्रे पर झुक रही है, अतः इधर ही के अनुकूल पुरुषार्थ दिखाना उत्तम होगा। उनकी मनोरथ सिद्धि बड़ी सरलता से हुई। क्योंकि जिस बात को वे चलाना चाहते थे, उसके अवयव पहिले ही से प्रस्तुत थे। इस कारण वे अपने काम में बड़े संतोष के साथ कृतकार्य हुए, पर जिन्होंने कालचक्र की चाल और सहकालीन लोगों की रुचि न पहिचान कर, अपना काम फैलाया, वे मरने के पीछे चाहे जैसे गौरवास्पद हुए हों, उनके उत्तराधिकारियों ने चाहे जितनी कृतकृत्यता प्राप्त की हो, पर अपने जीवनकाल को उन्होंने अपमान, कष्ट और हानि ही सहते 2 बिताया। वे आज हमारी दृष्टि में प्रतिष्ठास्पद तो हैं पर विचारशक्ति उनमें यह दोष लगा सक्ती है कि या तो उनमें जमाने के तेवर पहिचानने की शक्ति न थी या जानबूझकर नेचर के साथ लड़ाई ठान के वे उलझेड़े में पड़े ! उपर्युक्त दोनों प्रकार के उदाहरण प्रत्येक देश के इतिहास में अनेक मिल सक्ते हैं, पर उन्हें न लिख के भी यदि हम अपने पाठकों से पूछें कि इन दोनों में आपको कौन मार्ग रुचता है तो हम निश्चय यही उत्तर पावैंगे कि काल की चाल के अनुकूल चलनेवाला ! क्योंकि सदा सब देशों में बड़े 2 लोग थोड़े होते हैं जो प्रत्येक कष्ट और हानि का सामना करने को बद्ध परिकर रहें, पर ऐसे लोगों की संख्या अधिक होती है जो साधारण रीति से संसार के नित्यनियमों का पालनमात्र अपनी सामर्थ्य का निचोड़ समझते हों और ऐसे लोगों के लिये यही ढर्रा सुभीते का है कि जिधर अनेक सहकालियों की मनोवृत्ति झुक रही हो, उधर ही ढुलके रहना।

इसमें हानि अथवा निंदा का भय नहीं है, बरंच यदि कम परिश्रम, सहनशीलता आदि में थोड़ी सी विशेषता निभ जाय तो अपना तथा अपने लोगों का बड़ा भारी हित हो सक्ता है, महाबली काल की सहायता मिलती रहती है। इससे जिन्हें हमारे उपदेश कुछ रुचिकारक हों, उनसे हम अनुरोध करते हैं कि बड़े 2 विचार छोड़ के यदि वे सचमुच देश जाति का भला चाहते हों, तो तन मन धन (कुछ न हो सके तो) वचन से थोड़ा बहुत कोई ऐसा काम नित्य करते रहैं जो वर्तमान समय के बहुत से लोगों ने अच्छा समझ रक्खा हो। बस इसी में बहुत कुछ हो रहेगा। जिस काल में यह सामर्थ्य है कि सारे जगत के सर्वोत्कृष्ट प्रकाशक सूर्य को आधी रात के समय ऐसा अदृश्य करते हैं कि दूरबीन लगाने से भी न देख पड़े, जिसमें यह शक्ति है कि जड़ चेतन मात्र को प्रफुल्लित करने वाले, सबके जीवन के एक मात्र आधार प्रातः पवन को जेठ बैसाख की दुपहरी में ऐसा बना देते हैं कि लोग उससे जी चुराते हैं, वह यदि तुम्हारा साथी होगा अथवा यों कहो कि तुम यदि उसके अनुगामी होगे, तो क्या कुछ न हो रहेगा?

इसकी वह महिमा है कि जो बातें कभी किसी के ध्यान में नहीं आतीं बरंच सोचने से असंभव जँचती हैं उनके लिए ऐसे 2 योग लगा देता है कि एक दिन वैसा ही हो रहता है। ऐसे महासामर्थी से यह तो बिचारना ही नहीं चाहिए कि अमुक बात न हो सकेगी। जो बित्ताभर के बालक को बली, धनी, विद्वान् मनुष्य और बड़े से बड़े मनुष्यरत्न को राख का ढेर बना देता है, वह क्या नहीं कर सक्ता ? उसके तनिक से भ्रूसंचालन में जो न हो जाय सो थोड़ा है। आपके शरीर में चाहे सहस्र हाथियों का बल हो, पर काल भगवान एक दिन की अस्वस्थता में लाठी के सहारे उठने बैठने योग्य बना सक्ते हैं।

किसी के घर में लाखों की संपत्ति भरी हो, पर एक रात्रि में चोरों के द्वारा यह भिक्षा माँगने के योग्य

कर सकते हैं। फिर इनके सामने किसका घमंड रह सक्ता है ? जो लोग समझते हैं कि हमारा देश अमुक 2 विषयों में दुखी है उन्हें विश्वास रखना चाहिए कि कालचक्र (समय का पहिया) प्रतिक्षण घूमता ही रहता है और उसका नियम है कि जो आरा ऊपर है वह अवश्य नीचे आवेगा तथा जो नीचे है वह अवश्य ऊपर जायेगा। अतः रात्रि में यह सोचना कि दिन होहीगा नहीं, बज्र मूर्खता है। आप कुछ न कीजिये तो भी सब कुछ हो रहेगा, पर यदि हाथ समेटे बैठा रहना न भाता हो, तो अनेक काम हैं जिनमें से एक 2 में अनेक 2 लोग हुए हैं। आप भी किसी में जुट जाइए, पर इतना स्मरण रखिएगा कि जिस काम में काल की गति परखने वाले लगे हों, उसी में लगने से सुभीता रहेगा, विरुद्ध कार्यवाही में अनेक विघ्नों का भय है।

यदि उन्हें झेल भी जाइये तो भी अपने जीते जी तो पहाड़ खोद के चूहा ही निकालियेगा, पीछे से चाहे जो हो, उसमें आपका इजारा नहीं। वह काल भगवान की इच्छा पर निर्भर है। इसी से अगले लोग कह गए हैं कि काल का स्मरण सब काल करते रहना चाहिए। यदि यह वाक्य नीरस जान पड़े तो गोस्वामी जी का यह परम रसीला बचन कंठ रखिये—'लव निमेष परमान युग, वर्ष कल्प शर चंड। भजसि न मन तेहि राम कहं, काल जासु कोदंड ॥' इसके द्वारा लोक परलोक दोनों सुधर सकेंगे और काम की अमूल्यता आपसे आप समझ में आती रहेगी, जिसका समझना मुख्य धर्म है।

खं० 6, सं० 7 (15 फरवरी, ह० सं० 6)

वृद्ध

इन महापुरुष का वर्णन करना सहज काम नहीं है। यद्यपि अब इनके किसी अंग में कोई सामर्थ्य नहीं रही अतः इनसे किसी प्रकार की ऊपरी सहायता मिलना असंभव सा है, पर हमें उचित है कि इनसे डरें, इनका सन्मान करें और इनके थोड़े से बचे खुचे जीवन को गनीमत जानें। क्योंकि इन्होंने अपने बाल्यकाल में विद्या के नाते चाहे काला अक्षर भी न सीखा हो, युवावस्था में चाहे एक पैसा भी न कमाया हो, कभी किसी का कोई काम इनसे न निकला हो तथापि संसार की ऊँच नीच का इन्हें हमारी अपेक्षा बहुत अधिक अनुभव है।

इसी से शास्त्र की आज्ञा है कि वयोधिक शूद्र भी द्विजाति के लिये माननीय है। यदि हममें बुद्धि हो तो इनसे पुस्तकों का काम ले सक्ते हैं। बरंच पुस्तक पढ़ने में आँखों को तथा मुख को कष्ट होता है, न समझ पड़ने पर दूसरों के साथ दौड़ना अपनी बुद्धि को दौड़ाना पड़ता है, पर इनसे केवल इतना कह देना बहुत है कि हाँ बाबा फिर क्या हुआ ? हाँ बाबा ऐसा हो तो कैसा हो ? बाबा साहब यह बात कैसी है ? बस बाबा साहब अपने जीवन भर का आंतरिक कोष खोलकर रख देंगे। इसके अतिरिक्त इनसे डरना इसलिए उचित है कि हम क्या हमारे पूज्य पिता चाचा ताऊ भी इनके आगे के छोकड़े थे।

यदि यह बिगड़ें तो किसकी कलई नहीं खोल सक्ते ? किसके नाम पर गट्टा सी नहीं सुना

सक्ते ? इन्हें संकोच किसका है ? बक्की के सिवा इन्हें कोई कलंक ही क्या लगा सक्ता है ? जब यह आप ही चिता पर एक पाँव रक्खे बैठे हैं, कब्र में पाँव लटकाये हुए हैं तो इनका कोई करी क्या सक्ता है ? यदि इनकी बातें कुबातें हम न सहें तो करें क्या ? यह तनिक सी बात में कष्टित और कुंठित हो जायँगे और असमर्थता के कारण सच्चे जी से शाप देंगे जो वास्तव में बड़े तीक्ष्ण शस्त्र की भाँति अनिष्टकारक होगा । जब कि महात्मा कबीर के कथनानुसार मरी खाल की हाय से लोहा तक भस्म हो जाता है तो इनकी पानी भरी खाल (जो जीने मरने के बीच में है) की हाय कैसा कुछ अमंगल नहीं कर सक्ती ।

इससे यही न उचित है कि इनके सच्चे अशक्त अंतःकरण का आशीर्वाद लाभ करने का उद्योग करें । क्योंकि समस्त धर्मग्रंथों में इनका आदर करना लिखा है । सारे राज नियमों में इनके लिये पूर्णतया दंड की विधि नहीं है । और सोच देखिये तो यह दयापात्र जीव हैं, क्योंकि सब प्रकार पौरुष से रहित हैं । केवल जीभ नहीं मानती, इससे आँय बाँय शाँय किया करते हैं या अपनी खटिया पर थूकते रहते हैं । इसके सिवा किसी का बिगाड़ते ही क्या हैं । हाँ, इस दशा में भी दुनिया के झंझट छोड़ के भगवान का भजन नहीं करते, वृथा चार दिन के लिये झूठी हाय 2 कुढ़ते कुढ़ाते हैं, यह बुरा है । पर केवल इन्हीं के हक में, दूसरों को कुछ नहीं । फिर क्यों इनकी निंदा की जाय ? आज कल बहुतेरे होनहार एवं यत्नशील युवक कहा करते हैं कि बुड्ढे खबीसों के मारे कुछ नहीं होने पाता ।

यह अपनी पुरानी सड़ी अकिल के कारण प्रत्येक देशहितकारक नव विधान में विघ्न खड़ा कर देते हैं । पर हमारी समझ में यह कहने की भूल है । नहीं कि सब लोग एक से नहीं होते, यदि हिकमत के साथ राह पर लाये जायँ तो बहुत से बुड्ढे ऐसे निकल आवेंगे जिनसे अनेक युवकों को अनेक भाँति मौखिक सहायता मिल सक्ती है । रहे वे बुड्ढे जो सचमुच अपनी सत्यानाशी लकीर के फकीर अथवा अपने ही पापी पेट के गुलाम हैं । वे प्रथम तौ हई कै जनै ? दूसरे अब वह समय नहीं रहा कि उनके कुलक्षण किसी से छिपे हों, फिर उनका क्या डर ?

चार दिन के पाहुन, कछुआ मछली अथवा कीड़ों की परसी हुई थाली, कुछ अमरौती खा के आये ही नहीं, कौआ के लड़के हई नहीं बहुत जियँगे दश वर्ष । इतने दिन में मर पच के, दुनिया भर का पीकदान बन के, दस पाँच लोगों के तलवे चाट के, अपने स्वार्थ के लिये पराये हित में बाधा करेंगे भी तो कितनी ? सो भी जब देशभाइयों का एक बड़ा समूह दूसरे ढर्रे पर जा रहा है तब आखिर तो थोड़े ही दिन में आज मरे कल दूसरा दिन होना है । फिर उनके पीछे हम अपने सदुद्योगों में त्रुटि क्यों करें ।

जब वह थोड़ी सी घातों की जिंदगी के लिये अपना बेढंगापन नहीं छोड़ते तो हम अपनी बृहज्जेवनाशा में स्वधर्म क्यों छोड़ें, हमारा यही कर्तव्य है कि उनकी सुश्रूषा करते रहें क्योंकि भले हों वा बुरे पर हैं हमारे ही । अतः हमें चाहिए अदब के साथ उन्हें संसार की अनित्यता अथच ईश्वर, धर्म, देशोपकार एवं बंधु वात्सल्य की सत्यता का निश्चय कराते रहें । सदा समझाते रहें कि हमारे तो तुम बाबा ही हो अगले दिनों के ऋषियों की भाँति विद्यावृद्ध, तपोवृद्ध हो तो भी बाबा हो और बाबा लोगों की भाँति 'आपन पेट हाहू, मैं ना देहौं काहू' का सिद्धांत रखते हो तो भी क्या, वृद्धता के नाते बाबा ही हो । पर इतना स्मरण रक्खो कि अब जमाने की चाल वह नहीं रही जो तुम्हारी जवानी में थी । इससे उत्तम यह है कि इस वाक्य को गाँठी बाँधो कि– 'चाल वह चल कि पसे मर्ग तुझे याद करें । काम वह कर कि जमाने में तेरा नाम रहे ।' नहीं तो परलोक में बैकुंठ पाने पर भी उसे थूक 2 के नर्क बना लोगे

इस लोक का तो कहना ही क्या है ।

अभी थूक खखार देख के कुटुम्ब वाले घृणा करते हैं, फिर कृमिविट भस्म की अवस्था में देख के ग्रामवासी तथा प्रवासी घृणा करेंगे । और यदि वर्तमान करतूतें विदित हो गईं तो सारा जगत सदा थुडू 2 करेगा । यों तो मनुष्य की देह ही क्या जिसके यावदवयव घृणामय हैं, केवल बनाने वाले की पवित्रता के निहोरे श्रेष्ठ कहलाती है, नोचेत् निरी खारिज खराब हाल खाल की खलीती है । तिस्पर भी इस अवस्था में जब कि 'निवृता भोगेच्छा पुरुष बहुमाना बिगलिताः समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः । शनैर्यष्ट्युत्थानं घन तिमिररुद्धेऽपि नयने अहो दुष्टा काया तदपि मरणापायचकिता ।' यदि भगवच्चरणानुसरण एवं सदाचरण न हो सका तो हम क्या हैं, राह चलने वाले तक धिक्कारेंगे और कहेंगे कि— 'कहा धन धामैं धरि लेहुगे सरा मैं भए जीरन जरा मैं तहू रामैं ना भजत हौ ।'

यदि समझ जाओगे तो अपना लोक परलोक बनाओगे, दूसरों के लिये उदाहरण के काम आओगे, नहीं तो हमें क्या है, हम तो अपनी वाली किये देते हैं, तुम्हीं अपने किये का फल पाओगे और सरग में भी बैठे हुए पछिताओगे । लोग कहते हैं बारह बरस वाले को वैद्य क्या ? तुम तो परमात्मा की दया से पंचगुने छगुने दिन भुगताए बैठे हो । तुम्हें तो चाहिए कि दूसरों को समझाओ पर यदि स्वयं कर्तव्याकर्तव्य न समझो तो तुम्हें तो क्या कहें हमारी समझ को धिक्कार है जो ऐसे वाक्यरत्न ऐसे कुत्सित ठौर पर फेंका करते हैं ।

खं० 6, सं० 8 (15 मार्च, ह० सं० 6)

पौराणिक गूढ़ार्थ

अंग्रेजी ढंग की शिक्षा पाने वालों में न जाने यह दोष क्यों हो जाता है कि जो बातें सहज में नहीं समझ पड़तीं उन्हें मिथ्या समझ बैठते हैं । यदि इतना ही होता तो भी इसके अतिरिक्त कोई बड़ी हानि न थी कि थोड़े से लोग कुछ का कुछ समझ लें । पर खेद यह है कि वे अपनी अनुमति देने में अपने पूर्वजों की प्रतिष्ठा का कुछ भी ध्यान न करके बिन समझी बातों के विषय में भी बहुधा ऐसी निरंकुश भाषा का प्रयोग कर बैठते हैं जिसमें विद्वानों को खेद और साधारण लोगों को क्षोभ उत्पन्न होके परस्पर की प्रीति में बड़ा भारी धक्का लगता है ।

आजकल सब समाजें आपस के हेल मेल को आवश्यक समझती हैं एवं विचारशील लोग सारे धर्म कर्मादि से एकता को श्रेष्ठ समझते हैं । पर इन ऐक्यभावुकों में भी बहुत से लोग ऐसे विद्यमान हैं जो अपने यहाँ के महाविरे और प्राचीन काल के रंग ढंग से अनभिज्ञ होने के कारण जब तब कह बैठते हैं कि पुराण मिथ्या हैं, प्रतिमा पूजन वाहियात हैं, यह सब पंडितों के ढकोसले हैं । ऐसी 2 बातें आदि में पादरियों ने प्रचार की थीं पर यतः उनका मुख्य अभिप्राय इस देश के भोले भाले लोगों को अपनी जथा में मिलाना मात्र था ।

हमारे देश, जाति, धर्म, भाषादि से ममता न थी इससे उनके कथन पर हमें कोई आक्षेप नहीं है। विशेषतः इस काल में जब कि उनका प्राबल्य बहुत कुछ क्षीण हो गया है और काल भगवान से आशा है कि कुछ दिन में कुछ भी न रक्खेंगे। इसके अनंतर दयानंद स्वामी तथा उनके सहकारियों ने ऐसा ही उपदेश करना स्वीकार किया था। पर उन्हें भी हम कोई दोष न देंगे क्योंकि मुख्य प्रयोजन भारत संतान को घोर निद्रा से जगाना था, जिसकी युक्ति उन्होंने यही समझी थी कि कुछ कष्ट देने वाली तथा कुछ झुँझलाहट पहुँचाने वाली बातें कह के चौकन्ना कर देना चाहिए। पर इस काल में परमेश्वर की दया से कुछ चैतन्यता आ चली है। अपना भला बुरा सूझने लगा है।

इससे हमारे भाइयों को उचित है कि विरोध बढ़ाने वाली बातों को तिलांजुली दें और अपने को अपना समझें। हम देव प्रतिमा पर सारा धन चढ़ा दें तौ भी घर का रुपया घर ही में रहेगा। ब्राह्मणों को सर्वस्व दान कर दें तौ भी देश का धन देश ही में रहेगा। फिर इसमें क्या हानि है? श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को देखिये कि न कभी किसी मंदिर में दर्शन करने जाते हैं न मूर्ति पूजकों का सा व्यवहार बर्ताव रखते हैं पर सन् 1883 में एक शालग्राम शिला के पीछे कारागार तक हो आए क्योंकि वे भली भाँति समझते हैं कि अपने गौरव का संरक्षण इसी में है। प्रतिमा पूजन के निषेधक श्री स्वामी दयानंद सरस्वती उन दिनों जीते थे पर सुरेन्द्रो बाबू के विरुद्ध एक अक्षर भी न कहा। बरंच काम पड़ता तो मुंशी इंद्रमणि की भाँति इनकी सहायता में भी अवश्य कटिबद्ध हो जाते क्योंकि गौरव संस्थापन का तत्त्व उन्हें अविदित न था।

यदि इन आदरणीय पुरुषों के ऐसे 2 कामों से हम शिक्षा ग्रहण करें तो बतलाइए क्या हानि है? फिर अपनी बातों को बुरा कहके अपने भाइयों में बुरा बनना कौन सी भलाई है? पुराण यदि सचमुच दूषित हों तो भी हमारे आदरणीय पूर्वजों के बनाए हुए हैं अतः माननीय हैं। कुछ न हो तो भी उनके द्वारा संस्कृत के अनेकानेक महाविरे मालूम होते हैं। फिर क्यों उनकी निंदा की जाय? क्या चहारदर्वेश और राबिन्सन क्रूसो की कहानियों के समान भी वे नहीं हैं, जिनके पढ़ने में लोग महीनों आँखें फोड़ते हैं?

जिन्हें विचारशक्ति से तनिक भी काम लेना मंजूर न हो उन्हें भी यह समझ के पुराणों की प्रतिष्ठा करना चाहिए कि सैकड़ों ब्राह्मण भाइयों की गृहस्थी उन्हीं से चलती है, सैकड़ों हिंदू भाइयों को लोक परलोक बनने का विश्वास उन्हीं पर निर्भर है। फिर एक बड़े समूह को कुंठित करना कहाँ की बुद्धिमानी है? विशेषतः जो लोग चाहते हैं कि देश में एका बढ़े और देशहित के कामों में सर्वसाधारण से सहायता मिले उनके लिये अभाग्यवशतः हमारे संस्कार बिगड़ गये हैं। विदेशी भाषाओं के मारे संस्कृत का पठन पाठन छूट गया है। अपने यहाँ की उत्तम बातों का खोजना अनभ्यस्त हो रहा है। नहीं तो हम समझा देते, बरंच सब लोग आप समझ जाते, कि जिन सज्जनों ने संसार के सारे झगड़े केवल परमेश्वर का भजन अथवा जगत् का उपकार करने के लिये छोड़ दिये थे, जिन्होंने अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग विद्या पढ़ने और ग्रंथ बनाने में बिताया था, उनकी कोई छोटी से छोटी बात भी निरर्थक नहीं है। फिर पुराण तो बड़े 2 ग्रंथ हैं।

उनमें ऐसी बातें क्योंकर हो सक्ती हैं जो आत्मिक, सामाजिक अथवा शारीरिक लाभदायिनी न हों। इस लेख में हम थोड़ी सी उन्हीं बातों का मुख्य अभिप्राय दिखाया चाहते हैं जिन्हें लिखने वालों ने बड़ी बुद्धिमत्ता से हमारे ज्ञान, मान, कल्याण की वृद्धि के लिये लिखा है, पर कविता न पढ़ने के कारण

हम समझते नहीं हैं और बिना समझे बूझे दाँत बाया करते हैं । ईश्वर, धर्म, विद्या, बीरतादि का वर्णन, शिव, दुर्गा इत्यादि के चरित्र यद्यपि हम मनुष्यों के रूप रंग, चाल व्यवहार से विलक्षण हैं पर ऐसे नहीं हैं कि उनके श्रवण मननादि से कोई न कोई उपदेश प्राप्त न हो । हाँ, यदि हम उधर ध्यान ही न दें, बरंच हठ के मारे हँसी उड़ावैं तो पुराणों का क्या दोष है, हमारी ही मूर्खता है ।

यदि कुछ दिन काव्य पढ़िये और कल्पना शक्ति से काम लेना सीखिये अथवा हमारी निम्नलिखित पंक्तियों को ध्यान से देखिये और ऐसी ही ऐसी बातों में बुद्धि दौड़ाइये तो निश्चय हो जायगा कि पुराणों की कोई बात मिथ्या नहीं है, बरंच जहाँ 2 मिथ्या की भ्रांति होती है वहाँ गूढ़ार्थ भरा हुवा है, जिसे अंगीकार किये बिना भारत का कल्याण नहीं हो सक्ता ।

यह सब पौराणिक भली भाँति जानते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव इत्यादि नाम भिन्न 2 हैं, पर हैं वास्तव में सब एक ही परमात्मा का स्वरूप और उनके हस्तपदादि भक्तों की उमंग एवं कवियों की कल्पना मात्र है किंतु है सब निरवयव जगदीश्वर का वर्णन । इसी प्रकार दुर्गा, काली इत्यादि देविवाँ भी ईश्वर की शक्ति हैं जो किसी भाँति पृथक् नहीं हैं । जैसे पंडित जी का पांडित्य, मौलवी साहब की लियाकत इत्यादि पंडित जी तथा मौलवी साहब से भिन्न कोई वस्तु नहीं हैं वैसे ही सरस्वती (विद्या शक्ति) दुर्गा (वीरताशक्ति) इत्यादि भी ईश्वर से पृथक् कोई सावयव पदार्थ नहीं हैं ।

रहे इनके रूप एवं काम सो यद्यपि कभी 2 ऊपरी शब्दों में सृष्टि क्रम से विलक्षण जान पड़ते हैं, पर उनके विषय में तर्क वितर्क उठाना निरी मूर्खता है । क्योंकि किसी भाषा के मुहाविरे तथा किसी देश के कवियों की कविता का ढंग एवं उनकी मनसा को जाने बिना झट से कह उठना कि 'झूठ है', 'ऐसा नहीं हो सक्ता', अथवा ऐसी 2 कुतर्कें उठाना कि 'ब्रह्मा के चार मुँह हैं तो सोते क्यों कर होंगे', एवं 'सहस्र शीर्षा' वाली ऋचा पर कहना कि 'शिर भी सहस्र और आँखें भी सहस्र ही हैं तो सावयव उपासकों का ईश्वर काना ठहरता है क्योंकि एक शिर के साथ दो आँखें होने का नियम है' इत्यादि निरी नीचता है । ऐसी बातों से लाभ तो केवल इतना ही मात्र है कि कच्चे विश्वासी तथा बुद्धिहीन लोग अपने धर्म को अप्रमाण समझ के हमें सच्चा समझने लगें तो असंभव नहीं । पर हानि इतनी होती है कि कहते जी थर्राता है ।

कहने वाले की दुष्टता का प्रकाश, सुनने वाले को निज धर्म से अविश्वास अथवा आपस के हेल मेल का सत्यानाश, सभी कुछ हो सक्ता है, पर मतवादी लोगों की बुद्धि में न जाने कहाँ से पत्थर पड़े हैं कि जिन बातों से न अपने लाभ की संभावना है न पराये हित की आशा है उन्हीं को सोच 2 निकाला करते हैं और देश के भाग में लगी हुई आग पर घी डाला करते हैं । नहीं तो ऐसी किस सभ्य देश की भाषा है जिसमें ऐसे वाक्य न होते हों जिनके शब्दों का अर्थ और है पर उस वाक्य का तात्पर्य और है। (ऐसे सैकड़ों उदाहरण पाठकगण आप सोच सक्ते हैं इससे लिखना आवश्यक नहीं समझा) पर जिन्हें दूसरों के मान्य पुरुषों को गालियाँ देने और पलटे में अपने बड़े बूढ़ों को गालियाँ दिलवाने ही में धर्म सूझता है उन्हें समझावे कौन ?

हमारी समझ में यदि ऐसे लोगों को, जो सभावों में बैठ के तथा मेलों और बाजारों में खड़े हो के किसी के मत पर आक्षेप करते हैं, सर्कार की ओर से दंड नियत हो जाय तो अति उत्तम हो । पर यतः यह काम उन्हीं लोगों का है जो सचमुच देश के सामाजिक एवं राजनीतिक सुधार के लिये बुद्धिपरिकर हैं । इससे हम इन्हें इस बात का स्मरण दिलाने के अतिरिक्त विशेष बातों पर जोर दें तो हमारे प्रस्तुत

विषय में विक्षेप पड़ेगा ।

अतः कुतर्कियों को केवल कविता पढ़ने और संस्कृत के मुहाविरे सीखने की पुनः अनुमति दे के तथा इतना समझा के कि यदि मान ही लिया जाय कि सचमुच इंद्र के सहस्र नेत्र हैं और तुम्हारे कथनानुसार उनकी आँखें उठती होंगी तो क्या करते होंगे, कीचड़ के मारे सारी देह भिनकने लगती होगी, तौ भी जब तुम्हें (मतवादी जी को) न उनकी आँखें धोनी पड़ती हैं न अंजन पीसने का कष्ट सहना पड़ता है न डॉक्टर की फीस देनी पड़ती है, फिर मुख क्यों गंदा करते हो ?

अपनी बुद्धि भ्रष्ट एवं पराई आत्मिक शांति नष्ट करने का वृथा उद्योग क्यों करते हो ? अब अपने मुख्य विषय पर आते हैं जिससे बुद्धिमानों को पुराण कर्ताओं की बुद्धिमत्ता का परिचय और तद्द्वारा अपने सुधार के लिए आश्रय प्राप्त हो ।

1. देवताओं अर्थात् निराकार के पौराणिक रीति से साकार कल्पनामय स्वरूपों के बहुधा चार अथवा आठ भुजा होती हैं । यह उनकी महासामर्थ्य का द्योतन है । हिंदी में महाविरा है कि जब कोई बड़ा काम शीघ्रता के साथ पूर्ण रूप से कोई नहीं कर सक्ता तो अपने उपासकों से बहुधा कहता है कि भाई, अपनी सामर्थ्य भर कर तो रहे हैं, कुछ हमारे चार हाथ तो हई नहीं कि एकबारगी कर डालें । हमें उन लोगों पर आश्चर्य आता है जो आप तो दिन भर चार हाथ 2 कहते सुनते हैं पर प्राचीन विद्वानों को लेखनी से चार हाथ (चतुर्भुज) लिखा हुआ देख सुन के आक्षेप करने दौड़ते हैं । यदि कुछ भी बुद्धि हो तो स्वयं समझ सक्ते हैं कि चार अथवा आठ हाथ वाले का अर्थ महासामर्थ्यवान है ।

इसमें तर्क वितर्क का क्या प्रयोजन ? इससे हमें यह उपदेश भी प्राप्त होता है कि यदि हम दो अथवा चार मनुष्य मिल के अर्थात् चार वा आठ हाथ एकत्रित करके किसी काम को आरंभ करें तो अकेले की अपेक्षा अधिक सहज और सुंदर रीति से कर सक्ते हैं, जैसा कि कविवर ठाकुर का वचन है 'चारि जने चारि दिशा ते एक चित्त ह्वै के मेरु को हलाय के उखारें तो उखरि जाय ।' हमारे मित्रों में बहुत लोग कहा करते हैं, 'भाई हमारे अकेले दो हाथों के किये क्या हो सक्ता है ?' इसी मूल पर पंच परमेश्वर वाली कहावत प्रसिद्ध हुई है । अर्थात् पाँच जने जिस काम को करते हैं उसे मानों परमेश्वर स्वयं कर रहा है । फिर यदि हम तथा हमारे पुराण कर्ताओं ने भी कहा कि परमेश्वर (विष्णु, शिव, दुर्गादि) चतुर्भुजी, अष्टभुजी अथवा दशभुजी है तो क्या झूठ है ? कौन नहीं मानता कि परमात्मा महान् शक्तिमान है ?

2. इसी भाँति पुराणों में सिंह, वृषभ, मूषकादि देवताओं के बाहन लिखे हैं । इस पर भी नये मतवाले ठट्ठा किया करते हैं पर यह नहीं विचारते कि संस्कृत में वाहन उसे कहते हैं जिसके द्वारा कोई चले वा जो किसी के द्वारा चलाया जाय । जैसे वैद्यक शास्त्र के परमाचार्य धन्वंतरि का नाम जलीकाबाहन है । इससे यह तात्पर्य नहीं है कि वे जोंक पर चढ़ते हैं, किंतु यह अभिप्राय है कि वे जोंक के चलाने वाले अर्थात् रक्त बिकार के हरणार्थ जोंक लगाने की रीति चलाने वाले हैं ।

इसी प्रकार सिंहवाहिनी का अर्थ है जो बीर पुरुष हैं, जिन्हें सब भाषाओं में सिंह का उपनाम दिया जाता है उनका काम, नाम एवं यश ईश्वर की बीरता शक्ति ही चलती है । हमारे पाठक विचार तो करें कि ऐसी बातों को झूठ, गप्प, हास्यास्पद कहना विद्या और बुद्धि से वैर ही करना है कि और कुछ ? वाहन अनेक हैं पर यदि सबका वर्णन किया जाय तो लेख बहुत बढ़ जायगा इससे मुख्य 2 स्वरूपों के बाहनों का मुख्यार्थ लिखते हैं ।

3. विष्णु भगवान के बाहन गरुड है जिनका बेग पवन से सैकड़ों गुणा अधिक है । इसका अर्थ यह है कि जिनका काम काज विश्वव्यापी परमेश्वर चलाता है या यों कहो, जो लोग केवल उसी के आसरे सब काम करते हैं अथवा सब कामों में उसकी प्रेममयी मूर्ति हृदय में धारण किये रहते हैं वे पवन की गति से भी अधिक शीघ्र कृतकार्य होते हैं अथवा प्रेमदेव अपने लोगों के सहायार्थ पवन से भी शीघ्र आ सक्ते हैं ।

गरुड़ जी साँपों के भक्षक हैं, अर्थात् ईश्वर के निकटवर्ती लोग ऐसे कपटी जीवों के जानी दुश्मन हैं जो ऊपर से कोमल 2, चिकना 2 स्वरूप रखते हैं पर भीतर विष भरे रहते हैं ।

4. गणेश जी अर्थात् समस्त सृष्टि समूह के स्वामी, विद्या वारिधि, बुद्धि विधाता, जगत्राता मूषक बाहन हैं । अर्थात् ऐसे जीवों (मनुष्यों) के हृदय में आरूढ़ होते हैं अथवा ऐसों का कार्य संचालन करते हैं जो (लोग) देखने में छोटे अर्थात् साधारण संसारियों से भी बाह्याडंबर में न्यून हैं पर वास्तव में अभी ऐसे हैं कि जब सारा संसार सोवे तब भी अपना कर्तव्य साधन न छोड़ें ।

बुद्धिमान और खोजी ऐसे हैं कि सात पर्दे की वस्तु को ढूँढ़ ही लावैं और उसके छोटे से छोटे अंश को भी पृथक् कर दिखाबैं तथा चतुर इतने हैं कि शत्रु लाख मेंवमेंव करने वाला हो तो भी उससे सावधान ही रहें, इत्यादि । चूहे के अनेक गुण हैं जिन्हें विचार लेने से भगवान उंदुरु बाहन की अनंत महिमा का बहुत कुछ भेद खुल सक्ता है ।

5. भगवान भोलानाथ के बाहन भूषणादि का वर्णन पुरानी संख्याओं में लिखा जा चुका है और शैवसर्वस्व नामक पुस्तिका में पृथक् छप रहा है, इससे बार 2 लिखने की आवश्यकता नहीं है । सूर्य और इंद्र के बाहन घोड़ा और हाथी हैं । उन पर किसी को दोष देने का ठौर ही नहीं है फिर लिखें ही क्यों । दुर्गा जी के बाहन का तात्पर्य लिखी दिया गया । सरस्वती जी का बाहन हंस है जिसे सभी जानते हैं कि दूध का दूध पानी का पानी करने वाला है ।

चित्रों में पाठकों ने देखा होगा कि जिस हंस पर भगवती भारती देवी आरूढ़ होती हैं उसके मुँह में मोती की माला रहती है । इसका भावार्थ वह लोग भली भाँति समझ सक्ते हैं जो जानते हैं कि मधुर मनोहर कोमल बचन रचना को हमारे देश के लोग मुक्तमाल से सादृश्य देते हैं । बहुधा सभी लोग कहते हैं कि फलाना बातें क्या करता है अथवा काव्य क्या रचता है मानो मोती पिरोता है । इस कहावत से भी जिसने यह न सोचा कि सरस्वती जी के कृपा पात्र को क्षीर नीर विभेदक एवं मधुर कोमल कांत पदावली उच्चारक होना चाहिए उसे हम क्या समझावेंगे, ब्रह्मा जी तो समझा लें ।

6. चंद्रमा का बाहन मृग है । इससे एक तो ज्योतिष की यह बात सूचित होती है उसकी गति अन्य सब ग्रहों से तीव्र है (मृग की चाल तेज होती है न) । जहाँ अन्य ग्रह अपनी चाल समाप्त करने में ढाई वर्ष तक लगा देते हैं वहाँ यह सत्ताईस ही दिन में सारा राशि मंडल नाप डालते हैं । दूसरी बात यह निकलती है कि चंद्रमा शब्द "चदि आह्लादे" के धातु से बना और आह्लाद के लिये मृग एक उपयोगी वस्तु है ।

रसिकों के लिये मृगनैनी, विरक्तों के लिये मृगाकीर्ण बन, तपस्वियों के लिये मृगचर्म, संसारियों के लिये मृगशिरा की तपन (मृगशिरा के अधिक तपने से वृष्टि अच्छी होती है और वृष्टि की अच्छाई से समस्त गृहस्थोपयोगी पदार्थ पुष्कल होते हैं) तथा अनेक व्यापारियों और परिश्रमियों के लिये मार्गशीर्ष (अगहन) कैसा सुखद होता है ! फिर जगत के विश्रामदाता औषधीश के साथ हमारे सहृदय शिरोमणि

पूर्वज मृग का संबंध क्यों न वर्णन करते ?

7. लक्ष्मी देवी का बाहन उलूक है, अर्थात् जो लोग यही चाहते हैं कि सारा जगत अंधकारपूर्ण हो जाय तो अपना काम चले, जो लोग सबको मुआ 2 (अर्थात् सर्व सामर्थ्य शून्य हो के मर मिटो) पुकारते रहते हैं एवं दिन दहाड़े (सबको जना के) कुछ भी करना नहीं पसंद करते, कोई लाख उल्लू कहे, अशुभ रूप समझे अथवा चोंचे लगाया करे पर अपनी चाल में नहीं चूकते तथा अजरामरवत् जीवन समझ के धन संचय करने में लगे रहते हैं वही रुपया जोड़ सकते हैं ।

इन भगवती का नाम समुद्रकन्या है, जिसका तात्पर्य यह है कि जो लोग समुद्र में गमनागमन करते रहते हैं, देश देशांतर में आते जाते रहते हैं अथवा समुद्र की भाँति चाहे लाख नदियों को पेट में डाल लें पर वृद्धि का चिह्न भी न जतावें (घर भरने से तृप्त कभी न हो) चाहे रत्नाकर (रत्नों की खान, जिसके घर में लाखों रत्न हों) ही क्यों न हो जायँ पर दूसरे के लिये बूँद भर पानी के काम न आवें, पृथ्वी पर पड़े हुए भी आकाश के चंद्रमा तक पर हाथ लपकाते रहें, वही लक्ष्मी को पैदा कर सकते हैं ।

8. भगवान मनोभव का बाहन तथा ध्वजाचिह्न (जिस देवता का जो बाहन होता है बहुधा वही ध्वजा में भी रहता है) मत्स्य है । इसका तात्पर्य वैद्यक मत से यह है कि मछली खाने तथा काडलिवर आइल (मछली का तेल) पीने से यह बहुत वृद्धि को प्राप्त होते हैं । ज्योतिष के मत से मीन राशि के सूर्यों से अधिक उन्नत होते हैं । कर्मकांड की रीति से मछलियों को चारा देने से अनेक कामना सिद्ध होती है तथा हमारे सिद्धांत में– 'मीन काटि जल धोइए खाए अधिक पियास । तुलसी प्रीति सराहिये मुयेहु मीत की आस ।'–इस महावाक्य का अनुसरण करने से कोटि काम सुंदर भगवान प्रेमदेव बड़े ही प्रसन्न होते हैं ।

इनके कुसुमायुध नाम का अभिप्राय यह है कि नाना जाति के पुष्पों का अवलोकन और घ्राण करने से मन्मथ का उद्दीपन तथा विज्ञान दृष्टि से देखने से अनेक सुख संतोषजनक विचार ऐसे उत्पन्न होते हैं कि उनका अनुभव करो तो जान पड़ता है कि किसी ने बाण मार दिया । संसारियों को फूल बूटा तथा मछलियों के चित्र काढ़ने से कीर्ति एवं धन का लाभ होता है जिससे सारी कामना सफल होती है और सदा निशाने पर तीर लगता रहता है । अर्थात् निर्वाह योग्य वस्तुओं का मनोरथ निष्फल नहीं होने पाता । रसिकों के लिये कुसुम कोमल अवयव वालों का दर्शन स्पर्शन तथा मौन चंचल नेत्रों का अवलोकन बाण के समान हृदयस्पर्शी होता है । ऐसे 2 अगणित भाव अनुभव करके इस देवता के साथ मत्स्य और पुष्प का संबंध रक्खा गया है ।

9. युद्ध के देवता स्वामिकार्त्तिकेय जी का बाहन मयूर, जिसे सभी जानते हैं कि उड़ता भी है और नाचता भी है । जिन्होंने हमारे यहाँ का आल्हा सुना होगा वे इस पद से इनके बाहन का तत्व खूब समझ सकेंगे कि– 'कबहुँ बेंदुला भुइँ माँ नाचै कबहूँ जोजन भरि उड़ि जायँ', अथवा– 'घोड़ा बेंदुला नाचल आवैं जैसे बन माँ नचै पुछारि ।' जब कि युद्धप्रिय मनुष्यों के बाहन की उपमा पुछारि से दी जाती है तो युद्धदेव का बाहन पछारि के अतिरिक्त और क्या कहा जाय ।

इसके सिवा उसका सर्वभक्षण एवं नखचंचु दोनों के द्वारा प्रहार भी रणक्षेत्र के लिये बड़ा उपयोगी है तथा च उनके छः मुख भी यही सूचना देते हैं कि शत्रु सेना में प्रवेश करने वाले को पूर्व पश्चिम, उत्तर दक्षिण, नीचे (सुरंग तथा कपट दीनता संपन्न) और ऊपर (घमंडी अथवा व्योमयानादि पर आरूढ़) के शत्रुओं पर दृष्टि रखनी उचित है । इनके जन्म काल में छः युवती पुत्रैषणा से इनके पास आईं और

सबों ने दुग्धपान कराने की इच्छा प्रकट की तो इन्होंने एक साथ छहों का स्तनपान करके सबकी रुचि रक्खी।

यह आख्यायिका भी सच्चे बीरों का स्वाभाविक गुण बिदित करती है कि जितनी स्त्री दृष्टि पड़ें सबको मातृवत् सम्मान करे। बहुतों के मत से यह सदा छः बर्ष के रूप में रहते हैं अर्थात् काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपटादि से न्यारे केवल माता-पिता के सहारे बने रहते हैं। यदि विचार के देखिये तो प्रकृत बीर के यही सब लक्षण हैं जो हमारे सुर सेनाध्यक्ष में वर्णन किए गए हैं।

10. धनाध्यक्ष कुबेर जी नरबाहन हैं जिसका भावार्थ सब जानते हैं कि रुपये वाले लोग सदा आदमियों के शिर पर सवार रहते हैं। यदि इसमें हँसी समझिये तो यह अर्थ समझ लीजिए कि जो धनपति मनुष्य बाहन होते हैं अर्थात् अनेक मनुष्यों का कार्य संचालन करते हैं, बहुत लोगों को सहायता की दृष्टि से काम में लगाये रहते हैं वे देवता समझे जाते हैं और शिव जी को प्रिय होते हैं।

11. यमराज का बाहन महिष है। अर्थात् जो लोग भैंसा के समान केवल खाने और कीचकाँदौ (विषय वासना) में पड़े रहने ही में प्रसन्न रहते हैं, सांसारिक एवं पारमार्थिक कर्तव्यों में मथर 2 करते हुए चलते हैं (अग्रसर नहीं होते), थोड़ा सा काम करने पर हाँफने लगते हैं, साहस छोड़ बैठते हैं तथा पराए सुख दुःख से निश्चिंत रह के निर्लज्जता से फूले रहते हैं अथच अपनी भी देह (स्वत्व) खोद 2 कर खाने वालों से असावधान बरंच सुखित रहते हैं उन पर मृत्यु का देवता सदा सवार रहता है, अर्थात् उनके जीवन का उद्देश्य मृत्यु ही है, जभी मर गए तभी और ऐसों ही के लिये ईश्वर न्यायी है नोचेत् वह परम कृपालु अपने सेवकों के छोटे 2 कर्मों का विचार किया करें तो किसी को कहाँ ठिकाना है ? पर ऐसे बैशाख नंदनों के लिये मरना और न्याय में फँसना हो तो सहस्त्रों आलसी इन्हीं के आचरण ग्रहण कर बैठें क्योंकि कुछ करना धरना सबका काम नहीं है। इसी से ऐसों के शासन और इनकी दशा के द्वारा दूसरों को उपदेश मिलने के आशय से पौराणिक महात्माओं ने भगवान् का नाम न्यायकारी और प्राणहारी लिखा है।

12. इंद्र के सहस्र नेत्र हैं अर्थात् राजा ऐसा होना चाहिए जो सब प्रकार के लोगों के समस्त भाव पर सदा दृष्टि रख सके। जिस राजा के कान होते हैं, आँखें नहीं होतीं, अर्थात् जिसने जो कह दिया वही मान लिया, स्वयं कुछ न देखा, उसका राजत्व चिरस्थायी नहीं रह सकता, यही शिक्षा देने के लिये देवराज अर्थात् दिव्यगुणविशिष्ट राजा अथवा विद्वान समूह पर राज्य करने वाले का नाम सहस्राक्ष रखा गया है। सहस्राक्ष होने का कारण यों लिखा है कि अहिल्या के साथ छल करने के अपराध में गौतम जी ने जब शाप दिया तो इंद्र को बड़ा खेद, क्षोभ और लज्जा हुई। उसके निवारणार्थ बृहस्पति जी ने तप, ब्रत, पूजनादि करा के उन चिह्नों को नेत्र बना दिया।

इस आख्यान पर शास्त्रार्थी लोग चाहे जो तर्क वितर्क किया करें पर सच्चे आस्तिक अवश्य मानेंगे कि सच्चे जी से भजन करने पर सर्वशक्तिमान की दया से ऐसा क्यों इससे भी अधिक अघटित घटना हो सकती है एवं दोष भी गुण हो जाते हैं। पर यह सच्चे विश्वास का विषय है जो लेखनी की शक्ति से दूर है। इससे हम केवल लौकिक शिक्षा देते हैं कि इंद्र की उक्त कथा से यह बात (ध्वनि) निकलती है कि इस प्रकार के लोग यद्यपि गौतम सरीखे कर्मचारियों के द्वारा शापभागी और पीछे से अपने कृत्य पर अनुतापकारी होते हैं किंतु सहस्रनयन अर्थात् दूरदर्शी और अनुभवी अवश्य हो जाते हैं जैसा कि नीतिज्ञों ने 'देशाटनम्पण्डितमित्रताच' इत्यादि वाक्यों में कहा है। इस पर यदि कोई प्रतिमा पुराणादि के

छिद्रान्वेषी कहें कि वाह रे पौराणिकों के उपदेश, तो हमारे पास यह उत्तर विद्यमान है कि किसी पुराण में इंद्र की कथा के साथ यह नहीं लिखा कि उन्होंने दुराचार किया अथवा किसी को करना उचित है। फिर पुराणों को वा इंद्र को दोष लगाना अपनी बुद्धिमानी दिखलाना मात्र है।

यदि मान ही लें कि देवराज का विचार ऐसा ही था तो भी पुराणकर्ता दोषी नहीं ठहर सकते बरंच उनकी अनुभवशीलता विदित होती है। अर्थात् उन्होंने यह दिखलाया कि श्रीरामचंद्र ऐसे ईश्वर तथा युधिष्ठिर ऐसे अनेक अवतारों को छोड़ के राज्याभिमानी लोग, यहाँ तक कि देवलोक तक के राजा, बहुधा ऐसे ही होते हैं (यह बात सब कहीं के इतिहासों से प्रत्यक्ष है)। इससे शुद्ध धर्म जीवन के प्रेमियों को राज्य तृष्णा त्याज्य है। यदि आप कहें कि इंद्र निर्दोष थे तो गौतम ने श्राप क्यों दिया, तो हम कहेंगे कि पुराणों में गौतम को कहीं नहीं लिखा कि ईश्वर हैं, पर उनका धोखा खाना कौन आश्चर्य है!

धर्मात्माओं को जिस पर ऐसी शंका होती है उस पर क्रोध आता ही है बरंच 'क्रोधोपि देवस्य बरेण तुल्यः' के अनुसार उन्होंने अहिल्या को श्री रामचरण पंकज रज प्राप्ति के योग्य और देवेन्द्र को सहस्रलोचन बना दिया। इससे पुराण निंदकों का यह कहना व्यर्थ है कि उनमें देवताओं और ऋषियों की निंदा लिखी है। यह अपनी 2 समझ का फेर है।

सहस्रनयन (इंद्र) का शस्त्र बज्र है जिसको सब जानते हैं कि बड़े 2 पर्वतों तक को चूर्ण कर सकता है और वुह दधीचि मुनि की हड्डियों से बना हुआ है, जो उक्त मुनीश्वर ने देवताओं की याचना से संतुष्ट हो के अपने देह का स्नेह छोड़ के दे दी थीं। इस आख्यान का यह अर्थ है कि संसार से विमुख ईश्वर और धर्म के लिये जीवन को उत्सर्ग कर देने वाले महात्माओं की हड्डियाँ (आहार बिहार त्याग देने से रक्त मांस रहित शरीर) बज्र हैं, जो उन्हें चाहता है (सताने का उद्योग करता है) वुह आप अपने शस्त्रों (जीवन रक्षणोपयोगी उपायों तथा पदार्थों) का नाश करता है—'तुलसी हाय गरीब की हरि ते सही न जाय'। पर जो उन हड्डियों को प्राप्त कर लेता है अर्थात् धर्मानुरागियों को सेवा सुश्रूषा से इतना प्रसन्न रखता है कि वे प्रीति की उमंग में अपनी देह तक देने पर प्रस्तुत हो जायँ वुह इंद्र समान सौभाग्यशाली हो सकता है।

13. जल और मदिरा के देवता बरुण का शस्त्र पाश है अर्थात् जो जल की भंवर में पड़ जाता है अथवा मद्यपान की जल जिसके गले पड़ जाती है वह फाँसी पर लटके हुए मनुष्य के समान जीवन के सुखों से निराश और काल सर्प का ग्रास हो जाता है।

14. ब्रह्मा के चार मुख हैं, अर्थात् चारों वेद तथा उपवेद का तत्व, चारों वर्म (अर्थ धर्म काम मोक्ष) के साधन का उपाय, चारों दिशा की सचराचर सृष्टि का वृत्तांत उनके मुख पर धरा रहता है। अर्थात् वर्णन करने के समय सोचना ही नहीं पड़ता या यों समझ लो कि चार बड़े बूढ़े चतुर लोगों का बचन ब्रह्मवाक्य के समान यथार्थ होता है, अतः 'साँचेहु ताको न होत भलौ कही मानत जो नहिं चारि जने की'। हमारी समझ में निरभिमानी, मिष्टभाषी और स्नेही हुए बिना ब्रह्मा जी के साथ साक्षात् संबंध कोई नहीं लाभ कर सकता।

15. शेष जी अथवा विराट भगवान के सहस्र मुख हैं, अर्थात् जो परमेश्वर समस्त संसार के नाश हो जाने पर शेष (बाकी) रहता है, जो विविध विश्व का आधार और यावत् सृष्टि का प्रकाशक सदा एकरस बिराजमान रहता है वह सहस्र अर्थात् सहस्रों शिरों का अधिष्ठाता है। सहस्रों शिर बनाता और उनमें से एक 2 सहस्रों भाव उपजाता तथा अंत में धूल में मिलाता रहता है। सहसानन का शब्द

पुरानकर्ता ही नहीं बरंच वेदवक्ता भी मानते हैं– 'सहस्रशीर्षापुरुषः' इत्यादि । फिर जब किसी शब्दों (जिनमें सैकड़ों उलट फेर के अर्थ निकल सकते हैं) के लिखने वालों के हाथ सहस्रशीर्षा से अधिक अभ्रांत पद नहीं लिख सके तो मूर्ति रचना (वा कल्पना) करने वाले (जिनका मनोभाव केवल अनुभव से जाना जाता है शब्दों से नहीं) हजार मूड़ बना दें तो कौन सा अपराध करते हैं ? शेष जी की साँप की मूर्ति देख के बहुतेरे स्थूल बुद्धी हँस पड़ते हैं और कह देते हैं, 'भली परमात्मा की पोप जी ने कद्रदानीकी', पर बुद्धिमान समझ लेते हैं कि सब गुण और सब पदार्थ उसी के हैं, अतः चाहे जिस गुण रूप स्वभाव को मानो, आत्मा के लिए कल्याण ही है । यदि सृष्टि को संहार करके शेष रहनेवाले को हमने, प्राणनाशकता के गुण का सादृश्य देख के, सर्प से उपमा दे दी तो क्या अनर्थ हुआ ?

भयानक रूप के मानने वाले दुष्कर्मों से भयभीत एवं अपने विरोधियों से निर्भय रहते हैं । फिर ऐसे रूप की पूजा में क्या पाप है ? पर शेष जी तो भयंकर हैं भी नहीं, नहीं तो स्यामसुंदर चतुर्भुज रूप से अपनी प्यारी कमला समेत उन पर शयन क्योंकर करते । पर यह बातें कोई उन्हें क्योंकर समझा सकता है जिनका मत केवल परछिद्रान्वेषण (सो भी मोटी समझ के शास्त्रार्थ द्वारा) निर्भर है ।

खंड 6, सं० 8, 9, 10, 12 (15 मार्च, अप्रैल, मई, जुलाई, ह० सं० 6)
खंड 7, संख्या 1, 2, (15 अगस्त, सितंबर, ह० सं० 6)

रथयात्रा

हमारे यहाँ प्रायः सभी बड़े 2 नगरों में वैदिक और जैन लोग प्रति वर्ष नियत तिथियों पर श्री ठाकुर जी का रथ यथासामर्थ्य बड़ी धूमधाम से निकाला करते हैं । यह रीति कब से प्रचलित है इसका ठीक पता कोई नहीं लगा सक्ता सिवा इसके कि यह कह दें, बहुत पुरानी रीति है । देशी इतिहास लेखक जो सृष्टि का आरंभ अनुमान छः सहस्र वर्ष से समझते हैं वे ही ऐसी 2 बातों के खोज में लगे रहे कि सुबर्ण पहिले 2 कब निकला, क्योंकर निकला, किसने निकाला; शस्त्र पहिले पहिल किसने, किस प्रकार, क्योंकर, कब बनाये, इत्यादि, पर हमें इन बातों के खोज की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि हम तो इसके मानने से इनकार नहीं कर सकते बरंच कोई वाद करने पर प्रस्तुत हो तो समझा सक्ते हैं कि जब से अनादि ईश्वर का अस्तित्व है तभी से उसके सृजन, पालन, प्रलयादि काम भी हैं । नहीं तो हमारी आस्तिकता में यह बड़ा भारी दोष आ लगेगा कि अमुक समय पर नित्यैकरस परमात्मा को अमुक सामर्थ्य न थे ।

इसी प्रकार हमारा इतिहास इस बात की कल्पना का मुहताज नहीं है कि सबसे पहिले (यद्यपि समुद्र की लहरों की भाँति सबसे पहिले कहना असंगत है किंतु मोटी भाषा में कह लेते हैं) भारत में आर्यों के अतिरिक्त और कोई जाति बसती थी वा किसी उपयोगी पदार्थ के व्यवहार में हमारे पूर्वज अक्षम थे । हाँ, समय के साथ 2 लोगों की चाल ढाल, वस्तुओं के रंगादि में परिवर्तन सदा, सब कहीं होता रहता

है, पर यह असंभव है कि कोई सभ्य देश, जिसे भोजनाच्छादन के लिये दूसरों का मुँह न देखना पड़ता हो, अपने निर्वाह के लिये दूसरों की बोली सीखना अत्यावश्यक न हो वह अपने व्यवहार योग्य समयोपयोगी वस्तु अथवा नियम न बना सक्ता हो। इस न्याय के अनुसार यदि कोई पूछे कि रथयात्रा की रीति कब से है तो हम छूटते ही उत्तर देंगे कि सदा से। अर्थात् जब से यहाँ आर्य जाति का राज्य है तब से।

नियत समयों पर प्रजा को दर्शन द्वारा प्रमुदित करने के लिये, संसार को अपना वैभव दिखाने के लिये, राज्य की पर्यालोचना करने के लिये अथवा शत्रुओं का दमन करने के लिये राजा, महाराजा अथवा रामचंद्रादि दिव्यावतार ऐश्वर्य प्रदर्शन के अवयवों समेत रथ पर चढ़ के विचरण किया करते थे, जिसका अनुसरण जब कि अपने यहाँ की बातों से ममता हो, घर की भलाई में बुराई ढूँढ़ने का दुर्व्यसन न हो, अच्छे उपदेश, जहाँ से, जिस प्रकार मिलें, ढूँढ़ निकालने में रुचि हो और मनोमंदिर कुतर्कों की नृत्यभूमि न बन गया हो तो सुनिए।

1. काली और कृष्ण दोनों एक ही हैं। जो राधा जी के बनमाली हैं वही अयन घोष की रण काली हैं। पल भर में मदनमनोहर मुरलीधर रणरंगिनी हो जाते हैं तथा पल ही भर में दैत्यसंहारिणी वृंदाबनबिहारी बन जाती हैं। अतः वैष्णवों और शाक्तों का भेदबुद्धि से आपस में झगड़ना ऐसा है जैसा दो सहोदर लड़ें और वह उसके बाप को गाली दे, वह उसके पिता को कुवाच्य कहे।

2. अप्रतर्क्य परमेश्वर परम सुंदर भी है, महा भयंकर भी है। मनोमुकुर में अपनी मनोवृत्ति का जैसा मुँह बना के देखोगे वैसा ही देख पड़ेगा। जैसे को हरि तैसा है। फूँक 2 पाँव धरने वाले आचारी भी उसी के हैं, उनका भरण पोषण और उद्धार उसी के हाथ है तथा स्वतंत्राचारी पंचमकारी भी उसी के हैं।

3. राधा और कृष्ण एक हैं। अभी मान के समय उनके चरणों पर वे मुकुट रखते थे, अभी काली स्वरूप में उनकी चरण बंदना वे कर रही हैं। इससे इनके उपासकों को सीखना चाहिए कि जो प्रतिष्ठा, जो अधिकार, जो गौरव, पुरुषों का है वही स्त्रियों का भी है।

4. अयन घोष खंग खींचे हुए, शिरच्छेदन करने आया था पर आते ही पानी हो गया। क्यों ? कहीं सच्चे, निर्दोष, निर्मम, प्रेमाराधकों पर तलवार चल सक्ती है ? हाँ इतना बहुत है कि शत्रु अपना पौरुष दिखला लें पर वास्तव में कर कुछ नहीं सक्ते। या यों कहो, 'ज्ञानी मूढ़ न कोय। जब जेहि रघुपति करहिं जस, सो तस तेहिं छिन होय।' तलवार दिखाने वालों से पल भर में दंडवत कराना और महा-हीन दीनों को खंगधारण के योग्य बना देना सर्वशक्तिमान के बाँये हाथ का खेल है, क्योंकि वह 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ' है।

यदि इसे कथा न समझ के कवियों की कल्पना मात्र मानिये तौ भी

5. प्रेमदेव श्रीकृष्ण हैं और प्रेमिक की मनोवृत्ति राधा जी हैं, जो निर्विघ्न स्थान पाते ही अपने प्यारे के जीवित संबंध में निमग्न हो जाती हैं और संसार अयन घोष है जो नहीं चाहता कि मेरा सानिध्य छोड़ के कोई दूसरी ओर जाय। इससे ऐसे लोगों के बिनाशार्थ नाना भाँति के कष्ट एवं अभाव रूपी शस्त्र ले के दौड़ता है। पर क्या प्रेमिक इससे भयातुर होकर अपने प्रेमाराधन से विमुख हो जाते हैं ? नहीं, वे देखते हैं कि संसार के खंग से हमारे प्रेमाधार की तलवार अधिक तीक्ष्ण है और संसार स्वयं यह देखे के लज्जित एवं विस्मित हो जाता है कि यह जिसका आश्रित है उसी का आश्रित मैं भी हूँ, फिर भला

इसका मैं क्या कर सकूँगा।

6. धर्म श्रीकृष्ण है और उत्साही पुरुष की मनसा राधा है। जब उत्साही पुरुष धर्म में संलग्न होता है तब सांसारिक प्रलोभन शस्त्र धारण करके उसे च्युत करने के विचार से भय और लालच दिखलाता हुआ आता है। पर धार्मिक पुरुष जब विचार के देखता है तो निश्चय कर लेता है कि मेरे अनुष्ठान में जितने आनंद हैं उनके आगे इतर आमोद प्रमोद सब तुच्छ हैं एवं दूसरे मार्ग का अवलंबन किये बिना जो भय दिखाई देते हैं वे वास्तव में कुछ नहीं हैं, केवल हमारी परीक्षा के लिये धुवाँ के धौरहर मात्र है। इनसे डर जाना वा ललचा उठना आगे के लिये वंचित रहना है। बस, यह सोचते ही समस्त प्रलोभन अदृश्य हो जाते हैं और निर्विघ्न धर्मानंद रह जाता है। बरंच विघ्नकारक लोग वा पदार्थ स्वयं उसे योग देते हैं, जैसे अंत में घोष स्वयं कालीपूजा में सम्मिलित हुआ था।

7. कांग्रेस श्रीकृष्ण है और प्रजा हितैषी देशभक्तों की जनता श्री राधा है अथच विरोधियों का दल अयन घोष है, जो देखता है कि इस संयोग में हमारे लिये कुयोग है। न ठकुरसुहाती कह के मनमानी पदवी पाने का योग है न अपनी इच्छा ही को शासन प्रणाली का मूल मंत्र बना के काले कलूटे मूर्ख गुलामों पर स्वेच्छाचारिता का ढंग जमाने का सुयोग है। धीरे 2 सबकी आँखें खुलती जाती हैं। सब अपना स्वत्व पहिचानते जाते हैं। सड़ी 2 बातों की पुकार सात समुद्र पार पहुँच रही है। तो घोष महाशय रोषपूर्ण हो के वाणी कृपाण धारण करते हैं और चाहते हैं कि कृष्ण का शिर उड़ा दें। फिर तो राधा हमारी हई है। पर राधा जी देखती हैं कि न्याय के आगे स्वेच्छाचार, देशभक्ति के आगे स्वार्थपरता, महारानी के प्रबल प्रताप के सन्मुख हमारा दुःख क्लेश निरा निर्मूल है, इससे धैर्य के साथ अपने इष्ट साधन में लगे रहना चाहिए। यदि घोष को बुद्धि हो तो देख सक्ता है कि जिस महाशक्ति (विक्टोरिया) का आश्रय मुझे है उसी का सहारा इन्हें भी है। जो मेरी सुखादातृ दुःखहर्तृ है वही इसकी भी है। तो क्या ही कहना है, दोनों ओर आनंद है। नोचेत् बुद्धि का भ्रम है। जगदम्बा एक की नहीं है। काले, गोरे, बुरे, भले, निर्धन, धनी सभी उसी की प्रजा हैं।

खं 6, सं० 11 (15 जून, ह० सं० 6)

पंच परमेश्वर

पंचतत्व से परमेश्वर सृष्टि रचना करते हैं, पंच संप्रदाय में परमेश्वर की उपासना होती है, पंचामृत से परमेश्वर की प्रतिमा का स्नान होता है, पंच वर्ष तक के बालकों का परमेश्वर इतना ममत्व रखते हैं कि उनके कर्तव्याकर्तव्य की ओर ध्यान न दे के सदा सब प्रकार रक्षण किया करते हैं, पंचेन्द्रिय के स्वामी को वश कर लेने से परमेश्वर सहज में वश हो सकते हैं। पंचबाण (काम) को जगत जीतने की, पंचगव्य को अनेक पाप हरने की, पंचप्राण को समस्त जीवधारियों के सर्वकार्य संपादन की, पंचत्व (मृत्यु) को सारे

झगड़े मिटा देने की, पंचरत्न को बड़े बड़ों का जी ललचाने का परमेश्वर ने सामर्थ्य दे रक्खी है । धर्म में पंचसंस्कार, तीर्थों में पंचगंगा और पंचकोसी, मुसलमानों में पंच पतिव्रतात्मा (पाकपंजतन) इत्यादि का गौरव देख के विश्वास होता है कि पंच शब्द से परमेश्वर बहुत घनिष्ठ संबंध रखता है ।

इसी मूल पर हमारे नीति विदांबर पूर्वजों ने उपर्युक्त कहावत प्रसिद्ध की है जिसमें सर्वसाधारण संसारी व्यवहारी लोग (यदि परमेश्वर को मानते हों तो) पंच अर्थात् अनेक जन समुदाय को परमेश्वर का प्रतिनिधि समझें । क्योंकि परमेश्वर निराकार निर्विकार होने के कारण न किसी को बाह्य चक्षु के द्वारा दिखाई देता है न कभी किसी ने उसे कोई काम करते देखा है पर यह अनेक बुद्धिमानों का सिद्धांत है कि जिस बात को पंच कहते वा करते हैं वह अनेकांश में यथार्थ ही होती है ।

इसी से 'पाँच पंच मिल कीजै काज हारै जीते होय न लाज', 'बजा कहे जिसे आलम उसे बजा समझो, जबाने खल्क को नक्कारए खुदा समझो'—इत्यादि वचन पढ़े लिखों के, और—'पाँच पंच कै भाषा अमिट होती है', 'पंचन का बैर कै कै को तिष्ठा है'—इत्यादि वाक्य साधारण लोगों के मुँह से बात 2 पर निकलते रहते हैं । विचार के देखिये तो इसमें कोई संदेह भी नहीं है कि—'जब जेहि रघुपति करहिं जस, सो तस तेहिं छिन होय' की भाँति पंच भी जिसको जैसा ठहरा देते हैं वह वैसा ही बन जाता है ।

आप चाहे जैसे बलवान, धनवान, विद्वान हों पर यदि पंच की मरजी के खिलाफ चलिएगा तो अपने मन में चाहे जैसे बने बैठे रहिये, पर संसार से आपका वा आपसे संसार का कोई काम निकलना असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य हो जायगा । हाँ, सब झगड़े छोड़ के विरक्त हो जाइए तो और बात है । पर उस दशा में भी पंचभूतमय देह एवं पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय का झंझट लगा ही रहेगा । इसी से कहते हैं कि पंच का पीछा पकड़े बिना किसी का निर्वाह नहीं है । क्योंकि पंच जो कुछ करते हैं उसमें परमेश्वर का संसर्ग अवश्य रहता है और परमेश्वर जो कुछ करता है वह पंच ही के द्वारा सिद्ध होता है । बरंच यह कहना भी अनुचित नहीं है कि पंच न होते तो परमेश्वर का कोई नाम भी न जानता ।

पृथ्वी पर के नदी, पर्वत, वृक्ष, पशु, पक्षी और आकाश के सूर्य, चंद्र, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्रादि से परमेश्वर की महिमा विदित होती सही, पर किसको विदित होती ? अकेले परमेश्वर ही अपनी महिमा लिए बैठे रहते ! सच पूछो तो परमेश्वर को भी पंच से बड़ा सहारा मिलता है । जब चाहा कि अमुक देश को पृथ्वी भर का मुकुट बनावैं, बस आज एक, कल दो, परसों सौ के जी में सद्गुणों का प्रचार करके पंच लोगों को श्रमी, साहसी, नीतिमान, प्रीतिमान बना दिया । कंचन बरसने लगा ।

जहाँ जी में आया कि अमुक जाति अब अपने बल, बुद्धि, वैभव के घमंड के मारे बहुत उन्नतग्रीव हो गई है, इसका सिर फोड़ना चाहिए, वहीं दो चार लोगों के द्वारा पंच के हृदय में फूट फैला दी । बस, बात की बात में सब करम फूट गए । चाहे जहाँ का इतिहास देखिए, यही अवगत होगा कि वहाँ के अधिकांश लोगों की चित्तवृत्ति का परिणाम ही उन्नत्यावनति का मूल कारण होता है ।

जब जहाँ के अनेक लोग जिस ढर्रे पर झुके होते हैं तब थोड़े से लोगों का उसके विरुद्ध पदार्पण करना (चाहे अति श्लाघनीय उद्देश्य से भी हो पर) अपने जीवन को कंटकमय करना है । जो लोग संसार का सामना करके दूसरों के उद्धारार्थ अपना सर्वस्व नाश करने पर कटिबद्ध हो जाते हैं वे मरने के पीछे यश अवश्य पाते हैं, पर कब ? जब उस काल के पंच उन्हें अपनाते हैं तभी ! पर ऐसे लोग जीते जी आराम से छिन भर नहीं बैठने पाते क्योंकि पंच की इच्छा के विरुद्ध चलना परमेश्वर की इच्छा के

विरुद्ध चलना है, और परमेश्वर की इच्छा के विरुद्ध चलना पाप है, जिसका दंड भोग किए बिना किसी का बचाव नहीं । इसमें महात्मापन काम नहीं आता । पर ऐसे पुरुषरत्न कभी कहीं सैकड़ों सहस्रों वर्ष पीछे लाखों करोड़ों में से एक आध दिखाई देते हैं । सो भी किसी ऐसे नए काम की नींव डालने को जिसका बहुत दिन आगे पीछे लोगों को शान गुमान भी नहीं होता । अतः ऐसों को संसार में गिनना ही व्यर्थ है ।

वे अपने बैकुंठ, कैलाश, गोलोक, होविन, बहिश्त कहीं से आ जाते होंगे । हमें उनसे क्या । हम संसारियों के लिए तो यही सर्वोपरि सुख साधन का उपाय है कि हमारे पंच यदि सचमुच विनाश की ओर जा रहे हों तौ भी उन्हीं का अनुगमन करें तो देखेंगे कि दुख में भी एक अपूर्व सुख मिलता है, जैसा कि अगले लोग कह गए हैं कि—'पंचौ शामिल मर गया जैसे गया बरात', 'मर्गे अम्बोह जशनेदारद' ।

जिसके जाति कुटुंब, हेती, व्यवहारी, इष्ट मित्र, अड़ोसी पड़ोसी में से एक भी मर जाता है उसके मुँह से यह कभी नहीं निकलता कि परमेश्वर ने दया की । क्योंकि परमेश्वर ने पंचों में से एक अंश खींच लिया तो दया कैसा बरंच यह कहना चाहिए कि हमारे जीवन की पूँजी में से एक भाग छीन लिया । पर अनुमान करो कि यदि किसी पुरुष के इष्ट मित्रों में से कोई न रहे तो उसके जीवन की क्या दशा होगी । क्या उसके लिए जीने से मरना अधिक प्रिय न होगा ! फिर इसमें क्या संदेह है कि पंच और परमेश्वर कहने को दो हैं पर शक्ति एक ही रखते हैं ।

जिस पर यह प्रसन्न होंगे वही उसकी प्रसन्नता का प्रत्यक्ष फल लाभ कर सकता है । जो इनकी दृष्टि में तिरस्कृत है वह उसकी दृष्टि में भी दयापात्र नहीं है । अपने ही लो वुह कैसा ही अच्छा क्यों न हो पर इसमें मीन मेख नहीं है कि संसार में उसका होना न होना बराबर होगा । मरने पर भी अकेला बैकुंठ में क्या सुख देखेगा । इसी से कहा है—'जियत हँसी जो जगत में, मरे मुक्ति केहि काज' । क्या कोई सकल सद्गुणालंकृत व्यक्ति समस्त सुख सामग्री संयुक्त सुवर्ण के मंदिर में भी एकाकी रह के सुख से कुछ काल रह सकता है ? ऐसी 2 बातों को देख सुन, सोच समझ के भी जो किसी डर या लालच या दबाव में फँस के पंच के विरुद्ध ही बैठते हैं अथवा द्वेषियों का पक्ष समर्थन करने लगते हैं, वे हम नहीं जानते, परमेश्वर (नेचर), दीन, ईमान, धर्म, कर्म, विद्या, बुद्धि, सहृदयता और मनुष्यत्व को क्या मुँह दिखाते होंगे ।

हमने माना कि थोड़े से हठी दुराग्रही लोगों के द्वारा उन्हें मन का धन, कोरा पद, झूठी प्रशंसा मिलनी संभव है पर इसके साथ अपनी अंतरात्मा (कांशेंस) के गले पर छूरी चलाने का पाप तथा पंचों का श्राप भी ऐसा लग जाता है कि जीवन को नर्कमय कर देता है और एक न एक दिन अवश्य भंडा फूट के सारी शेखी मिटा देता है । यदि ईश्वर की किसी हिकमत से जीते जी ऐसा न भी हो तो मरने के पीछे आत्मा की दुर्गति, दुर्नाम, अपकीर्ति एवं संतान के लिए लज्जा तो कहीं गई ही नहीं । क्योंकि पंच का बैरी परमेश्वर का बैरी है, और परमेश्वर के बैरी के लिए कहीं शरण नहीं है—'राखि को सकै राम कर द्रोही' पाठक ! तुम्हें परमेश्वर की दया और बड़ों बूढ़ों के उद्योग से विद्या का अभाव नहीं है । अतः आँखें पसार के देखो कि तुम्हारे जीवनकाल में पढ़ी-लिखी सृष्टि वाले पंच किस ओर झुक रहे हैं, और अपने ग्रहण किए हुए मार्ग पर किस दृढ़ता, वीरता और अकृत्रिमता से जा रहे हैं कि थोड़े से विरोधियों की गाली धमकी तो क्या, बरंच लाठी तक खा के हतोत्साह नहीं होते और स्त्री पुत्र धन जन क्या, बरंच आत्मविसर्जन तक का उदाहरण बनने को प्रस्तुत हैं ।

क्या तुम्हें भी उसी पथ का अवलंबन करना मंगलदायक न होगा ? यदि बहकाने वाले रोचक और भयानक बातों से लाख बार करोड़ प्रकार समझावैं तौ भी ध्यान न देना चाहिए । इस बात को यथार्थ समझना चाहिए कि पंच ही का अनुकरण परम कर्तव्य है । क्योंकि पंच और परमेश्वर का बड़ा गहिरा संबंध है । बस इसी मुख्य बात पर अचल विश्वास रख के पंच के अनुकूल मार्ग पर चले जाइए तो दो ही चार मास में देख लीजिएगा कि बड़े 2 लोग आपके साथ बड़े स्नेह से महानुभूति करने लगेंगे और बड़े 2 विरोधी, बड़े साम, दाम, दंड भेद से भी आपका कुछ न कर सकेंगे । क्योंकि सबसे बड़े परमेश्वर हैं और उन्होंने अपनी बड़ाई के बड़े 2 अधिकार पंच महोदय को दे रखे हैं ।

अतः उनके आश्रित, उनके हितैषी, उनके कृपापात्र को कभी कहीं किसी के द्वारा वास्तविक अनिष्ट नहीं हो सक्ता । इससे चाहिए इसी क्षण भगवान पंचवक्त्र का स्मरण करके पंच परमेश्वर के हो रहिए तो सदा सर्वदा पंचपांडव की भाँति निश्चिंत रहियेगा ।

खं० 6, सं० 12 (15 जुलाई, ह० सं० 6)

सत्य

जिस धर्मोपदेशक एवं नीतिशिक्षक के मुँह सुनिए यही सुनिएगा कि 'सत्यमेव जयते नानृतम्' 'सत्यान्नास्ति परोधर्म्मः', 'सत्येनास्ति भयं क्वचित्', 'साँच को आँच नहीं', 'साँच बरोबर तप नहीं' इत्यादि पर हम कहते हैं यह बातें केवल सतयुग के लिए थीं, नहीं तो कब त्रेता में दशरथ महाराज सरीखे धर्मतत्वज्ञ ने कैकेयी जी से बचनबद्ध होकर रामचंद्र जी का बन गमन, सच्चे जी से, प्रसन्नतापूर्वक न चाहा । गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं– 'राव राम राखन हित लागी, बहुत उपाय कीन्ह छल त्यागी ।' द्वापर में धर्मावतार युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी ने रणक्षेत्र में 'नरो वा कुंजरः' कह दिया, तब दूसरे किस मुँह से सत्य के निर्वाह का आग्रह कर सकते थे । विशेषतः इस कलिकाल में हमारे तुम्हारे समान साधारण जीवों को सत्य बोलने का प्रण (प्रण कैसा इच्छा) करना भी ऐसा है जैसे टिटिहरी नामक पक्षी का इस विचार से पाँव उठा के सोना, कि बादल गिर पड़ेगा तो बच्चे कुचल जायँगे, इससे पाँव ऊँचे किए रहना चाहिए, जिसमें गिरे भी तो ऊपर ही अटका रहे, बच्चों को न दबा सके ।

भला जिस देश में करोड़ों लोग रूखी रोटी को तरसते रहते हैं, करोड़ों कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवादि के द्वारा जो कुछ कमाते हैं उसका सार भाग टिक्कस, व्यापार, चंदा आदि की राह विलाय चला जाता है, जहाँ दुःखी लोगों को दुहाई देने के लिए भी रुपया लगाना पड़ता है सो भी न्याय ऐसा कस्तूरी के भाव बिकता है कि बहुधा रुपये वाले ही पाते हैं, वहाँ सबको पेट पालने और येन केन विधिना निर्वाह करने की चिंता चाहिए कि सत्यासत्य की ? हमें सत्य का आग्रह करना खरगोश के सींग अथवा खपुष्प नहीं है तो है क्या ? न मानिए तो किसी सच्चे दुष्ट का सच्चा हाल कह देखिए, परमेश्वर चाहे तो कल्ह ही मानहानि के अपराध में लेने के देने पड़ जायँगे ।

इसी से कहते हैं कि अपना काम चलाए जाना चाहिए । पुराने लोगों की भाँति सत्य असत्य के उलझाओं में पढ़ना वाहियात है । तथा जो कोई कहे कि मैं झूठ से दूर भागता हूँ उसे जान लेना चाहिए कि महा झूठा है । "मैं झूठ़ नहीं बोलता" इस वाक्य का अर्थ ही यह है कि मैं झूठ कह रहा हूँ । नहीं तो ऐसा कौन है जो सत्य बोल के सुखपूर्वक निर्वाह कर सकता हो । हाँ, सचमुच सत्य के घमंड में आप संसार को तृणावत समझे रहिए, मरने पर बैकुंठ में सबसे ऊँची पदवी पाने का विश्वास किए रहिए, पर जब तक दुनिया में रहिएगा तब तक थोड़े से (यदि हों) सतयुगी लोगों कौ छोड़ के सबकी आँखों में खटकते ही रहिएगा, क्योंकि सत्य होती है कड़वी । इसी से 'खरी कहैया दाढ़ीजार' कहलाता है । उसे कोई पसंद नहीं करता । 'खरी बात सअदुल्ला कहैं, सबके जी से उतरे रहैं' । जिसको कहोगे उसे मिरचे सी लगेंगी और जहाँ तक चलेगी तुम्हें नीचा दिखा के अपने जी के फफोले फोड़ने का यत्न करेगा, चाहे असत्य अन्याय और अनर्थ के ही द्वारा क्यों न हो ।

फिर भला जिसमें पराई आत्मा कष्ट पावे तथा अपने ऊपर आँच आवे एवं दोनों में बैमनस्य बढ़े वह काम किस काम का ? इससे यही न उत्तम है कि खुशामद के द्वारा दूसरों को खुश रखना और अपने लिए आमद का द्वार खुला रखना ! सतयुग में महाराज हरिश्चंद्र ने सत्य का बड़ा पालन किया था, उन्हींने क्या भुना लिया था ? राज्य गया, घर छूटा, स्त्री बिकी, पुत्र बिछड़ा, आप सारी सलतनत छोड़ के श्मशान में बरसों चौकीदारी करते रहे । इसके बदले में मिला क्या ? कीर्ति ! जो न खाने के काम की, न पहिनने के काम की । और इसके विरुद्ध झूठों के सौभाग्योदय का एक नहीं सहस्र उदाहरण बतला क्या कहिए दिखला दें । पर हमें सत्यानाशी सत्य का हठ करके नाहक के झंझट में पड़ना मंजूर नहीं है इससे आप ही देख लीजिए और मन ही मन में समझे रहिए कि हमारी प्यारी मिथ्या देवी की आराधना करके किस 2 ने कैसे 2 पद प्राप्त कर लिए हैं, कैसा कुछ धन, कैसी कुछ प्रतिष्ठा, कैसे 2 सामर्थ्यवानों की दया दृष्टि, लाभ की है तब आँखें खुल जायँगी कि असत्य में क्या मजा है और सत्य में क्या फल है ।

यह न कहिएगा कि झूठे खुशामदियों को दुनिया क्या कहती है । जब हमें नौकरी अथवा ठेकेदारी के द्वारा सहस्रों का धन मिल जायगा बड़े बड़ों में आवाजाही हो जायगी, हम राजा, नब्बाब, सर, हजरत कहलावेंगे, समय की 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुंसमर्थ' हुजूर खुदाबंदों की नाक के बाल बनके गुलछर्रे उड़ावेंगे, उस समय थोड़े बहुत दरिद्री, निर्बुद्धी, ढीठ और अभागी लोग कुछ कही लेंगे तो क्या हो जायगा, पीठ पीछे कौन किसको नहीं कहता ? अखबार वाले क्या 2 नहीं बका करते । पर किसी के कहने सुनने के डर से अपनी हानि करना कहीं बुद्धिमानी है ? एक बुद्धिमान का वचन है कि फलाने ने मुझे पाँच सौ गालियाँ दीं पर घर आ के कपड़े उतारता हूँ तो एक भी गाली का निशान तक न देख पड़ा ।

इससे अपना सिद्धांत तो यही है कि कोई कुछ बके बकने देना पर झूठ, खुशामद, छल कपट कुछ ही करना पड़े कर डालना और अपने मनबल में न चूकना । न जाने वह कैसे लोग थे जिन्होंने धर्म को वृषभ बनाया है और सत्य, शोच, दया, दान उसके चरण वर्णन किये हैं । नहीं तो सच यों है कि बैलों का धर्म बैल है और मनुष्यों का धर्म मनुष्य है, इस न्याय से वृषभ रूपधारी धर्म के पाँव कलियुग महाराज ने काट डाले, अतः अब यह धर्म चलने के योग्य नहीं रहा । इससे इस समय हमारा मानव रूप विशिष्ट द्विपद धर्म चलना चाहिए, जिसका एक चरण पालिसी है दूसरा खुदगरजी । इन दोनों चरणों में से यदि एक में भी तनिक भी कसर हुई तो धर्म का चलना कठिन है । अस्मात यह जाने रहिए कि यदि धर्म

का लक्षण यही है कि 'यतोऽभुदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिसके द्वारा सांसारिक उन्नति और मुक्ति सिद्ध हो वही धर्म है तो स्मरण रखिए कि अभ्युदय के लिए सत्य का आश्रय लेना ऐसा ही है जैसा पानी मथ के घी निकालना ।

हाँ, पालिसी के साथ झूठ मूठ दूसरों की दृष्टि में सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यचारी बने रहिये और अपनी टही जमती दीखे तो दुनिया भर की चालाकी करने में भी हिचिर मिचिर न कीजिए । बस, सत्यदेव ने चाहा तो अन्न, धन, दूध, पूत, खिताब, तमगा सब कुछ मिल जायगा । रही निःश्रेयससिद्धि, उसके विषय में जब कालिदास ऐसे महात्मा 'अविदित सुख दुःखं निर्विशेष स्वरूपं जड़मतिरिह कश्चिन्मोक्षइत्याजगाद' कह गए हैं तो ऐसी बे सिर पैर की वस्तु के लिए यत्न करना शेखचिल्ली का नाम जगाना है । हाँ, मुक्ति का अर्थ छुटकारा है, उसके लिए चिंता करना व्यर्थ है । लोक लज्जा, परलोक चिंता, धर्म की चेष्टा, परमेश्वर का भय इत्यादि कल्पित बंधनों में न पड़िए बस मुक्ति ही है—'पाशबद्धः सदा जीवः पासमुक्तः सदाशिवः' ।

ऐसी दशा में धर्म ही से कोई प्रयोजन न रहेगा, सत्य तो उसकी एक टाँग मात्र है, उसमें क्या रक्खा है ? और रक्खा भी हो तो मरने के पीछे मिलता होगा, दुनिया में तो कोई काम निकलने का नहीं । स्मृतिकारों के शिरोमणि मनु भगवान स्वयं उसके बोलने का निषेध करते हैं 'नब्रूयात्सत्यमप्रियं' अर्थात् सत्य होती है अप्रिय अतः उसे न बोलना चाहिए । फारस देश के नीतिविदाम्बर शेख सादी ने भी कहा है कि हेल मेल से परिपूर्ण (क्योंकि जिसको ठकुरसुहाती बातें सुनाते रहोगे वही स्नेह करेगा) असत्य अनर्थ उपजाने वाली सत्य से श्रेष्ठतर है—दरोगे मस्लहत आमेज बिहतर अजरास्तीए फितना अंगेज । यदि ऐसे 2 महात्माओं के वाक्य सुन के भी आपको पूर्णसंस्कार के अनुरोध से सत्य की ममता बनी हो तो उसे केवल आप सवालों के लिये बनाए रखिए, गृह, कुटुंब, बंधु बांधव, सजाती स्वदेशी आदि से उसका बर्ताव रक्खे रहिए, पर जगत भर के साथ उसका आचरण व्यर्थ ही नहीं बरंच हानिकारक, पागलपन है । अतः उसे पुरानी सत्यनारायण वाली पोथी में बाँध रखिए वा पार्सल करके सत्यलोक में भेज दीजिए जिसमें फिर कभी सत्ययुग आवै तो ब्रह्मा जी को उसके लिए दौड़ धूप न करनी पड़े और हमारे मिथ्या मंत्र को गले का यंत्र बना के अपना तथा अपने भाइयों का हित साधन करते रहिए । इसी में सब कुछ है और सब बायचेंचोपना है ।

खं० 7, सं० 1-2 (15 अगस्त-सितंबर, ह० सं०)

ममता

यह ऐसा उत्तम गुण है कि सारी भलाइयों का मूल कहना चाहिए । जब तक जिस देश पर परमात्मा की जितनी दया दृष्टि रहती है तब तक वहाँ के लोगों के जी में उतनी ही अधिक इस गुण की स्थिति

रहती है । जहाँ के लोगों को देखिए कि अपने यहाँ के मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों तथा पदार्थों का सच्चे जी से ममत्व रखते हैं और उनकी प्रतिष्ठा यावत जगत से अधिक करते हैं वहाँ समझ लेना चाहिए कि 'कोटि विघ्न संकट विकट, कोटि दुष्ट इक साथ । तुलसी बल नहिं करि सकैं, जो सहाय रघुनाथ ।' का जीवित उदाहरण विद्यमान है । सदा, सब कहीं के, सभी लोग, सब गुणपूर्ण कभी नहीं होते पर जहाँ यह गुण दृढ़ रूप से स्थीयमान होता है वहाँ 'सब सुख संपत्ति बिनहिं बुलाए, धर्मशील पहं जाहिं सुभाए' ।

कारण यह है कि सबको सबसे सहारा मिलता रहता है । सबके जी में यह बल रहता है कि हम अकेले नहीं हैं, एक बड़ा भारी समूह सदा सब दशा में हमारे साथ है । इससे सभी को सब प्रकार का सुभीता प्राप्त रहता है । अपने यहाँ के पुराने ग्रंथों को देखिए तो गंगा, सिंधु, सरस्वती, यमुना इत्यादि नदियों का नाम, ब्रह्मद्रव, स्वर्गदायिनी, अमृतमयी इत्यादि; अयोध्या, मथुरा, काशी, प्रयागादि नगरों के नाम विष्णुपुरी, परमात्मा का बिहारस्थल, मोक्षदा तीर्थराज; तुलसी, पीपल आदि वृक्षों के नाम विष्णुप्रिय, वासुदेव, इत्यादि लिखे हैं ।

इसका अभिप्राय नये मत वालों के कथानानुसार हमारे पूर्वजों की हरिविमुखता अथवा लकीर के फकीरों के विचारानुसार धर्म की अनेकता नहीं है । वेदों में ईश्वर और धर्म की अद्वितीयता सैकड़ों स्थल पर लिखी है । पुराणों में पंचदेव की अभिन्नता तथा सब मतों की एकता सहस्रों ठौर वर्णित है और सप्तपुरी पंचवट आदि की व्याख्या करने वाले वेदादि का अर्थ न जानते थे इसका कोई प्रमाण नहीं है पर बात सारी यह थी कि देश की ममता उनके चित्त में भरी हुई थी । उसकी उमंग में उन्हें अपने यहाँ की नदियों का जल अमृत सा जँचता था, अपने नगर बैकुंठ से उत्तम देख पड़ते थे– 'बृन्दावन बैकुंठ दोउ, तौले रमानिवास । गरुवो धरती पर रह्यो, हलको गयी अकास' ।

अपने वृक्ष देवता जान पड़ते थे, उनका सींचना धर्म का अंग बोध होता था; उन्हें जनेऊ पहिनाना, चंदन पुष्पादि से सुशोभित करना आँखों को सुख देता था । वृथा कोई एक पत्ती भी तोड़ लेता था वह पापी समझ पड़ता था । कहाँ तक कहिए ममता का उन दिनों इतना संचार था कि स्नान करने के ऊपर अपने प्यारे नगरों की मट्टी तक लोग शिर पर मलते थे, छाती से लगाते थे । इसी के प्रभाव से चारों ओर सुख सौभाग्य की इतनी भरमार थी कि लोग राज्य छोड़ 2 वन, पर्वतों में जा बैठते थे । त्रेता में भगवान रामचंद्र को अयोध्या से सैकड़ों कोष दूर बन में अच्छी भली रावण ऐसे शत्रु को जीतने योग्य सेना प्राप्त हो गई थी । भला बताइए तो सुग्रीव उनके नातेदार थे ? वा दशरथ जी का दिया खाते थे ? नहीं । बनवासी (जिन्हें कवियों ने बंदर की उपाधि दी है) लोगों तक को यह ज्ञान था कि अयोध्या अपने राजा की राजधानी है, उसके आगे लंकावालों का हमारा क्या संबंध है । द्वापर में भीष्म जी को पिता कह के पुकारने वाले का जन्म धारण असंभव था तो सारे देश ने उन्हें पितामह अर्थात् पिता का भी पिता निश्चित कर लिया । अभी कलियुग में भी कई राज्यों में यह रीति पड़ गई थी (जिसका बहुत बिगड़ा हुआ रूप अब भी कहीं 2 बना है) कि राजा के यहाँ ब्याह है तो प्रजा मात्र को मुहूर्त पूछने की आवश्यकता नहीं और राजा मर गया तो राज्य भर की स्त्रियों का एक 2 हाथ चूड़ियों से खाली ।

तभी सिकंदर ऐसे दिग्विजयी राजा मगधेश्वर का सामना करते हुए कचियाते थे । तभी नौशेरवाँ सरीखे महाराज कन्यादान करते थे । पर अब वह गुण हममें नहीं रहा । अब हमें अपने भाइयों का सुख दुःख देख के सच्चा सुख दुःख नहीं अनुभव होता बरंच उसके स्थान पर कोई न कोई मिष ढूँढ़ के

हम उनसे अलग रहना चाहते हैं। स्वार्थ के अनुरोध से उनकी प्रतिष्ठा, धन, धरती आदि की जड़ काटने में पाप नहीं समझते। आज हम अपनी गंगा, भवानी, तुलसी, पीपल, प्रतिमा, पुराणादि को वेदविरुद्ध बरंच वेद को भी पुराने असभ्य किसानों के गीत समझते हैं। आज हम मुरशिदाबाद की गर्द (रेशमी कपड़ा) और बनारस की कमख्वाब पहिनने में शरमाते ही नहीं बरंच अपव्यय समझते हैं। रोगग्रस्त होने पर भी चौगुने दाम दे के मशक का पानी पीते हैं पर चूर्ण, पाक अवलेह सेवन करें तो शान के बईद है। कहाँ तक कहिये अपनी बोली तक बोलना व्यर्थ समझते हैं। बस इसी से नौकरी तक में बाधा है।

दुःख सुनाने में भी खर्च है, डर है, सच्चाई का ह्रास है, बरंच कभी 2 पूरा उद्योग करने पर भी परिणाम में निराशा है। यह क्यों ? इसी से कि हमें अपनी ही ममता नहीं है फिर दूसरों को हमारी ममता क्यों हो। जब तक हमें हम और हमारा का सच्चा ज्ञान न होगा तब तक हम यों ही, बरंच इससे भी गए बीते बने रहेंगे और लाख बातें बनावें और करोड़ दौड़ धूप करें पर होगा कभी कुछ नहीं। अतः सारे झगड़े छोड़िए और यह प्रण कर लीजिए कि कोटि कष्ट उठावेंगे, घर फूँक तमाशा देखेंगे, पर यह हठ न छोड़ेंगे कि अपना अपना ही है, अपनी मट्टी भी दूसरों के सोने से मूल्यवान है।

बस यही ममता का मूल मंत्र है। इसी को सिद्ध कीजिए और दूसरों को उपदेश दीजिए तो ईश्वर राजा प्रजा सुख सम्पत्ति सौभाग्य सुयश सुदशा सबकी ममता के पात्र बन जाइएगा। नहीं तो यहाँ क्या है, थोड़ा सा कागज खराब हो गया सही, पर तुम्हारा सभी कुछ धीरे 2 ममता के बिना रमता योगी हो जायगा।

खं० 7, सं० 3 (15 अक्टूबर, ह० सं० 6)

अपभ्रंश

यह महात्मा जिस शब्द पर दाँत लगाते हैं उसे तोड़ मरोड़ के ऐसा बना देते हैं कि शीघ्रता में उसका शुद्ध रूप समझ में आना कठिन हो जाता है। बरंच कभी 2 तो ऐसी सूरत पलट देते हैं कि यह भी नहीं जान पड़ता कि यह शब्द है किस भाषा का। दिहातों में कच्ची दीवारों पर भूसा और मिट्टी एक में सान के लगाई जाती है। उसका नाम वहाँ के हिंदू, मुसलमान, पढ़े, बिन पढ़े, जिससे पूछिए कहगिलि बतलावैगा पर यह कोई नहीं बतलाता कि वह शब्द किस भाषा का है। बिचारने से जान पड़ेगा कि फारसी में काह अथवा कह घास को और गिल मिट्टी को कहते हैं।

यही दोनों मिल के काहीगिल, काहगिल, कहिगिल अथवा कहगिलि का रूप धारण कर लेते हैं और 'नवेदद्यावनी भाषां' का सिद्धांत रखने वाले पंडितों तक को ग्राम भाषा होने का धोखा देते हैं। ऐसे ही 'लप्प लप्प' (जीभ लप्प लप्प होती है) फारसी के लब ब लब अर्थात् एक होंठ से दूसरे होंठ को लाना अथवा उसी अर्थ के वाचक लबालब का अपभ्रंश है। इस अपभ्रंश की दया से दूसरी भाषा

के शब्द दूसरी भाषा में ऐसे घुलमिल जाते हैं कि उनकी असलियत जानना कठिन हो जाता है । हमने गत वर्ष युवराज कुमार के स्वागत में लिखा था कि 'जीवहिं तव पितु मातु कका काकी अरु आजी' । इस पर बहुतेरे मित्रों ने जिह्वा और लेखनी द्वारा विदित किया था कि 'कहाँ का गँवारी शब्द ला रक्खा है' । पर वह विचारते तो जान जाते कि आजा (पितामह) आजी (बरंच संबोधन में अरी आजी = आर्य्या जी) ऐया और अजी, ऐजी तथा जी एवं मद्रासी ऐयर (कुलीन ब्राह्मण) सब आर्य शब्द को रंग बदलौअल है । बरंच हिंदी की सृष्टि ही संस्कृत शब्दों के अपभ्रंश से हुई है । अक्षि (आँख), कर्ण (कान), मुख (मुँह) इत्यादि लाखों शब्द यदि शुद्ध रूप में प्रयोग किए जायँ तो निरी संस्कृत ही बोलना पड़े । इससे अपभ्रंश का त्याग करना भी भाषा का अंग भंग करना है क्योंकि उसके बिना निर्वाह ही नहीं । प्रकृति का नियम ही है कि संस्कृत के 'यत्' शब्द को बंगाल में ले जाकर 'जती' और 'जे' तथा विलायत में पहुँचाकर द्यट that के रूप में जैसे ला डाला है वैसे ही अनेक भाषाओं के अनेक शब्दों के अनेक रूपांतर करके भाषांतर तथा अर्थांतर की छटा दिखाता रहता है ।

फिर हम नहीं जानते खड़ी बोली की कविता के पक्षपाती बृजभाषा से क्यों चिटकते हैं और श्री गोस्वामी तुलसीदास तथा बिहारीलाल इत्यादि सत्कवियों के बचनामृत को सुधारने की नीयत से क्यों शक्कर को बालू बनाते हैं । क्या इतना नहीं समझते कि अंग्रेजी 'जियोग्राफी' अरबी 'जुगराफिया' और फारसी 'जायगाह' 'जागाह' 'जागह' 'जगह' 'जाय' और 'जा' सब संस्कृत वाले 'जगत्' अथवा 'जग' के रूपांतर हैं । पर यदि कोई हठतः उलट फेर के किसी शब्द की किसी भाषा के साथ रजिस्टरी किया चाहे तो हँसी कराने के सिवा कुछ लाभ न उठायेगा । फिर यदि कवियों के प्रेम प्रतिष्ठा की आधारस्वरूपा बृजभाषा ने आपके 'आया' 'गया' इत्यादि को माधुर्य के अनुरोध से 'आयो' 'गयो' इत्यादि बना लिया तो क्या बिगाड़ हो गया । एक शब्द का दूसरी प्रकार से उच्चारण करना तो सदा से होता ही आया है । इससे किसी को हस्तक्षेप का इरादा करना निरी बौखलाहट है ।

खं० 7, सं० 6 (15 जनवरी, ह० सं० 7)

पेट

इन दो अक्षरों की महिमा भी यदि अपरंपार न कहिए तौं भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि बहुत बड़ी है । जितने प्राणी और अप्राणी, नाम रूप देखने सुनने में आते हैं सब ब्रह्मांडोदरवर्ती कहलाते हैं और ऐसे 2 अनेकानेक ब्रह्मांड ब्रह्मदेव के उदर में स्थान पाते हैं । फिर क्यों न कहिए कि पेट बड़ा पदार्थ है । और बड़े पदार्थ का वर्णन भी बड़ी बात है । अस्मात पेट की बात इतनी बड़ी है कि भगवान श्रीकृष्णचंद्र तक ने अपना नाम दामोदर प्रकट किया है और इससे सबको यह उपदेश दिया है कि पेट ही वह रस्सी है जिसमें बँधे बिना कोई बच नहीं सकता । धर्म की दृष्टि से देखिये तो समस्त मान्य

व्यक्तियों में सर्वोपरि अधिकार माता का होता है, क्योंकि उसने हमें नौ मास पेट में रक्खा है । प्राचीन काल के वीर पुरुषों का इतिहास पढ़िए तो जान पड़ेगा कि अनार्यों (राक्षसों) में सहोदर (रावण के यहाँ का योद्धा) और आर्यों में बृकोदर (भीमसेन) अपने समय तथा अपने ढंग के एक ही युद्धकला कुशल थे ।

इधर देवताओं के दर्शन कीजिए तो सबसे पहिले लंबोदर (गणेशजी) ही आदिदेव के नाम से स्मृत होते हैं । मनोवृत्ति में कुछ रसिकता की झलक हो तो मनोहारिणी सुंदरियों का अवलोकन कीजिए ये भी दामोदरी, कृशोदरी आदि नामों से आदर पाती हैं । जब कि ऐसे 2 प्रेम प्रतिष्ठा के पात्रों की ख्याति उदर से संबंध रखती है तो साधारणों का तो कहना ही क्या है । सब पेट से ही उत्पन्न होते हैं और यदि आवागमन का सिद्धांत ठीक हो तो अंत समय पेट ही में चले जाते हैं । जो आर्यों की फिलासिफी न रुचती हो तौ भी धरती के पेट से अथवा मांसाहारी पशु, पक्षी, कीट, पतंग के पेट से बचाव नहीं है । अब रहा संसार में स्थिति करने का समय, उसमें तो ऐसा कोई बालक वृद्ध, मूर्ख विद्वान, उच्च नीच, धनी दरिद्री है ही नहीं जो दिन रात भाँति 2 के कर्तव्य, विशेषतः पेट ही की पूर्ति के अर्थ, न करता हो । यों हम उनको धन्य कहेंगे जो अपने की चिंता न करके दूसरों के पालन में सयत्न रहते हैं । पर ऐसे लोगों की संख्या सदा सब ठौर बहुत स्वल्प होती है ।

इससे ऐसों को अदृश्य देवताओं की कोटि में रहने दीजिए और उन्हें भी लंका के महाराक्षसों में गिन लीजिए जो अपना पापी पेट पालने के अनुरोध से दूसरों को कुछ भी कष्ट क्यों न हो, तनिक ध्यान नहीं देते । ऐसे भी लोगों की संख्या यहाँ बहुत नहीं है । किंतु दिन दूनी दुर्दशा के बस हो के दस बीस वर्ष में हो जाय तो आश्चर्य नहीं है क्योंकि 'बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्' । रहे सर्वसाधारण, वे जो पेट को धोखा देने के लिए बात 2 पर बहुत फूँक 2 पाँव न धर सकें तो कोई विचारशील उन्हें दोष भी नहीं लगा सकता क्योंकि सभी जानते हैं कि पेट की आँच बड़ी कठिन होती है । उसका सहन करना हर एक का काम नहीं है ।

इसकी प्रचंडता में लोक परलोक, धर्म कर्म सभी के विचार भस्मीभूत हो जाते हैं । यह खाल की खलीती यदि उचित खाद्य में, स्वल्प परिश्रम के साथ भरती रहे तौ तो क्या ही कहना है, सभी इंद्रियाँ पुष्ट मन हृष्ट वृद्धि फुरतीली और चित्त वृत्ति सचमुच रसीली बनी रहती है । पर यदि धाए धूपे किसी न किसी भाँति कुछ न कुछ मिलता रहै तौ भी सुख, स्वच्छंदता, नैरुज्य एवं निश्चिंतता का तो नाम न लीजिए । हाँ, जीवन पहिया जैसे तैसे लुढ़कता पुढ़कता चला जायगा । किंतु यदि, परमेश्वर न करे, कहीं किसी रीति से ठिकाना न हुआ तो बस कहीं ठिकाना न समझिए । इस क्षुधा यंत्र का नाम ही दोजख अर्थात् नर्क है । फिर इसके हाथों बड़े बड़ों को जीते जी नर्क यातना भोगनी पड़े तो क्या आश्चर्य है । और परमेश्वर की न जाने क्या इच्छा है कि इन दिनों बरसों से चारों ओर जन समुदाय की उदर पूर्ति में विघ्न ही विघ्न बढ़ाते हुए देख पड़ते हैं ।

इधर तो करोड़ों देशभाई दिन 2 'नहिं पट कटि नहिं पेट अघाही' का उदाहरण बनते जाते हैं और जिनका पेट भरा है वे इनकी ओर से साँस डकार भी नहीं लेते । उधर को हमारे 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ' प्रभु हैं, उन्होंने यह सिद्धांत कर रक्खा है कि 'मोरपेट हाहू, मैं ना देहों काहू' । यह लक्षण देख 2 के बिचारे भारत भक्त अपनी वाली भर पेट काट 2 के भी उद्धार का उपाय करते हैं और इधर उधर पानी पहाड़ा लाँघते हुए, पेट पकड़े दौड़े फिरते हैं । पर जब देखते हैं कि कोई युक्ति नहीं चलती

तो विवशतः कोई 2 पेट मिसूसा मार के बैठ रहते हैं, कोई 2 दूसरों की पेट पीड़ा दूर करने के उद्देश्य से उसकी भाँति चिल्लाया करते हैं जिसके पेट में पीर उठती है । जहाँ यह दशा है वहाँ सबके सभी लोगों को मुँह बाए पेट खलाए पड़ा रहना उचित नहीं है । नीचेत् जठराग्नि फैलती रहेगी तो एक न एक दिन संभव है कि किसी को जलाए बिना न छोड़े । तस्मात् यही मुख्य कर्तव्य है कि सब जने सबको सहोदर भाव से देखें और समझ रक्खें कि पेट सभी का येनकेन प्रकारेण पालनीय है ।

चाहे मखमल सा चिकना और मक्खन सा मुलायम हो, चाहे कठौती सा कठोर हो, चाहे हाँडी सा दृश्य अथवा पुर सा बिहंगम हो, मोटी झोंटी, खरी खोटी चार रोटी सभी के लिए चाहनी पड़ती है । और इन्हीं के प्राप्ति के अलसेठे मिलाना परम कृत्य है । यदि दैव ने हमें कुछ सामर्थ्य दी है तो चाहिए कि उसे अपने ही पेट में न पचा डालैं, कौरा किनका दूसरों की आत्मा में भी डालें । और जो यह बात अपनी पहुँच से दूर हो तो भी केवल मुँह से नहीं बरंच पेट से यह प्रण कर लेना योग्य है कि पेट से पत्थर बाँध के परिश्रम करेंगे, दुनिया भर के पेट में पाँव फैलावेंगे, सबके आगे न पेट दिखाते लजाएँगे न पेट चिरवा के भुस भराने में भय खाएँगे पर अपनी और अपनों की पेटाग्नि बुझाने के यत्न में जब तक पेट से साँसें आती जाती रहेंगी तब तक लगे ही रहेंगे । यों तो पेट की लपेट बहुत भारी है पर आज इस कथा को यहीं तक रहने दीजिए और समझ लीजिए की इतनी भी पेट पड़े गुण ही करेगी !

खं० 7, सं० 9 (15 अप्रैल, ह० सं० 7)

बात

यदि हम वैद्य होते तो कफ और पित्त के सहवर्ती बात की व्याख्या करते तथा भूगोलवेत्ता होते तो किसी देश के जल बात का बर्णन करते । किंतु इन दोनों विषयों में हमें एक बात कहने का भी प्रयोजन नहीं है इससे केवल उसी बात के ऊपर दो चार बात लिखते हैं जो हमारे संभाषण के समय मुख से निकल 2 के परस्पर हृदयस्थ भाव प्रकाशित करती रहती है । सच पूछिए तो इस बात की भी क्या बात है जिसके प्रभाव से मानव जाति समस्त जीवधारियों की शिरोमणि (अशरफुल मखलूकात) कहलाती है । शुकसारिकादि पक्षी केवल थोड़ी सी समझने योग्य बातें उच्चरित कर सकते हैं इसी से अन्य नभचारियों की अपेक्षा आद्रित समझे जाते हैं । फिर कौन न मान लेगा कि बात की बड़ी बात है । हाँ, बात की बात इतनी बड़ी है कि परमात्मा को सब लोग निराकार कहते हैं तौ भी इसका संबंध उसके साथ लगाए रहते हैं । वेद ईश्वर का बचन है, कुरआनशरीफ कलामुल्लाह है, होली बाइबिल वर्ड आफ गाड है यह बचन, कलाम और वर्ड बात ही के पर्याय हैं सो प्रत्यक्ष में मुख के बिना स्थिति नहीं कर सकती । पर बात की महिमा के अनुरोध से सभी धर्मावलंबियों ने "बिन बानी वक्ता बड़ योगी" वाली

बात मान रक्खी है । यदि कोई न माने तो लाखों बातें बना के मनाने पर कटिबद्ध रहते हैं ।

यहाँ तक कि प्रेम सिद्धांती लोग निरवयव नाम से मुँह विचकावेंगे । 'अपाणिपादो जवनो गृहीता' इत्यादि पर हठ करने वाले को यह कहके बात में उड़ावैंगे कि "हम लँगड़े लूले ईश्वर को नहीं मान सकते । हमारा प्यारा तो कोटि काम सुंदर स्याम बरण विशिष्ट है ।' निराकार शब्द का अर्थ श्री शालिग्राम शिला है जो उसकी स्यामता का द्योतन करती है अथवा योगाभ्यास का आरंभ करने वाले कों आँखें मूँदने पर जो कुछ पहिले दिखाई देता है वह निराकार अर्थात् बिलकुल काला रंग है । सिद्धांत यह कि रंग रूप रहित को सब रंग रंजित एवं अनेक रूप सहित ठहरावेंगे किंतु कानों अथवा प्रानों वा दोनों को प्रेम रस से सिंचित करने वाली उसकी मधुर मनोहर बातों के मजे से अपने को बंचित न रहने देंगे ।

जब परमेश्वर तक बात का प्रभाव पहुँचा हुआ है तो हमारी कौन बात रही ? हम लोगों के तो "गात माहिं बात करामात है" । नाना शास्त्र, पुराण, इतिहास, काव्य, कोश इत्यादि सब बात ही के फैलाव हैं जिनके मध्य एक 2 बात ऐसी पाई जाती है जो मन, बुद्धि, चित्त को अपूर्व दशा में ले जाने वाली अथच लोक परलोक में सब बात बनाने वाली है । यद्यपि बात का कोई रूप नहीं बतला सकता कि कैसी है पर बुद्धि दौड़ाइए तो ईश्वर की भाँति इसके भी अगणित ही रूप पाइएगा ।

बड़ी बात, छोटी बात, सीधी बात, टेढ़ी बात, खरी बात, खोटी बात, मीठी बात, कड़वी बात, भली बात, बुरी बात, सुहाती बात, लगती बात इत्यादि सब बात ही तो है ? बात के काम भी इसी भाँति अनेक देखने में आते हैं । प्रीति बैर, सुख दुःख, श्रद्धा घृणा, उत्साह अनुत्साहादि जितनी उत्तमता और सहजतया बात के द्वारा विदित हो सकते हैं दूसरी रीति से वैसी सुविधा ही नहीं । घर बैठे लाखों कोस का समाचार मुख और लेखनी से निर्गत बात ही बतला सकती है । डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में चाहे जहाँ की जो बात हो जान सकते हैं । इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात उखड़ती है ।

हमारे तुम्हारे भी सभी काम बात ही पर निर्भर करते हैं—"बातहि हाथी पाइए, बातहि हाथी पाँव" । बात ही से पराए अपने और अपने पराए हो जाते हैं । मक्खीचूस उदार तथा उदार स्वल्पव्ययी, कापुरुष युद्धोत्साही एवं युद्धप्रिय शांतिशील, कुमार्गी सुपथगामी अथच सुपंथी कुराही इत्यादि बन जाते हैं । बात का तत्व समझना हर एक का काम नहीं है और दूसरों की समझ पर आधिपत्य जमाने योग्य बात गढ़ सकना भी ऐसों वैसों का साध्य नहीं है । बड़े 2 विज्ञवरों तथा महा 2 कवीश्वरों के जीवन बात ही के समझने समझाने में व्यतीत हो जाते हैं । सहृदयगण की बात के आनंद के आगे सारे संसार तुच्छ जँचता है । बालकों की तोतली बातें, सुंदरियों की मीठी 2, प्यारी 2 बातें, सत्कवियों की रसीली बातें, सुवक्ताओं की प्रभावशालिनी बातें जिसके जी को और का और न कर दें उसे पशु नहीं पाषाण खंड कहना चाहिए । क्योंकि कुत्ते, बिल्ली आदि को विशेष समझ नहीं होती तो भी पुचकार के 'तू तू' 'पूसी पूसी' इत्यादि बातें कह दो तो भावार्थ समझ के यथा सामर्थ्य स्नेह प्रदर्शन करने लगते हैं । फिर वह मनुष्य कैसा जिसके चित्त पर दूसरे हृदयवान की बात का असर न हो ।

बात वह आदरणीय बात है कि भलेमानस बात और बाप को एक समझते हैं । हाथी के दाँत की भाँति उनके मुख से एक बार कोई बात निकल आने पर फिर कदापि नहीं पलट सकती । हमारे परम पूजनीय आर्यगण अपनी बात का इतना पक्ष करते थे कि "तन तिय तनय धाम धन धरनी । सत्यसंध

कहँ तृन सम बरनी" । अथच "प्रानन ते सुत अधिक है सुत ते अधिक परान । ते दूनौं दसरथ तजे वचन न दीन्हों जान" । इत्यादि उनकी अक्षरसंवद्धा कीर्ति सदा संसार पट्टिका पर सोने के अक्षरों से लिखी रहेगी । पर आजकल के बहुतेरे भारत कुपुत्रों ने यह ढंग पकड़ रक्खा है कि 'मर्द की जबान (बात का उदय स्थान) और गाड़ी का पहिया चलता ही फिरता रहता है' ।

आज और बात है कल ही स्वार्थांधता के बंश हुजूरों की मरजी के मुवाफिक दूसरी बातें हो जाने में तनिक भी विलंब की संभावना नहीं है । यद्यपि कभी 2 अवसर पड़ने पर बात के अंश का कुछ रंग ढंग परिवर्तित कर लेना नीति विरुद्ध नहीं है, पर कब ? जात्योपकार, देशोद्धार, प्रेम प्रचार आदि के समय, न कि पापी पेट के लिए । एक हम लोग हैं जिन्हें आर्यकुलरत्नों के अनुगमन की सामर्थ्य नहीं है । किंतु हिंदुस्तानियों के नाम पर कलंक लगाने वालों के भी सहमार्गी बनने में घिन लगती है ।

इससे यह रीति अंगीकार कर रखी है कि चाहे कोई बड़ा बतकहा अर्थात् बातूनी कहै चाहै यह समझे कि बात कहने का भी शउर नहीं है किंतु अपनी मति अनुसार ऐसी बातें बनाते रहना चाहिए जिनमें कोई न कोई, किसी न किसी के वास्तविक हित की बात निकलती रहे । पर खेद है कि हमारी बातें सुनने वाले उँगलियों ही पर गिनने भर को हैं । इससे "बात बात में वात" निकालने का उत्साह नहीं होता । अपने जी को 'क्या बने बात जहाँ बात बनाए न बने' इत्यादि विदग्धालापों की लेखनी से निकली हुई बातें सुना के कुछ फुसला लेते हैं और बिन बात की बात को बात का बतंगड़ समझ के बहुत बात बढ़ाने से हाथ समेट लेना ही समझते हैं कि अच्छी बात है ।

खं० 7 सं० 10 (15 मई, ह० सं० 7)

असंभव है

प्रेम के बिना आत्मिक शांति असंभव है । हिंदी का पूर्ण प्रचार हुए बिना हिंदुओं का उद्धार असंभव है । हिंदुओं के भली भँति सुधरे बिना हिंदुस्तान का सुधार असंभव है । दूसरों के भरोसे अपनी भलाई की आशा करने पर यथार्थ सिद्धि असंभव है । भय, लज्जा और धर्माधर्म का विचार रखने में संसार के काम चलना असंभव है । कपट त्यागे बिना सच्ची मित्रता असंभव है ।

कुपथ्य करने से रोग की शांति असंभव है । स्वार्थी से वास्तविक परोपकार असंभव है । उदार पुरुष को धन का संकोच न होना असंभव है । ईश्वर की सर्वव्यापकता के विश्वासी से पाप कर्म असंभव है । संगीत साहित्य और सौंदर्य के स्वाद बिना सहृदयता असंभव है । दो चार बार धोखा खाए बिना अनुभवशीलता असंभव है ।

अदालत में जा के सत्यवादी बना रहना असंभव है । कपट का भंडा फूट जाने पर संभ्रम रक्षा असंभव है । मतवादी में धार्मिकता असंभव हैं । धन की उन्नति बिना किसी लौकिक विषय की उन्नति

असंभव है। गोरे रंग वालों से निष्पक्षता असंभव है। जिस विषय में पूरा अनुभव न हो उसमें मुँह खोल के विज्ञ मंडली के मध्य प्रशंसा पाना असंभव है।

शास्त्रार्थ से ईश्वर का सिद्ध कर देना असंभव है। दुःख और दुर्व्यसन से पूर्णतया बचे हुए जीवन यात्रा असंभव है। बंधु विरोध करके लाख चतुरता के अच्छत सुख संपत्ति बनाए रखना असंभव है। निरुत्साही से कोई काम होना असंभव है। प्रजा विरोधी से राजभक्ति असंभव है। इन सिद्धांतों को अयथार्थ ठहराने की मनसा से विवाद उठा के जय लाभ करना असंभव है।

खं० 7, सं० 10 (15 मई, ह० सं० 7)

देखिये तो

(जरा मन लगा के पढ़िये)

यों तो सभी देशों का गौरव वहाँ के शूर सती और कवियों पर निर्भर होता है किंतु हमारा भारतवर्ष सदा से इन्हीं पुरुषरत्नों के द्वारा अलंकृत रहा है। आजकल इसकी जो कुछ दुर्दशा हो रही है उसके विशेष कारणों में से एक यह भी है कि बहुत दिन से ऐसे लोगों का चरित्र सर्वसाधारण को भली भाँति नहीं विदित होता। जिन्होंने बरसों स्कूल में पढ़कर बड़े 2 पद प्राप्त किए हैं वे भी बहुधा नहीं ही जानते कि हमारे देश में कब, किस समय, कौन 2 उत्साही वीर, पतिप्राणा स्त्रीरत्न एवं रससिद्ध कवीश्वर हुए हैं अथवा हैं और इस प्रकार का ज्ञान न होने से देश में मनुष्य जीवन को सुशोभित करने वाले सद्गुणों का पूर्णरूप से प्रचार होना दुर्घट है। इस अभाव के दूर करने की मनसा से देशभक्तों और विद्यारसिकों की सेवा में हमारा सविनय निवेदन है कि जो सज्जन भूतकाल के तथा वर्तमान समय के वीर पुरुषों, पतिव्रता स्त्रियों अथच कवियों का वृत्तांत जानते हों वह कृपा करके हमारे पास लिख भेजें तो भारतवर्ष का बड़ा उपकार होना संभावित है।

इस देश में ऐसा स्थान बिरला ही होगा जहाँ सौ पचास वर्ष के इधर उधर किसी न किसी घराने में कोई न कोई जाति और देश को भूषित करने वाले पुरुष अथवा स्त्री ने जन्म न ग्रहण किया हो। ऐसों का चरित्र एकत्रित करने में प्रचलित गीतों और कविताओं (जो दिहात के स्त्री पुरुष बहुधा गाया करते हैं वा भाट लोग कहते रहते हैं) तथा वृद्ध लोगों से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। पर इस प्रकार की बातें संग्रह करना एक दो मनुष्यों का काम नहीं है।

इससे सहृदय मात्र को हम कृपा करके देश की कल्याण साधनार्थ परिश्रम करके लिख भेजना चाहिए कि किस जिले परगने के किस नगर अथवा ग्राम में, किस संवत् में किस कुल के मध्य, किस साहसी व्यक्ति ने जन्म लिया, उसके माता पितादि का नाम क्या था और किस 2 उद्देश्य से कब 2 किस 2 के प्रति कहाँ अपने अलौकिक गुण का प्रकाश किया। यों ही कब, कहाँ, किसके गृह में,

किसके गर्भ से किस पतिव्रता ने प्रादुर्भाव किया और किस वंश के कौन से बड़भागी के साथ ब्याही गई तथा क्यों कर पवित्र प्रेम का परिचय देकर जीवनयात्रा समाप्त की एवं उसका सतीचौरा किस स्थान पर है। इसी प्रकार कब, कहाँ, किस कुल में किस कविवर ने जन्म धारण किया, किस राजसभा अथवा किस रीति से निर्वाह किया वा करते हैं।

कौन 2 से ग्रंथ निर्माण किए उन ग्रंथों की पूरी प्रति अथवा कुछ कविता भी लिख भेजनी चाहिए। यदि संभव हो तो उनका चित्र वा हस्तलिपि भी भेजने तथा भिजवाने का यत्न कर्तव्य है। शिवसिंह सरोज में जिन 2 कवियों की कथा लिखी है उसके अतिरिक्त कुछ और विशेष वृत्त ज्ञात हो वा अन्यान्य कवियों का चरित्र अवगत हो तो लिखना चाहिए। आल्हा, लोरीक, बिजयमल्ल, सल्हेस, नयकाबनिजरवा, गोपीचंद, भरतरी, अमरसिंह का ख्याल, सतीचंद्रावली का गीत इत्यादि एवं इसी प्रकार के और 2 गीत, कबित, पंवरा आदि से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

जो देशहितैषी ऐसी 2 बातों के लिख भेजने का उद्योग करेंगे तथा संपादक महाशय इस बिज्ञापन को अपने पत्र में कुछ दिन स्थान दान करेंगे उनको धन्यबाद तो हम क्या समस्त भारत देहीगा किंतु एतद्विषयक पुस्तक (वा पुस्तकें) भी उनकी सेवा में बिना मूल्य भेजी जायँगी। बुद्धिमानों को इतनी सूचना बहुत है। हाँ, जो 2 बातें रह गई हों वह और भी बढ़ा के लिखना उनकी कृपा है। इसे पढ़ के रख न दीजिए किंतु ध्यान दीजिए और परिश्रम कीजिए तो बस, मुझ प अहसान करो खलक प अहसान होगा।

विशेष जिस ग्राम में वा प्रांत में जन्म हो उसका नाम क्यों पड़ा, यदि यह मालूम हो तौ भी लिखना वा किस वर्ण के कौन विभाग तथा मत मानते हैं यह भी मालूम हो तो लिखना।

हिंद हिंदी और हिंदुस्तानियों का कीर्त्तिवर्द्धक
प्रतापनारायण मिश्र,
ब्राह्मण संपादक कानपुर
अथवा
मैनेजर खड्ग विलास प्रेस, बांकीपुर।

(खं 7, सं० 10, 15 मई, ह० सं० 7)

भ्रम है

'विद्याधर्मदीपिका' संपादक पंडितप्रवर श्री चंद्रशेषरमिश्र महोदय मई मास की उक्त पत्रिका में आज्ञा करते हैं कि गजल और लावनी आदि के छंद बृजभाषा में ठीक नहीं बरंच अत्यंत कर्णारुमंद जँचते हैं। हम उन्हें स्मरण दिलाते हैं कि श्री शाह कुंदनलाल (महात्मा ललित किशोरी) और नारायण स्वामी

इत्यादि कई सज्जनों की बहुत सी गजलें प्रसिद्ध हैं । नमूने के लिए दो चार का मतला (टेक) सुन लीजिए । यथा—

सुनिए जसोदा रानी या लाल की बड़ाई । सब लोक लाज यानैं जमुना में धो बहाई । और—बिनती कुंअरि किशोरी मेरी मान मान मान । बिन चूक मान मोसों मती ठान ठान ठान । तथा—देखो कहुँ गलीन में बृषभाननंदिनी । ठुम 2 धरै धरनि प चरन गति गयंदिनी । इत्यादि । इसी प्रकार लावनी की ।

यद्यपि देश के कई प्रांतों में बहुत चर्चा नहीं है तौ भी श्रीराधाचरण गोस्वामी, हमारे गुरुवर श्री ललिताप्रसादजी त्रिवेदी (ललित कवि) तथा हम और कई एक और कवियों ने बहुत सी लावनी लिखी है । यथा—सब गोपबधूटी लकुट मथनियन साधे । गिरि परै न गिरिवर आय कान्ह के काँधे । फिर—अरी बतावै क्यों न हाल तू कौन खयाल में है भटकी, कासों अटकी, लिए मटकी जु फिरै मटकी मटकी । पुनः—दिन 2 दीनं दसा भारत की अधिक 2 अधिकाई है । दीन बंधु बिन, दीन को दीसत कोउ न सहाई हैं । इत्यादि ।

यह सब बृजभाषा है और किसी कवि ने इन्हें कर्ण कटु नहीं बतलाया । आशा है आप भी अच्छा न कहैं तो बुरा भी न ठहरावैंगे । इसके अतिरिक्त और भी जिन 2 छंदों के कहिए उनके नवीन तथा प्राचीन उदाहरण सेवा में निवेदित किये जायँ । पर खड़ी बोली में दोहा चौपाई क्या लावनी इत्यादि के सिवा सभी छंद स्वादु रहित होते हैं और होंगे । नमूने के लिये ढूँढ़ने नहीं जाना, कई पुस्तकें छपी हुई मौजूद हैं । फिर यदि 'बहुत से सुजन' कहते हैं कि 'बिना बृजभाषा के विंशुद्ध हिंदी में कविता··ठीक नहीं हो सकती' तो वे क्या पाप करते हैं ? आपने भी अपनी बासंती कविता में माधुर्य रक्षार्थ बृजभाषा का आश्रय लिया है । फिर यदि काव्यरसिक लोग बृजभाषा ही को मधुर कविता के योग्य मानते हैं तो क्या अन्याय है ?

हाँ, यदि बृजभाषा और होती और खड़ी बोली और होती तो कविता न होने से निश्चय हिंदी का 'भाग्य दोष' अथवा 'कलंक' था; पर जब कि यह बात लाखों कोस नहीं है तो नागरी देवी का यही परम सौभाग्य और महद्यश समझना चाहिए कि वे दुनिया भर की सभ्य भाषाओं से इतनी अधिक श्रेष्ठता रखती हैं कि गद्य के समय और रूप तथा पद्य के अवसर पर अन्य छटा दिखला सकती हैं ।

फिर हम नहीं जानते वे कैसे हिंदी के हितैषी हैं जो अपनी आदरणीया मातृभाषा को सभी काल में उसके स्वभाव के विरुद्ध खड़े ही रखने का हठ करते रहते हैं । संगीतवेत्ता अनेक स्थल पर यदि 'मृदंग' शब्द को 'मृदौंग' न कहैं तो स्वर की पूर्णता नहीं होती । इसमें व्याकरणियों का शब्दशुद्धि विषयक आग्रह करना व्यर्थ है । यों ही कवि लोग यदि अवसर पड़ने पर माधुर्य एवं लावन्य के अनुरोध से शब्दों में कुछ परिवर्तन न करें तो निरसता कानों और प्रानों में खटकने लगती है । इस बात के जाने बिना केवल गद्य लेखकों का तर्क वितर्क उठाना निरा भ्रम है ।

खं० 7, सं० 11 (15 जून, ह० सं० 7)

बज्रमूर्ख

यह पदवी बहुधा उन लोगों को दी जाती है जो पढ़ने के नाम काला अक्षर भैंस बराबर समझते हैं, बरंच बुद्धि से काम लें तो इतना और समझ सकते हैं कि भैंस इतनी बड़ी होती है कि जी में धरे तो हजारों लाखों काले अक्षरवाली पोथियों को घड़ी भर में रौंद 2 अथवा चबा के फेंक दे और अक्षरों का घमंड रखने वाले पोथाधारी जी को एक हुसलेंड में मट्टी में न मिला दे तो अधमरा जरूर कर डाले ! यदि गुणों की तुलना की जाय तो भैंस घास खाती है और दूध देती है जिसका सेवन करने से स्वादु का स्वादु मिलता है, बल का बल बढ़ता है पर अक्षरों के सीखने वाले बरसों परिश्रम करते 2 दुबले हो जाते हैं, गुरु महाराज की बातें कुबातें और मार सहते 2 मरदई का दावा खो बैठते हैं तथा जन्म भर पूजा पाठ करने, कथा बारता बाँचने वा नौकरी चाकरी के लिये भटकते रहने के सिवा और किसी काम के नहीं रहते । फिर भला हमारी प्यारी भैंस की बराबरी मच्छर ऐसे अच्छर पच्छर क्या कर सकेंगे !

ऐसे लोगों को विश्वास होता है कि बहुत पढ़ने से मनई बैलाय जात है ! पढ़े लिखे ते लरिका मेहरा हो जात है ! हमका पढ़ि कै का पंडिताई करै का है ? हमरी जाति माँ पढ़बु फलतै नाहीं ना ! ऐसे को विद्वानों और बुद्धिमानों के पास बैठने तथा उनके कथोपकथन सुनने समझने आदि का समय एक तो मिलता ही नहीं है और यदि मिले भी तो पंडितराज अथवा बाबू साहब को क्या पड़ी है कि अपने अमूल्य बिचार इनके सामने प्रगट करके अंधे के आगे रोवैं अपने दीदे खोवैं ।

उपदेश करना तो दूर रहा इनके मोंगरी के से कूटै मोटे ताजे अनगढ़ शरीर और बस्त्राभरण के नाते एक छोटी सी मोटे कपड़े की मैली अथवा हिरमिजी से रँगी हुई धोती और लंबा सा मोटा लट्ठ देखकर तथा बात 2 में सार ससुर इत्यादि शब्दों का सम्पुट पाठ सुनकर प्रीतिपूर्ण बातें तक करना वे अपनी शान के बईद समझते हैं । किंतु बिचार कर देखिए तो यह लोग मूर्ख भी नहीं कहे जा सकते बज्रमूर्ख तो कहाँ रहता है, क्योंकि अपने खेती किसानी आदि के काम पूरे परिश्रम और धैर्य के साथ करते हैं, यथा लाभ संतोष सुख का सच्चा उदाहरण बने रहते हैं, अपनी दशा के अनुसार कालक्षेप और अपनी जाति की रीति भाँति का निर्वाह तथा सजातीय मान्य पुरुषों का यथोचित सम्मान करने में चूकते नहीं हैं, जिससे व्यवहार रखते हैं उसकी यथासाध्य एक कौड़ी तक रख लेने का मानस नहीं रखते, राजा और राजपुरुषों के गुण दोषों की समालोचना न करके उनकी आज्ञा पालन करने में चाहे जैसा कष्ट और हानि सहनी पड़े कभी मुँह नहीं मोड़ते बरंच शिकायत का हर्फ भी जबान पर बहुत कम लाते हैं । मन का मसूसा मन ही में मारे हुए "राजा करे सो न्याव है" इस बचन को वेदवाक्य से समझे रहते हैं ।

जिससे मित्रता करते हैं वा जिसे शरण देते हैं उसके रक्षणार्थ अपने मरने जीने की चिंता नहीं रखते । जिन बातों को धर्म समझते हैं उनमें पूर्ण रूप से दृढ़ रहते हैं । जो बात उनकी समझ में अच्छी जँचा दीजिए कैसे तन मन धन प्रान पन से कटिबद्ध हो जाते हैं । फिर यह मूर्ख क्यों हैं ? पढ़े नहीं हैं तो न सही पर अपना भला बुरा समझने और देश काल के अनुसार चलने में किसी पढ़ुआ से कम नहीं बरुक सैकड़ों कपटी, कामी, चोर और उलटी समझ वाले विद्याभिमानियों से हजार दरजे अच्छे हैं । अतः इन्हें मूर्ख कहै सो मूर्ख । देशोद्धार के लिए जो बातें वस्तुतः परमावश्यक हैं वे यदि इनके मध्य प्रचार की जायँ तो वह फल निकले जो शहर के लाला भैयों को शिक्षा देते 2 सात जन्म नहीं

निकल सकता ।

हमारे इस वाक्य में जिसे संदेह हो वह स्वयं परीक्षा कर देखे फिर देख लेगा कि यह कदापि मूर्ख नहीं है । मूर्ख, बरंच बज्रमूर्ख, वास्तव में वह हैं जिन्होंने बरसों बड़ी 2 किताबें रटते 2 मास्टर का दिमाग, बाप की कमाई और अपना बालविनोद स्वाहा कर दिया है और नाम के आगे पीछे ए०बी०सी०डी० भर का छोटा वा बड़ा पुछल्ला लगवा लिया है, पर परिणाम यह दिखलाया है कि हिंदी का अक्षर नहीं जानते, पर इतना अवश्य जानते हैं कि वेदशास्त्र पुराणादि का वाहियात, जंगली असभ्यों के गीत, झूठी कहानी हैं । ईश्वर धर्म एवं परलोक सब बेउकूफों की गढ़ंत हैं । अथवा कुछ हैं भी तो कब ? जब कोई यूरप अमेरिका के महात्मा श्री सुख से आज्ञा करें तब । क्योंकि हिंदुस्तान तो अगले जमाने में बनमानुसों की बस्ती थी और अब भी हाफ सिबिलाइज्ड मुल्क है, इसमें मानने लायक मजेदार बातें कहाँ ?

भोजन देखिए तो सात समुद्र पार से आया हुवा, महीनों का सड़ा हुवा, जाति कुजाति का छुआ हुवा, जूठे बरतनों में रक्खा हुवा, खज्ज अखज्ज सो तो चौगुने दामों पर भी सस्ता औ स्वादिष्ट है परंतु खीर, पूरी, लड्डू, कचौड़ी, रबड़ी, रायता आदि शायद मुँह से छू जायँ तो पेट फाड़ डालें । ताजा मांस अच्छी तरह घी और मसाला देकर घर बनाया जाय तो बुरा न बनेगा पर सड़े हुए मछलियों के अचार का मजा सा कहाँ । अंगूर, मुनक्का आदि का आयुर्वेद की रीति के अनुसार खींचा हुवा आसव नशे में भी अच्छा होगा और पुष्टिकारक भी होगा । किंतु वह टेस्ट कहाँ जो खानसामा की दी हुई, साहब बहादुर के द्वारा प्रसादी की हुई, साढ़े तीन रुपए की बोतल भर ली हुई सोने की सी रँगी हुई ब्रांडी में मिलता हैं ।

परमेश्वर केन साहब का भला करे जिन्होंने यह छूत मिटाने पर कमर कसी है, नहीं तो मनु, पराशर, व्यास, बालमीकि आदि जंगलियों को कौन सुनने वाला था । यह कौन देखने वाला था कि यही सभ्यता की जनमघुट्टी, धन, बल, धर्म, प्रतिष्ठा, लज्जा बरंच प्राण तक की हरनेहारी है । भेष की ओर दृष्टि कीजिए तो बाजे 2 अँगरेज तो कभी 2 मुरादाबादी चारखाना और भागलपुर टसर भी पहिन लेते हैं पर हमारे जेण्टिलमेन के शिर पाँव तक एक तार भी देशी सूत का निकल आवै तो क्या मजाल । कोट, बूट, पतलून, घड़ी, छड़ी, लंप, कुरसी, मेज जो देखो सो विलायती । देशी केवल चेहरे का रंग मात्र, उसमें भी विलायती साबुन और चुरुट की बू भरी हुई । केवल नाम से हारे हैं विचारे । बाप ने किसी देवता का दास, प्रसादादि बना दिया है, सो भी जहाँ तक हो सकता है वहाँ तक बिधु भूषण को B.B. और देवदत्त को D.D. इत्यादि बना के अपने ढंग का कर लेते हैं । कहाँ तक कहिए, दिमाग में विलायती हवा यहाँ तक समाई है कि कठिन रोगों को शीघ्र आराम करने वाली थोड़े दाम की आजमाई हुई दवा तक नापसंद, पर देश सुधारने का बीड़ा उठाए हुए हैं, सो भी किस रीति से, जाति पाँति का भेद मिटा के, देवता पितरों की पूजा हटा के सनातनाचार को रसातल पहुँचा के, पुरुषों का धर्म कर्म और स्त्रियों की लाज शर्म धूल में मिला के, प्रजा का स्वत्व हर के, राजकर्मचारियों को रुष्ट करके, सचमुच किसी काम के न होने पर भी नामवरी पर मरके, भारत की आरत दशा गारत करेंगे । क्यों नहीं कुल्हिया की ऐनक लगा के मट्टी के तेल की रोशनी में महीन अक्षरों की किताबें पढ़ते 2 निगाह तेज हो गई है, इससे सूझती बहुत दूर की है ! और समुद्र पार जाते 2 बुद्धि में कुछ 2 हनोमान जी के स्वाभाविक लक्षण आ गए हैं, अस्मात् सोचते हैं तो वही सोचते हैं जिसके द्वारा आर्य देश के प्राचीन रंग ढंग का

लेश न रह जाय । जहाँ तक दृष्टि पहुँचे नई चाल ढाल वाली नई ही सृष्टि दिखलाई दे ।

भला उस दशा में उन्नति क्या धूल होगी ? हाँ काले रंग वाले साहब लोग बढ़ जायेंगे । उसी को चाहे इंडिया का प्रोग्रेस कह लीजिए पर है वास्तव में सत्यानाश की जड़ । किंतु यार लोग उसी के सोचने में लगे हुए हैं । इसी से हम नहीं जानते कि बज्रमूर्ख के सिवा इन्हें किस नाम से पुकारें । इनसे छोटे और दिहाती कुपड्ढों से बड़े हमारे वह भाई हैं जिन्हें बिलायती हवा अभी नहीं लगी । काल की गति के देखे कुछ आर्यत्व की श्रद्धा बनी हुई है । नई बातों से चौंकते हैं, पुराने ढर्रे पर यथा शक्ति चले जाते हैं । पर आँखें खोलकर देखिए तो वह भी ऐसे ही हैं कि सारी रामायण सुन डाली पर यह न जाना कि राम राक्षस थे कि रावण राक्षस थे ।

रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत इत्यादि निसंदेह ऐसे ग्रंथ हैं कि उनमें हमें धार्मिक, सामाजिक, व्यवहारिक, राजनीतिक सभी प्रकार के उपदेश प्राप्त हो सकते हैं । उनमें से यदि हम दस पाँच बातों का भी दृढ़तापूर्वक अनुसरण करें तो लोक में सुख, सुयश एवं परलोक में सुगति के भागी हो सकते हैं और हमारे पूर्वजों ने इसी मनसा से इनके सुनने सुनाने की प्रथा चलाई थी कि जो लोग संस्कृत भली भाँति नहीं समझते अथवा काम धंधों के मारे पुस्तकावलोकन का समय नहीं पाते वे कभी 2 वा नित्य 2 घंटे आध घंटे इन सदग्रंथों को सुना करेंगे तो कुछ न कुछ 'लोक लाहु परलोक निबाहू' के योग्य बने रहेंगे । पर आजकल देश के अभाग्य से इनके सुनने वाले यदि सुन नहीं डालने अर्थात् सुन के डाल नहीं देते तो भी इतना ही सुन लेते हैं कि आज के लड़के दशरथ थे, उनके बेटे राम लक्ष्मण भरत शत्रुघ्न थे । रामचंद्र जी का ब्याह जनक जी की कन्या सीता जी से हुआ था । उन्हें दश शिर वाला रावण हर ले गया तब रामजी ने सुग्रीवादि बंदरों की सेना के साथ समुद्र में पुल बाँध के लंका पर चढ़ाई की और रावण को मार के जानकी छीन लाए । बस, बोलो सियावर रामचंद्र की जय !

बसुदेव जी के पुत्र श्री कृष्णचंद्र थे । उन्होंने लड़कपन में नंद बाबा के यहाँ पल के गौएँ चराई थीं । गोपियों से बिहार किया था । गोबर्द्धन पर्वत उठाया था । फिर मथुरा में आ के मामा कंस को मार के उसके पिता उग्रसेन को राज्य दिया था । फिर जरासंध से भाग के द्वारिका बसाई थी । सोलह हजार एक सौ आठ ब्याह किये थे । बहुत से राक्षसों को मारा था । अपनी बुआ के लड़के युधिष्ठिरादि को उनके चचेरे भाई दुर्योधनादि से उबारा था । फिर एक बहेलिए के बाण से परम धाम को चले गये । बस, बोलो नंदनंदन बिहारी की जय !

जो इनसे भी बड़े श्रोता हैं, जिन्होंने कई बार कथा सुनी है, वे इतनी जानकारी पर मरे धरे हैं वा हिंदू धर्म की नाक बचाए हैं अथवा बैकुंठ में घर बनाए बैठे हैं कि 'हँसे राम सीता तन हेरी' यों कहे ? लछिमन केती के काहे न हेरेनि ? 'जो सत संकर करैं सहाई । तदपि हतौं रघुवीर दुहाई' लछिमन जी यों कहेनि तौ कैसे कहेनि ? अक्रूर के बाप का का नाँव रहै ? राधा जी ब्याही केहेका रहैं ? हाय री बुद्धि !

क्या बालमीकि और व्यासादि लोकोपकारी महात्माओं ने वर्षों परिश्रम करके यह दिव्य ग्रंथ केवल कहानी की भाँति सुन भागने के और आपस में बैठ के कनपटिहाव करने के लिए बनाए थे ? यदि यों ही हैं तो अलिफलैला के किस्से क्या बुरे हैं जिनसे अवकाश का समय भी कट जाता है और किसी धर्म के किसी मान्य पात्र की हँसी भी नहीं होती ? किंतु हमारे बक्ता श्रोताओं ने हमारे परम देव कृष्णादि

की यह प्रतिष्ठा बढ़ा रक्खी है कि मिशन स्कूल के लौंडे तक उनके चरित्रों पर हँस देने का साहस कर बैठते हैं और भगतजी को जवाब नहीं सूझता।

वही यदि भगवान रामचंद्र जी की गुरुभक्ति, महाराज दशरथ जी की धार्मिकता, लक्ष्मण और भरत जी की भ्रातृभक्ति, सीता जी की पतिभक्ति, कौशल्या जी का धैर्य, श्रीकृष्ण भगवान की कार्यकुशलता, श्रीगोपी जन की प्रेमदृढ़ता, यशोदा मैया का बात्सल्यभाव, कर्ण का दानबीरत्व, भीष्मपितामह का धीरत्व, बशिष्ठ विश्वामित्रादि के सदुपदेश, रावण कंसादि की उद्दंडता इत्यादि पर ध्यान देते जो उक्त ग्रंथों में पूर्ण रूप से दर्शाई गई हैं और भलाई बुराई की पराकाष्ठा दिखलाने को अद्वितीय दिव्य दर्पण के समान दिव्यमान हैं, उन्हें मन की आँखों से केवल देख भी लेते तो क्या हमारी भीतरी तथा बाहरी दशा ऐसी ही बनी रहती जैसी आज दिन देखने में आती है ? कदापि नहीं ! मनु भगवान की आशा है कि—"श्रुत्वा धर्मविजानाति श्रुत्वा त्यजति दुर्मतिम्। श्रुत्वा ज्ञानमवाप्नोति श्रुत्वा मोक्षमवाप्नुयात्॥" और इसमें कोई भी संदेह नहीं है कि रामायण भागवत तथा भारत से बढ़ के सुनने योग्य पदार्थ अथच वास्तविक सन्मार्ग प्रदर्शक दिव्यदीपो न भूतो न भविष्यति। पर कोई सुने तब न ! सुनने वाले तो केवल कहानी सुनते हैं।

हाँ, गीत और योगवासिष्ठादि सुनने वाले भगवतादि के श्रोताओं की अपेक्षा कुछ अधिक मनोयोग से सुनते हैं। पर सुन के समझते क्या हैं ? अहम्ब्रह्मास्मि ! वाह ! घंटे भर खाने को न मिले तो आँखें बैठ जायँ, एक पैसे का नुकसान होता हो तो सारी गंगा पैर जायँ, कानिस्टिबिल की डाँट में मुँह से तमाखू गिर पड़े, पर आप ब्रह्म हैं ! निर्विकार, निराकार, अकर्ता, अभोक्ता ब्रह्म हैं ! बेशक ब्रह्म हैं क्योंकि 'खं ब्रह्म' वेद में लिखा है और आप भी आकाश की भाँति शून्य हृदय हैं, फिर ब्रह्म होने में क्या संदेह ! ऐसा न होता तो इतना अवश्य सोचते कि वशिष्ठ जी ने श्रीरामचंद्र को और श्रीकृष्णचंद्र जी ने अर्जुन को वह उपदेश उस समय दिए थे जब उन्हें सामयिक कर्तव्यपालन से विमुख देखा था। तात्पर्य यह है कि जिस समय जो काम जिसे अवश्य करणीय हो उस समय वह उसे अवश्यमेव करना चाहिए। पर आप अपने देश, जाति, गृह, कुटुंबादि की दशा देखने और सुधारने के अवसर पर अकर्ता अभोक्ता बनते हैं, फिर क्यों न कहिए कि आप ब्रह्म अर्थात् जड़ हैं जिसका प्रजाय ब्रजमूर्ख भी है ! और आप ही के भाई (अरे राम ! ब्रह्म के भाई भगिनी आदि कहाँ ? सो सही पर देख भाई तौ भी) वह हैं जो दूसरे भाइयों में जातिपक्ष, जातीय गौरव, आत्महितादि दिव्य गुण एवं तज्जनित मधुर फल प्रत्यक्ष देखते हैं तौ भी सीखने के नाम नहीं लेते। एक माड़वारी भाई पर, परमेश्वर न करे, कोई आपदा आ पड़े तो सब कोई छूँ 2 कर 2 काँव भाँव कर करा के जैसे बने वैसे सँभाल लें पर कोई पश्चिमोत्तर देशी किसी दैहिक, दैविक, भौतिक दुरवस्था में फँसा हो तो उसके स्वदेशी 'बहते को बहि जान दे दे धक्के दुइ और' वाला मंत्र यदि न पढ़ें तद्यपि इतना अवश्य कहेंगे 'भाई हम क्या करें ? जो जस करै सो तस फल चाखा'।

कायस्थ भाई अपने विद्याहीन धनहीन सजाती को मुंशी जी, दीवान जी इत्यादि कह के पुकारेंगे। बंगाली भाई अपने देशवासी को चटरजी महाशाय, बनुरजी महाशाय कहेंगे। पर हमारे हिंदू दास अपने लोगों को यदि मिसिर वा सुकुलवा आदि न बनावैंगे तौ भी गंगाप्रसाद को गंगू काका और मूलचंद को मूल्लू दादा की पदवी दिए बिना न मानेंगे। एक तमाखू वाले अथवा बिसाती की दुकान पर जा के देखिए तो छोटे से एक टरे में दस पाँच चिलमों, दो तीन मट्टी के पिंडों और थोड़ी सी खानी पीनी

तमाखू तथा पंद्रह बीस दियासलाई बकसों, सूत की लटाइयों आदि के सिवा अधिक बिभूति न देख पड़ेगी ।

बेचने वाला भी फटी मैली सुथनिया वा नील का अंगौछा पहिने बैठा होगा पर साइनबोर्ड पढ़िए तो 'शेख हाजी मुहम्मद कल्लन तम्वाकू फरोश' अवश्य लिखा पाइएगा किंतु उसके पड़ोस ही किसी बनिया राम की दुकान पर दृष्टि कीजिए तो भीतर कम से कम पाव भर केसर, सेर भर छोटी इलायची, पसेरी भर कपूर निकलेगा जो तमाखू और सूई पेचक से दसगुने बिसगुने दामों का है पर नाम वाली तखती पर 'छक्कू वल्द भग्गी पसारी' किसी मेले ठेले वा नाच वाच में इन छक्कू और उन कल्लन को कोई देखे तो लाख विश्वा यही जानेगा कि वह कोई अमीर, रईस, नव्वाब के संबंधी हैं और यह कोई डंडिदार वा पल्लेदार होगा !

यही नहीं कि अपनी और अपनायत वालों की प्रतिष्ठा ही करने में बछिया के बाबा हों, नहीं, अपने तथा आत्मीयों की स्वास्थ्य रक्षा में भी प्रक्षाचक्षु हैं । स्त्री के पास गहना दो चार सौ का होगा पर उसकी थाली पर घी शायद पोंछे पाछे धेला पैसा भर निकल आवै । लड़के के ब्याह में कम से कम सौ रुपए की आतशबाजी फुँकेगी पर उसी को कोई रोग हो जाय तो बैद्यराज वही बुलाए जायँगे जो दवा देते रहें, दोनों बखत भी जाया करैं पर भेंट और दाम माँगने के समय काका बाबा इत्यादि शब्दों ही से संतुष्ट हो जायँ ! ऐसे ही ऐसे लक्षणों से घर भर के लोग हजार हजार हाथी का बल रखते हैं और शिर में पीड़ा होती है तौ भी खैराती असपताल को दौड़ते हैं । पर यदि कोई दूसरा मनुष्य अपने रोग की कथा कहै तौ भी झट सोंठ, मिर्च, पीपर बतला देंगे और अश्विनीकुमार की भाँति आशीर्वाद दे देंगे कि—बस तीन दिन में आराम हो जायँगे ।

भला इस प्रकार के आचरण, ओ अपना पराया दोनों का सत्यानाश करने में रामबाण हैं, जिन लोगों की नस-नस में भर रहे हों उन्हें कौन बज्रमूर्ख न कहेगा ? यदि यह बज्रमूर्ख न हों तो हम बीसौ विश्वा बज्रमूर्ख हैं जो ऐसों के लिए हाव 2 करते हैं जिन्हें हमारी बातें बज्रमूर्ख की बकवास का सा मजा भी नहीं देतीं ! अथवा कौन जाने वह बज्रमूर्ख हो जिसने हमें ऐसी सनक से भर दिया है !

खं० 8, सं० 2-3 (30 सितंबर-अक्टूबर, ह० सं० 7)

रसिक समाज

भाषा की उन्नति के बिना देश की उन्नति सर्वथा असंभव है और हमारी भाषा हिंदी है तथा हिंदी इस बात में अन्य भाषाओं से अधिक श्रेष्ठ है कि एक ही रूप से गद्य और पद्य दोनों का काम नहीं चलाती किंतु गद्य के मैदान में अनवरुद्ध गति से तीक्ष्ण खड्ग की भाँति और पद्य की रंगभूमि में मनोहारिणी चाल से नाट्यकुशला सुंदरी की नाईं चलने की सामर्थ्य रखती है । इन उपर्युक्त बातों में किसी सहृदय

विचारशील को संदेह नहीं है । यों शास्त्रार्थ के लिए कोई विषय उठा लेने और न्याय अथवा हठ का अवलंबन करके अपनी बुद्धिमत्ता दिखलाने के लिए सभी को अधिकार है ।

हमारे इस कथन से जो महाशय सहमति रखते हैं वे यह बात अवश्य ही मान लेंगे कि देश के सुधारने की पहिली सीढ़ी सर्वसाधारण के मध्य देश भाषा की रुचि उपजाना है और किसी समुदाय की रुचि सहज तथा उन्हीं बातों में उपजा सकती है जिन्हें उस समूह का अधिकांश मनोविनोद के योग्य समझता हो । इस सिद्धांत को सामने रखकर विचार कीजिए तो विदित हो जायगा कि संगीत, साहित्य और सौंदर्य के सिवा और किसी वस्तु में मन को आकर्षण करके आनंदपूर्ण कर रखने की शक्ति नहीं है ।

परमयोगी अथवा निरे पशु के अतिरिक्त सभी इन पदार्थों को स्वादुदायक समझते हैं । फिर यदि इन्हीं के द्वारा भाषा के प्रचार की आशा की जाय तो क्या अनुचित होगा ? किंतु सौंदर्य एवं संगीत से काम लेना वर्तमान समय में महा कठिन है । सुयोग्य अथच उपयुक्त पुरुष जितने चाहिएँ उतने सहज में नहीं मिल सकते । यदि मिलें भी तो उनके लिए बहुत सा धन और वर्षों का समय चाहिए । उसका आज ठिकाना कहाँ है । यों यथासामर्थ्य उद्योग सबको सब बातों के लिए सदा करते रहना उचित है । पर कठिन बातें कष्टसाध्य होने की दशा में सहज उपाय का छोड़ देना बुद्धिमानी के विरुद्ध हैं ।

इस न्याय के अनुसार चतुर देशभक्तों को आज दिन साहित्य का अवलंबन करना अत्युचित है । क्योंकि इसमें बहुत व्यय की आवश्यकता नहीं हैं और सुलेखक तथा सत्कवि भी यद्यपि इस देश में बहुसंख्यक नहीं हैं तथापि इतने अवश्य हैं कि एतद्विषयक कार्य में भलीभाँति सहारा दे सकें एवं संगीतवेत्ताओं की अपेक्षा इनकी संख्या का बढ़ना भी सहजतया अथच शीघ्र संभव है और इनके द्वारा सर्वसाधारण में हिंदी की रुचि उत्पन्न होना वा यों कहो कि एक बड़े भारी जन समूह का सर्वांगिनी उन्नति के ढर्रे पर चल निकलना कष्टसाध्य तो हुई किंतु असाध्य कदापि नहीं है । यही विचार कर हमारे कई एक मित्रों ने यहाँ पर एक 'रसिक समाज' स्थापित किया है जिसका उद्देश्य केवल भाषा का प्रचार और साधु रीति से सभासदों का चित्त प्रसन्न रखना मात्र है क्योंकि बड़े 2 झगड़े उठा लेने वाली सभाओं की दशा कई बार देख ली गई है कि या तो थोड़े ही दिन में समाप्त हो जाती हैं या बनी भी रहती हैं तो न रहने के बराबर और अपना मंतब्य बहुधा अपने सभ्यों से भी यथेच्छ रूप से नहीं मनवा सकतीं ।

इससे इनके संचालकों ने केवल इतना ही मात्र अपना कर्तव्य समझा है कि नए और पुराने उत्तमोत्तम गद्य तथा पद्य सभासदों अथच आगंतुकों के मध्य पढ़ने पढ़ाने की चर्चा बनाए रखना तथा यथा संभव निकट एवं दूर तक इसी प्रकार की चर्चा फैलाते रहना । इसके सभासद केवल वही लोग हो सकते हैं जो हिंदी में रोचक लेख लिख सकते हों वा कविता कर सकते हों अथवा इन्हीं दोनों बातों में से एक वा दोनों सीखने की रुचि रखते हों वा अपने तथा मित्रों के मनोविनोद का हेतु समझते हों ।

इसमें मौखिक वा लेखनीबद्ध व्याख्यान अथवा काव्य मुख्यरूपेण केवल हिंदी की होगी किंतु सर्वथा मान्य एवं सर्व भाषा शिरोमणि होने के कारण संस्कृत की भी शिरोधार्य मानी जायगी और उर्दू केवल उस दशा में ली जायगी जबकि व्याख्यानदाता हिंदी में गद्य अथवा पद्य न कह सकते हों किंतु हों देश, जाति, भाषा व सभा के शुभचिंतक और सभासदों की बहु सम्मति द्वारा अनुमोदित, बस । और किसी भाषा से सभा को कुछ प्रयोजन न रहेगा । मत मतांतर का खंडन मंडन करके आपस में वैमनस्य बढ़ाना, समाज के उन विषयों का विरोध करके देश भाइयों को चिढ़ाना जिनको बहुत से लोग

आग्रहपूर्वक ग्रहण किए हुए हैं और पोलिटिकल (राजनैतिक) बातों में योग दे के अधिकारियों को व्यर्थ रुष्ट करना सभा को सर्वदा अश्रद्धेय होगा क्योंकि इन बातों में बड़ी मुड़ धुन और बड़े व्यय से भी बहुधा फल उलटा ही निकलता है अथवा मनोरथ सफल भी होता है तो बहुत ही स्वल्प । संभ्य जन को चंदा किसी प्रकार का न देना पड़ेगा क्योंकि बीसयों बार देखा गया है कि बड़े 2 धनिकों से भी प्रसन्नतापूर्वक सरल भाव से थोड़ा सा धन भी प्राप्त होने में कठिनता पड़ती है । इस सभा ने इसका नियम ही नहीं रक्खा ।

हाँ, सभा के द्वारा प्रकाशित पुस्तकें जो लोग लेना चाहेंगे उन्हें उनका मूल्य देना होगा जिसका परिमाण वर्ष भर में एक रुपए से अधिक न होगा । यों अपने उत्साह से जो सज्जन तन, मन, धन अथवा वचन द्वारा सभा की सहायता करना चाहें व पुस्तकों के अधिक प्रचार में योग देना चाहें वे दे सकते हैं ।

इसके लिए उनका गुण अवश्य माना जायगा । किंतु बंधन वाली बात कोई नहीं है । यदि इतने पर भी हमारे देशहितैषीगण जी खोल के सभा का साथ न दें तो लाचारी है । हम तो चाहते हैं कि नगर 2 ग्राम 2 में ऐसी सभाएँ संस्थापित हों और प्रत्येक सभा समस्त सभाओं को अपना ही अंग समझे । क्योंकि थोड़े व्यय और थोड़े से परिश्रम के द्वारा हँसते खेलते हुए साधारण जन समुदाय में सहृदयता के लाने का यह बहुत अच्छा उपाय है जिससे हिंदुओं में हिंदी की रुचि सहज रीति से बढ़ सकती है जो हिंद की वास्तविक उन्नति के लिए अत्यंत प्रयोजनीय है । क्या हमारे आर्य कवि एवं सुलेखक तथा संपादक वर्ग इधर ध्यान देंगे ?

कानपुर में इस सभा का आविर्भाव बहुत थोड़े दिन से हुआ है । पहिला अधिवेशन श्रावण कृष्ण 13 रविवार को हुआ था जिसमें केवल सात सभासद और बहुत थोड़े से दर्शक उपस्थित थे और स्वल्पारंभ को उत्तम समझकर लोगों के सुभीते के लिए पंद्रह दिन में एक बार अर्थात् एक इतवार छोड़ के दूसरे इतवार को सभ्यगण का समागम निश्चित हुआ था । पर दूसरे ही अधिवेशन में संतोषदायक उत्साह देखने में आया एवं दिन पर दिन परमेश्वर की दया से वृद्धि होती जाती है जिससे आशा होती है कि यदि नगरांतरवासी सहृदयों ने भी योग दिया (अपना समझेंगे तो अवश्यमेव देंगे) और कोई विघ्न न आ पड़ा तो थोड़े ही दिन में बहुत कुछ हो रहेगा ।

इसके सभासद एक त्रैमासिक पुस्तक भी प्रकाश करना चाहते हैं जिसमें कविता अधिक रहेगी । क्योंकि गद्य का कार्य कई एक पत्र उत्तमता से कर ही रहे हैं । अतः अधिक आवश्यकता इसी की है । सो 'रसिक बाटिका' नामक पुस्तक की पहिली क्यारी (अंक) छप भी चुकी है । मूल्य चार आना है । यदि हिंदी के प्रेमियों ने इसे सींचने में उत्साह दिखलाया तो बहुत शीघ्र इसके मधुर फलों से भारत के सर्वांग को वह पुष्टि प्राप्त होगी जिसकी बहुत से सद्व्यक्तियों को उत्कंठा है । जो रसिक महोदय रसिक बाटिका की सैर करना अथवा रसिक समाज से संबंध रखना चाहें उन्हें सेक्रेटरी रसिक समाज कानपुर के नाम कृपापत्र भेजना चाहिए ।

खं० 8, सं० 2-3 (30 सितंबर-अक्टूबर, ह० सं० 7)

विश्वास

यूरोप की विद्या सभ्यता और सिद्धांतों को जन्म लिए अभी बहुत दिन नहीं हुए तथा आज भी इन बातों का कोई अंग पूर्णता तक नहीं पहुँच चुका। इससे जो लोग केवल उन्हीं का आश्रय ले बैठते हैं, भारतीय फिलासफी की ओर ध्यान नहीं देते, वे बहुधा भूल ही में पड़े रह जाते हैं। इस बात का प्रमाण जिधर देखिए उधर मिल सकता है।

नित्य के व्यवहारों में, स्नान भोजन वस्त्र धारणादि एवं स्वास्थ्यरक्षार्थ औषध इत्यादि छोटे 2 विषयों तक में यदि आर्य रीति का यथोचित अवलम्बन कर देखिए तो विदित हो जायगा कि पश्चिमीय बातों की अपेक्षा कितने स्वल्प व्यय में, कितना अधिक और दृढ़ स्थायी गुण देखने में आता है कि यदि एतद्देशीय बातों से स्वाभाविकीय घृणा हो अथवा अभ्यास ने जाति स्वभाव के अंश तक पहुँच के एवं मन को पूर्ण रूप से सात समुद्र पार के रंग ढंग का बना डाला हो तौ बात ही न्यारी है नहीं तो भारत के जलवायु के साथ जितनी स्वाभाविकीय अनुकूलता हमारे ऋषियों के बतलाए हुए सांसारिक अथच परमार्थिक नियमों की है उतनी विदेशीय नियमों की कभी हो नहीं सकती।

इसी मूल पर हमारी सी तबीयत वालों ने दृढ़ निश्चय कर लिया है, और यदि कोई इस निश्चय के विरुद्ध अपनी विज्ञता सिद्ध करना चाहै तो भली भाँति पुष्ट प्रमाणों से प्रमाणित कर सकते हैं कि हमारे लोक परलोक संबंधी सुख सुविधा सौभाग्य केवल प्राचीन लोगों के द्वारा कथित रीति नीति पर निर्भर है। उन्हीं का अनुकरण करके हम अपना प्रकृत मंगल साधन कर सकते हैं और जिस विषय के जितने अंश में उनका विरोध अथवा उपेक्षा करेंगे उतनी ही वास्तविक हानि होगी! इसमें भी जो बातें आत्मा से संबंध रखती हैं यथा धर्म प्रेम ज्ञान वैराग्य ध्यान धारणा इत्यादि उनके विषय में तो हम सच्चे और उचित अहंकार के साथ कहेंगे कि दूसरों को उनका तत्व समझना ही कठिन है, अनुभव की तो बात ही जाने दीजिए। यदि ऐसा न होता तो आज कल का शिक्षित समुदाय विश्वास ऐसे दिव्य गुण से कदापि बंचित न रहता।

विचार कर देखिए तो ऐहिक और पारलौकिक मनोरथों की सिद्धि विशेषतया इसी दैवीय शक्ति के आधीन है जिसे विश्वास कहते हैं। पर इस काल के विद्याभिमानी लोगों को इसकी शिक्षा नहीं प्राप्त हुई। विश्वास क्या है, किसमें क्यों कर करना चाहिए और उसके करने से क्या होता है, यह बात कुछ हमारे ही पूर्व पुरुष समझ समझा सकते थे। और जिन लोगों के हृदय से इसका भाव पछाही हवा पूर्णरूपेण उड़ा नहीं ले गई, देश काल की दशा के अनुसार जिनकी मनोवृत्ति में अद्यापि थोड़ा बहुत आर्यत्व बना हुवा है, वे इसके अकथनीय स्यादु से नितांत अनभिज्ञ नहीं हैं। किंतु जिनके मन बचन और कर्म लड़कपन ही से अँगरेजी रंग ढंग का अभ्यास करते रहते हैं और होते 2 आज उस अभ्यास ने जाति स्वभाव का रूप धारण कर लिया है वे विश्वास को यदि जानते भी हैं तो इतना ही मात्र जानते हैं कि पुराने असभ्य अथच अशिक्षित लोगों में जहाँ और अनेक पागलपन की तरंगें थीं वहाँ उन्हीं के अंतर्गत एक यह भी थी। पर ऐसा समझना हमारे बाबू साहब और साहब बहादुर की निरी नासमझी है, नहीं तो विश्वास वास्तव में वह गुण है कि यदि हम यथोचित रीति से उसे काम में लावें तो कहीं कभी कुछ भी हमारे लिए असाध्य न रह जाय। महात्मा मसीह ने अपने शिष्यों को एक बार उपदेश दिया

था कि यदि तुममें से किसी को अणुमात्र भी विश्वास हो और वह (विश्वासी) चाहे कि पर्वत इस ओर से उस ओर फिर जाय तो फिर जायगा ।

इसी मूल पर एक दिन एक पादरी साहब से एक मौलबी साहब ने प्रश्न किया कि आपको खुदा और हजरत ईसा और इंजील पर एतिकाद है या नहीं । अगर है तो इंजील की तहरीर के बमूजिब मिहरबानी करके इस दरख्त (सामने वाले वृक्ष) को हटा दीजिए नहीं तो हम समझेंगे कि आपको अपने मजहब पर एतिकाद जर्रा भर भी नहीं है, यों ही दूसरों को नसीहत करते फिरते हो । इसके उत्तर में पादरी साहब ने उस समय यह कहकर पीछा छुड़ाया कि 'हमको विश्वास बेशक है, और बाइबिल में जो कुछ लिखा है वह भी सच है पर वह ताकत सिर्फ उन्हीं लोगों के लिए थी जो हजरत ईसा के वक्त में जिंदा थे ।'

हमारी समझ में पादरी साहब का यह कथन केवल उस समय का झगड़ा बरका देने के लिए था, नहीं तो ईश्वरीय सामर्थ्य में कभी निर्बलता नहीं हो सकती । ईश्वर जो ईसा के समय में था वही आज भी बना हुआ है । वह अपने विश्वासियों की मनःकामना पूर्ण करने के लिए सदा सर्वथा सब ठौर प्रस्तुत रहता है । अतः उचित एवं सत्य उत्तर यही था कि महात्मा मसीह ने जो कुछ कहा वह बेशक सच है पर ऐसा सच्चा और दृढ़ विश्वासी होना हर एक का काम नहीं है । हम ईश्वर के कमजोर और दुनियादार बंदे हैं । हममें पर्वत हटाने लायक विश्वास कहाँ ? पाठक महाशय ! इसमें कोई भी संदेह नहीं है । यदि हमारे कहने से निश्चय न आवै सो कुछ दिन स्वयं अभ्यास करके परीक्षा ले लीजिए तो विश्वास हो जायगा कि विश्वास में बड़ी भारी शक्ति है । विश्वासी के लिए पर्वत का हटा देना तो एक छोटी सी खेलुल्ली है । वह यदि चाहे तो पहाड़ क्या यावज्जगत बरंच जगतकर्ता को स्वेच्छानुसार संचालित कर सकता है । पर होना चाहिए विश्वासी ! सच्चे विश्वास से पूर्ण विश्वासी !

हाँ, यदि किसी कपटी एवं स्वार्थांध व्यक्ति ने आपके साथ विश्वासघात किया हो अथवा आपने किसी पुरुष को कुछ का कुछ समझने के कारण कभी धोखा खाया हो तो कह सकते हैं कि विश्वास कोई चीज नहीं है वा उसके करने से कुछ नहीं होता । पर निश्चय रखिए कि ऐसा अवसर पड़ जाने में विश्वास का दोष नहीं है । वह दोष उस विश्वासघाती नराधम का है अथवा आपकी बुद्धि का है। क्योंकि संसार में जैसे सचमुच के सज्जन बहुत थोड़े हैं वैसे ही शुद्ध दुर्जन भी बहुत नहीं हैं । और हमारी तुम्हारी बुद्धि जैसे सब बातों का ठीक 2 भेद नहीं पा जाती वैसे ही सदा सब ठौर धोखा भी नहीं ही खाया करती ।

इस सिद्धांत के अनुसार जीवनकाल में दो चार बार धोखा खा जाना वा धोखा दे देना असंभव नहीं है । किंतु इससे यह सिद्धांत कभी न निकाल लेना चाहिए कि जिन बातों को हमारे लक्षावधि महापुरुषों ने तथा विदेशीय महात्माओं ने बारम्बार अच्छा कहा है वे वस्तुतः अच्छी नहीं हैं । विश्वास की महिमा वेद शास्त्र पुराण बाइबिल कुरान जहाँ देखिए वहाँ मिलेगी । फिर कोई सिद्ध कर सकता है कि वह ग्रहणीय गुण नहीं है ? यदि दैवयोग से आपने कभी किसी ऐसे ही भारी प्रवंचन के द्वारा कष्ट वा हानि सही हो कि हमारे कथन का विश्वास ही करना न चाहते हों तौ भी इतना समझ लीजिए कि संसार में किसी पुरुष वा पदार्थ की गति सदा निश्चित रूप में नहीं रही ।

कभी 2 बहुत सोचे समझे विषयों तथा भली भाँति जाने बूझे लोगों से भी धोखा खाने में आ जाता है । अतः दुनिया और दुनियादारों पर विश्वास करते हुए जी हिचकिचावै तो आश्चर्य नहीं है । किंतु

ऐसी दशा में भी विश्वास के स्वादु से वंचित न रह के ईश्वर पर विश्वास जमाने का अभ्यास करना उचित है। क्योंकि उसकी किसी बात में किसी आस्तिक के मतानुसार कभी गड़बड़ नहीं पड़ता। यहाँ हम यह कहना नहीं चाहते कि उसे क्या समझकर किस रीति से विश्वास कर्तव्य है। क्योंकि हमारे सिद्धांत में उस अनंत की सभी बातें अनंत हैं और सर्वथा स्वतंत्र तथा सर्वशक्तिमान सर्वव्यापी आदि नामों ही से सिद्ध है कि सभी रीति से सभी ठौर पर सभी काल में हमें उसकी प्राप्ति हमारी ही मनोगति के अनुसार हो सकती है। विशेषतः वह स्वयं विश्वासमय एवं केवल विश्वास ही का विषय है। अस्मात् विश्वास करने से हम उसे चौराहे की ईंट में भी प्रत्यक्ष रूप से पा सकते हैं और यों खाली 2 जन्म भर अष्टांग योग के द्वारा भी सपने में झूठमूठ भी उसकी छाँह देख पड़ना असंभव है।

सिद्धांत यह कि अपनी रुचि के अनुसार सच्चे जी से उसके कोई बन जाइए, उसे अपना जो जी चाहे वह सचमुच और दृढ़ता के साथ बना लीजिए तो स्पष्ट देख लीजिएगा कि विश्वास में कैसा गुण, कैसी शक्ति, कैसा आनंद है कि जी ही जानता है। यह बात विश्वासी मात्र प्रायः देखते ही रहते हैं कि जिन अवसरों पर बुद्धि काम नहीं करता, बल नष्टप्राय हो जाता है, सहायक मात्र अपनी 2 ओर खिंचे रहते हैं पर आपदा कराल रूप से आक्रमण करती है उस समय केवल विश्वास एक अनिर्वचनीय रूप धारण करके वह युक्ति बतलाता है, वह शक्ति उत्पादन करता है, वह साहाय्य प्रदान करता है कि इहकालिक शुष्कविज्ञानी समझ ही नहीं सकते, दूसरों को किन शब्दों में समझावेंगे ? किंतु जिसे थोड़ा सा भी अनुभव है वह जानता ही नहीं बल्कि प्रत्यक्ष देखता है। फिर भला ऐसी जादू की सी शक्ति को बिना जाने झूठ वा तुच्छ समझना अज्ञता नहीं तो क्या है ?

जिस शक्ति के द्वारा ऐसी 2 लीला प्रायः नित्य ही देखने में आया करती है, देखने वाले देखते हैं और जो देखना चाहें वह देख सकते हैं कि जब सब ओर से नितांत निराशता हो जाती है तब विश्वास देव केवल आशा ही नहीं प्रत्युत आशा से कहीं अधिक सहायता दान करते हैं। उस दैवी शक्ति की उपेक्षा करना कहाँ की विद्वता है ? इतनी महत्सामर्थ्य होने पर, जिसका जीवित संबंध लाभ करना बहुत कठिन नहीं है, केवल मन को स्थिर और स्वच्छ तथा धैर्यवान बनाने का अभ्यास करना पड़ता है, फिर साफल्य में संशय नहीं रहता।

ऐसे दिव्य गुण विशिष्ट विश्वास से बंचित रहना कौन सी बुद्धिमानी है ? मन यदि सच्चाई के साथ मंगलमय परमात्मा का विश्वासी बनाया जाय तौ फिर विश्व भर में कहीं कोई पुरुष व पदार्थ अनिष्टकारक अथवा अविश्वासप्रसारक रही नहीं सकता। हाँ, यदि आप ईश्वर को न मानते हों तो केवल उन लोगों का विश्वास मत कीजिए जिन्होंने कहीं आपके साथ वा आपके आत्मीयों के साथ कपट व्यवहार किया हो वा कर उठाने का दृढ़ संदेह उपजाते हों। किंतु यह प्रण आप नहीं कर सकते कि कभी किसी का विश्वास करेंहीगे नहीं। यदि ऐसा हो तो संसार का चरखा एक दिन तो चली न सके ! क्या त्रिकाल और त्रिलोक में ऐसा कोई भी प्राणी हो सकता है जिसका सचमुच कोई भी विश्वासपात्र वा विश्वासी न हो ?

यदि हठपूर्वक ऐसा मान लीजिए वा बन जाइए तौ भी अपने अस्तित्व ही पर सच्चा और अचल विश्वास करके विश्वास की महिमा प्रत्यक्ष देख सकते हैं और उस दशा में यह कहने में कभी न रुकेंगे कि विश्वास में बड़ी शक्ति है, बड़ा आनंद है, बड़ा ही आश्चर्य गुण है। पर कहने से कुछ नहीं होता। जो विद्या पराक्रम पर तथा अपने बंधु बांधवादि पर, अपने कर्ता भर्ता संहर्ता पर विश्वास करने

का अभ्यास डालिए तो थोड़े ही दिन में दृष्टिगोचर हो जायगा कि कैसे 2 बड़े बिघ्न सहज में नाश होते हैं और कैसे कठिन काम बात 2 में बनते हैं।

यदि दैवात् कोई त्रुटि भी रह गई तो उसकी पूर्ति में संदेह रहना संभव नहीं है। क्योंकि विश्वास जब विश्वनाथ विश्वम्भर तक को सहज में मिल सकता है तब विश्व की आशा पूर्ण करना कौन बड़ी बात है ? क्या ही उत्तम होता यदि समस्त भारतसंतान विश्वास का आश्रय करना सीखते और परस्पर एक दूसरे के विश्वासी तथा विश्वासभाजन बन के अपने देश एवं अपनी जाति का वही गौरव फिर संसार भर को दिखला देते जो प्राचीन काल में पूर्णरूप से विराजमान था अथच आज भी जिसके स्मरण मात्र से हृदय को सच्चा अहंकार उत्पन्न होता है।

खं० 8, सं० 6 (जनवरी, ह० सं० 8)

उन्नति की धूम

आजकल जिधर सुनो यही शब्द सुनाई देगा। समाचारपत्रों में तो उन्नति की धूम, व्याख्यानों में तो उन्नति की धूम, सभाओं में तो उन्नति की धूम। अजान बालकों और मृत्यु की घड़ियाँ गिननेवाले बुड्ढों को छोड़ के जिसे देखो उसे यही सनक चढ़ी है कि देश की दशा दिन 2 बिगड़ती जाती है इससे सामाजिक उन्नति होनी चाहिए, राजनीतिक उन्नति होनी चाहिए, धार्मिक उन्नति होनी चाहिएं, विद्या की उन्नति होनी चाहिए, धन की उन्नति होनी चाहिए, बल की उन्नति होनी चाहिए। इसी उमंग में कितने ही लाल कपड़े पहिने दुनिया की ओर से मूँड़ मुँडा डालने का रूप लाए कपट से अटक तक कोलाहल करते फिरते हैं।

कितने ही कोट पतलून चढ़ाए धर्म कर्म के नाम खली तेल छू डालने का रंग जमाए हिंदुस्तान से इंग्लिस्तान तक हाय 2 मचाते रहते हैं। इसी बैलच्छि में रीम के रीम कागज, बरसों का समय, सहस्रों रुपया हाथ से बेहाथ हो रहा है। फिर विचार कर देखिए तो सारी मुड़धुन व्यर्थ है। यत्न उस बात के लिए कर्तव्य है जिसका अभाव हो। सो यहाँ उन्नति का कोई अंग शिथिल नहीं है फिर उसके लिए दौड़ धूप का क्या प्रयोजन ? प्राचीनकाल में जो कोई बारह वर्ष, चौबिस वर्ष, अड़तालिस वर्ष बेद वेदांग पढ़ने में "नींद नारि भोजन परिहरई" का उदाहरण बनता था वह अपनी योग्यता के अनुसार द्विवेदी त्रिवेदी चतुर्वेदी आदि कहलाता था।

जो पूर्ण विद्या प्राप्त करके भली भाँति सांसारिक अनुभव में कुशल हो के सदसद्विवेकिनी बुद्धि का पुतला बन जाता था वह पंडित की पदवी पाता था। पर अब नागरी का अक्षर भी न जानते हों, धर्म कर्मादि के विषय में मनुपराशरादि की तो क्या गिनती है ब्रह्मा के भी बाप का कहना न मानते हों तौ भी कान्यकुब्ज मात्र द्विवेदी त्रिवेदी, माथुर मात्र चतुर्वेदी और कश्मीरी मात्र पंडित हैं ! यदि कोई न

कहे तो उस पर बड़े मजे में मानहानि का मुकद्दिमा चल सकता है। फिर भला यह उन्नति नहीं है तो क्या है ?

अगले दिनों में विद्याभ्यास गुरुसेवा सतसंग इत्यादि करते 2 जनम बीत जाता था तब कहीं ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता था जिसका निचोड़ यह है कि अकेला ब्रह्म सत्य है और समस्त संसार के झगड़े अर्थात् पाप पुण्य, स्वर्ग नर्क, अपना पराया, देवता पितर, संध्या पूजा सब भ्रममूलक हैं। आजकल यह ज्ञान स्कूल पाँव धरते ही हो जाता है। बरंच आगे तो सब कुछ झूठ था एक ब्रह्म सत्य था पर अब वह कसर भी बहुधा जाती सी रहती है अर्थात् ईश्वर का अस्तित्व पहिले मिथ्या सा जान पड़ता है और बातें चाहे किसी पालिसी से बनी भी रहें।

भला इसे कौन उन्नति न कहेगा ? आगे के दिनों में बड़े 2 विद्वान ब्राह्मण तथा बड़े 2 लक्ष्मीवान क्षत्रिय अपने जीवन साफल्य धन जन सर्वस्व छोड़ छाड़कर वन में जा बैठने और कंदमूल फल खा के आयुष्य व्यतीत करने में समझते थे वह सुभीता भी इस काल में घर बैठे प्राप्त है। रुपया पैसा लाइस्यंस टैक्स इन्कमटैक्स चुंगी चंदा विदेशी चमकीली चीजों आदि पर निछावर हो गया और बचा खुचा दिन दूनी रात चौगुनी चाल से हो रहा है। अतः यह कहना भी अत्युक्ति न होगा कि जिस धन को अगले लोग यत्नपूर्वक छोड़ते थे वह इहकालिक लोगों को स्वयं सहजतया छोड़े भागता है अथच ऐसी दशा में असंभव नहीं है जो स्त्री पुत्रादि भी आपसे आप छूट जायँ क्योंकि पेट सबको प्यारा होता है और अब वह समय रहा नहीं है कि एक कमाए और चार खायें, इसके अतिरिक्त बन भी ढूँढ़ने नहीं जाना।

अभी वह लोग सैकड़ों नहीं सहस्रों जीते हैं जो देख चुके हैं कि लखनऊ मिरजापुर फर्रुखाबाद आदि नगरों में थोड़े ही दिन हुए कि आठों पहर कंचन बरसता था और बड़ी 2 दूर के लोग आ आकर सहस्रों कमा ले जाते थे किंतु अब वहाँ जिस बाजार को देखिए भाँय 2 होती है। सहस्रों निवासी घर छोड़ 2 नगरान्तर को चल दिए और सैकड़ों घर ऐसे दिखाई देते हैं जिन्हें देख के बोध होता है कि इनमें कोई बहु कुटुंबी महाधनी निवास करते थे पर आज अँगनाई में घास उगती है और कौए कुत्ते रहते हैं। ऐसे लक्षणों से कौन न कहेगा कि परमेश्वर ने चाहा तो कुछ ही दिनों में निरजन बन अलभ्य न रहेंगे, फिर क्या यह उन्नति नहीं है ?

सच पूछिए तो सतयुग त्रेता वाले लोग जिस उन्नति के लिये यत्नवान रहते थे वह पूर्ण रूप से अभी प्राप्त हुई है ! हाँ यदि कलियुग के प्रभाव से आप शारीरिक सुख एवं सांसारिक सुविधा ही को उन्नति का लक्षण मानते हों तो भी आगे जिन दामों में गजी मिलनी थी उनमें आज तनजेब ले लीजिए। जहाँ जाने में घर वालों से सदा के लिये बिदा माँगनी पड़ती थी वहाँ सप्ताह दो सप्ताह में हो के लौट आइए। जिनके समाचार मँगाने में दूत और धन की आवश्यकता होती थी उनसे एक पैसे के पोस्टकार्ड में घर बैठे बातें कर लीजिए। जो पुस्तक सौ पचास रुपया लगाने पर भी बरसों में प्राप्त होती थी, सो भी अचिक्कण और मलीन कागज पर फीकी स्याही की लिखी, कहीं महावर कहीं हरताल से रँगी, कहीं कटी कहीं फटी, अशुद्ध फशुद्ध बिहंगम वहीं आज आठ दस रुपए में उत्तम से उत्तम छपी हुई मिल सकती है, सो भी जब चाहो तब !

ऐसे 2 अनेकानेक प्रत्यक्ष प्रमाण हैं जिनके कारण हम क्या हैं हमारे गुरू गौरांगदेव भी सैकड़ों मुख से कह रहे हैं कि इंडिया ने वह उन्नति की है जो कभी देखने में क्या सुनने में भी नहीं आई। यदि

हमारी न मानो अपने ही शास्त्रों का हठ करो तो महात्मा चाणक्य आज्ञा करते हैं—यथा राजा तथा प्रजा—इस वाक्य को ध्यान में रख के हमारे राजदेश इंग्लैंड की दशा का विचार करो कि दो ढाई सौ वर्ष पहिले कैसी थी तब निश्चय हो जायगा कि बेशक आगे के देखे सभी बातों में उन्नति की है। फिर भला जब राजदेश और राजजाति उन्नति करेगी तो प्रजास्थान और प्रजावर्ग की उन्नति में क्या संदेह रहेगा ? अस्मात् सब प्रकार मान ही लेना चाहिए कि निस्संदेह हिंदुस्तान की उन्नति है। ऐसी दशा में उन्नति 2 चिल्लाना वा उसके लिये धावमान रहना निरा पिष्टपेषण चर्वित चर्बण और "कनियाँ लरिका गाँव गोहारि" का नमूना बनना है। इससे चुपचाप बैठे रहना चाहिए, दुनिया भर का इंतजाम परमेश्वर ने तुम्हारे ही माथे नहीं पटक दिया। काल कर्म और भाग्य में जो कुछ होगा हो रहेगा।

चार दिन की जिंदगी खाने कमाने और आनंद से दिन बिताने को बनी है न कि "काजी जी क्यों दुबले शहर के अंदेशे से !" पर हाँ जो यह उपदेश न सुहाते हों और मातृभूमि का सच्चा स्नेह हृदय में तनिक भी जड़ पकड़े हो तथा अंतःकरण की आँखें कुछ भी खुली हों, इससे भूतकाल की दशा से वर्तमान गति का मिलान करने पर भविष्यत में काल की बिकराल मूर्ति दिखलाई पड़ती हो एवं उससे बचने अथच अपने गृह कुटुंब, जाति देश वालों को बचाने का उपाय अभिप्रेत होता हो तो स्मरण रक्खो कि 'काल्हि करंते आज कर आज करंते अब्ब'। मरते देर नहीं लगती और मर जाने पर कर्तव्य कदापि नहीं हो सकता तथा जो करणीय कामों को किए बिना केवल मनोर्थ ही करता 2 मर जाता है वह अपने कलुषित कलंकित मुख को किस बिरते पर ईश्वर के सामने ले जायगा ?

अतः अभी इसी क्षण सौ काम छोड़ के, हजार हर्ज करके कटिबद्ध हो जाना उचित है। फिर "चौतरा आप ही कोतवाली सिखा लेगा", किसी से पूछने की आवश्यकता न रहेगी कि क्या करना चाहिए, क्योंकर करना चाहिए ? किंतु यदि हमारे वचनों पर श्रद्धा हो तो सुन रक्खो—'अपना भला अपने ही हाथ होता है।' भारत की वास्तविक उन्नति जब हुई है और जब होगी तब उन्हीं के करने से हुई है और होगी जिनकी हजारों लाखों पीढ़ी भारत ही की मट्टी से हुईं और उसी में समा गईं तथा आगे भी इसी पवित्र रज में उत्पन्न हो के विलीन हो जायँगी। दूसरे देश में चाहे वाणिज्य के लिये जायँ चाहे विद्या सीखने जायँ चाहे गुलाम बन के जायँ चाहे राजा हो के जायँ पर कहलावैंगे भारत संतान ही। उन्हीं का अधिकांश जब केवल अपने भरोसे और अपने ढंग पर अपनी उन्नति के लिए तन मन धन प्रानपन से दिन रात सोते जागते संलग्न रहेगा तभी हिंदुस्तान का भला होगा। नहीं तो दूसरों के आसरे पर, दूसरों की भाषा भेष भोजन भाव का अवलम्बन करने से चाहे कोटि जन्म तक शिर पटका करें तो क्या होना है ? और यदि कुछ दैवयोग से हो भी गया तो क्या है ? ब्राह्मण का लड़का हुसेनी कहला कर जिया तो उसे जिया नहीं कहते। अतः यदि आप हिंदुस्तानी हैं और हिंदुस्तान का उद्धार किया चाहते हैं तो किसी के कहने सुनने में न आ के अपने यहाँ की तुच्छ से तुच्छ वस्तु एवं व्यक्ति को सारे संसार के उत्तमोत्तम पदार्थों अथच पुरुषों से श्रेष्ठ समझिए और पूर्ण पौरुष के साथ दूसरों को भी यही समझाते रहिए तथा अपनों से अपनायत निभाने में किसी प्रकार का भय संकोच, लालच लज्जा जी में न आने दीजिए।

यह प्रण कर लीजिए कि चाहे जैसी हानि हो, चाहे जो कष्ट हो कुछ चिंता नहीं। सर्वस्व जाता रहे, अभी मृत्यु हो जाय, मरने पर भी कठिन नर्कजातना अनंत काल तक सहनी पड़े पर अपने हिंद और अपनी हिंदी से 'हम यह दो बात कहके हारे हैं। तुम हमारे हैं !!' बस फिर प्रत्यक्ष देख लीजिएगा कि

कितने शीघ्र अथच कैसी कुछ उन्नति आँखों के आगे दिखाई देती है । पर बातें कहने की नहीं हैं कर उठाने की हैं । जितना जो कुछ जिस दृढ़ता के साथ कर उठाइए उतना ही उत्तम फल पाइएगा और मरने पर भी दूसरों के लिए उदाहरण स्वरूप सुयश छोड़ जाइएगा । नहीं तो जैसे दूसरे हजारों लोग हजारों तरह की झाँय झाँय करते रहते हैं वैसे ही आप भी धूम मचाते और अमूल्य मानव जन्म को निष्फल गँवाते रहिए । न कुछ होगा न हुवावैगा । आपको धूममंदिर अर्थात् धुवाँ के धौरहर की भाँति कुछ काल तक कोई रूप दिखा के अदृष्ट हो जायगी । बस ।

खं० ८, सं० ६ (जनवरी ह० सं० ८)

एक सलाह

हमारे मान्यवर, मित्र, 'पीयूषप्रवाह' संपादक, साहित्याचार्य पंडित अम्बिकादत्त व्यास महोदय पूछते हैं कि हिंदीभाषा में "में से के" आदि विभक्ति चिह्न शब्दों के साथ मिला के लिखने चाहिए अथवा अलग । हमारी समझ में अलग ही अलग लिखना ठीक है, क्योंकि एक तो यह व्यासजी ही के कथानुसार 'स्वतंत्र विभक्ति नामक अव्यय है' तथा इनकी उत्पत्ति भिन्न शब्दों ही से है, जैसे—मध्यम, मज्झम्, माँझ, मधि, माँहि, महिं, में इत्यादि, दूसरे अँगरेजी, फारसी, अरबी आदि जितनी भाषा हिंदुस्तान में प्रचलित हैं उनमें प्रायः सभी के मध्य विभत्तिसूचक शब्द प्रथक रहते हैं और भाग्य की बात न्यारी है नहीं तो हिंदी किसी बात में किसी से कम नहीं है ।

इससे उसके अधिकार की समता दिखलाने के लिए यह लिखना अच्छा है कि संस्कृत में ऐसा नहीं होता, सो उसकी बराबरी करने का किसी भाषा को अधिकार नहीं है, फिर हिंदी ही उसका मुँह चिढ़ा के बेअदबी क्यों करे ? निदान हमें व्यासजी की इस बात में कोई आपत्ति नहीं है ।

इधर अपने भाषाविज्ञ मित्रों से एक सम्मति हमें भी लेनी हैं, अर्थात् हमारी देवनागरी में यह गुण सबसे श्रेष्ठ है कि चाहे जिस भाषा का जो शब्द हो इसमें शुद्ध 2 लिखा पढ़ा जा सकता है । अरबी के ऐन+काफ+खे+आदि थोड़े से अक्षर यद्यपि अ क ख आदि से अलग नहीं हैं, न हिंदी में यों ही साधारण रीति से लिखे जाने पर कोई भ्रम उत्पन्न कर सकते हैं, पर यतः उनका उच्चारण अपनी भाषा में कुछ विलक्षणता रखता है । अस्मात् हमारे यहाँ भी उस विलक्षणता की कसर निकाल डालने के लिए अक्षरों के नीचे बिंदु लगाने की रीति रख ली गई है । किंतु अभी अँगरेजी वाली वी V के शुद्ध उच्चारणार्थ कोई चिह्न नहीं नियत किया गया । यह क्यों ? वाइसराय और विक्टर आदि शब्द यद्यपि हम लोग यवर्गी व अथवा पवर्गी ब से लिख के काम चला लेते हैं, यों ही हमारे बंगाली तथा गुजराती भाई भ से लिख लेते हैं और कोई हानि नहीं भी होती, किंतु अँगरेजी के रसिक यदि शुद्ध उच्चारण न होने का दोष लगावैं तो एक रीति से लगा सकते हैं, क्योंकि यह अक्षर व और ब दोनों से कुछ

विलक्षणता के साथ ऊपर वाले दाँतों को नीचे के होंठ में लगा के बोला जाता है ।

इसकी थोड़ी सी कसर निकाल डालने के लिये हमारी समझ में यदि ब के नीचे बिंदु लगाने की प्रथा कर ली जाय तो क्या बुराई है ? यों ही फारसी में एक अक्षर जे j है जिसका उच्चारण श के स्थान से होता है । अँगरेजी में भी प्लेजर Pleasure आदि शब्द इसी प्रकार से उच्चरित होते हैं । इसके शुद्धोच्चारण के हेतु यदि "ज" के नीचे तीन बिंदु लगाने की रीति नियत कर ली जाय तो बस दुनिया भर के शब्दों को शुद्ध लिख पढ़ लेने में रत्ती भर कसर न रहेगी, पर यदि हमारे भाषावेत्तागण मंजूर करें ।

खं० 8, सं० 6 (15 जनवरी ह० सं० 8)

चिंता

इन दो अक्षरों में भी न जाने कैसी प्रबल शक्ति है कि जिसके प्रभाव से मनुष्य का जन्म ही कुछ का कुछ हो जाता है यद्यपि साधारणतः चित्त का स्वभाव है कि प्रत्येक समय किसी न किसी विषय का चिंतन किया ही करता है । जिन्हें ईश्वर ने सब कुछ दे रक्खा है, जिनको लोग समझते हैं कि किसी बात की चिंता नहीं है वे भी अपने मनोविनोद वा अपनी समझ के अनुसार जीवन की सार्थकता के चिंतन में लगे रहते हैं । कमरा यों सजना चाहिए, बाग में इस रीति की क्यारी होनी चाहिए, खाने पहिंनने को अमुक 2 भोजन वस्त्र बनवाने चाहिए, परीजान का फलाना जेवर, फलानी पोशाक, इस तरह की बननी चाहिए, फलाने दोस्त को इस प्रकार खुश करना चाहिए, फलाने दुश्मन को यों नीचा दिखाना चाहिए इत्यादि सब चिंता ही के रूप हैं । यहाँ तक कि जब हम संसार के सब कामों से छुट्टी लेकर रात्रि के समय मृत्यु का सा अनुभव करके एक प्रकार के जड़वत बन जाते हैं, हाथ पाँव इत्यादि से कुछ काम नहीं ले सकते, तब भी चिंतादेवी हमें एक दूसरी सृष्टि में ला डालती हैं ।

स्वप्नावस्था में हम यह नहीं जान सकते कि इस समय हम जो कुछ कर धर वा देख सुन रहे हैं वह सब मिथ्या कल्पना है । बिलायती दिमाग वाले लोग कहते हैं कि स्वप्न का कुछ फल नहीं होता पर यदि उन्हें बिचारशक्ति से जान पहिचान हो तो सोच सकते हैं कि प्रत्यक्ष फल तो यही है सोता हुआ पुरुष खाट पर पड़े 2 कहाँ 2 फिरता रहता है, क्या 2 देखता रहता है, कैसे सुख दुःखादि का अनुभव करता है । यह निरा निष्फल कैसे कहा जा सकता है । इसके अतिरिक्त हमारे पूर्वजों ने जो बातें निश्चित की हैं वह कभी झूठ नहीं हो सकतीं ।

हमने तथा हमारे बहुत से विद्याबुद्धि विशारद मित्रों ने स्वयं सैकड़ों बार अनुभव किया है कि जो स्वप्न हाल की देखी सुनी बातों पर देखे जाते हैं उन्हें छोड़कर और जितने आकस्मातिक सपने हैं सबका फल अवश्य होता है । जिसे विश्वास न हो वह आप इस बात को ध्यान में रख के परीक्षा कर ले कि

जब कभी सपने में भोजन किए जायँगे तब दो ही चार दिन अथवा एक ही दो सप्ताह के उपरांत कोई न कोई रोग अवश्य सतावैगा, जब कभी तामे के पात्र अथवा मुद्रा देखने में आवैंगी तब शीघ्र ही किसी प्रिय व्यक्ति की मृत्यु के वियोग से अवश्य रोना पड़ेगा, जब नदी में स्नान करने वा तैरने का स्वप्न देख पड़ेगा तो वर्तमान रोग की शीघ्र ही मुक्ति हो जायगी, सपने में रोवैगा वह जागकर कुछ ही काल में प्रसन्नतापूर्वक हँसैगा अवश्य तथा जो स्वप्न में हँसेगा वह जागृत अवस्था में रोए बिना न रहेगा।

ऐसे 2 अनेक सपने हैं जिनका वृत्तांत ग्रंथों में लिखा हुआ है और फल अवश्य होता है। पर कोई हठतः न माने तो बात ही न्यारी है। हमारे पाठक कहते होंगे आज क्या भाँग खा के लिखने बैठे हैं जो अंट की संट हाँक रहे हैं। पर वह बिचार कर देखेंगे तो जान जायँगे कि स्वप्न भी चिंताशक्ति की लीलाएँ हैं और यह वह शक्ति है जिसका अवरोध करना मनुष्य के पक्ष में इतना दुसाध्य है कि असाध्य कहना भी अत्युक्ति न समझनी चाहिए। वह चाहे जागने में अपना प्राबल्य दिखलावै चाहे सोते में किंतु परवश सब अवस्था में कर देती है जिसके प्रभाव से हम सोते में भी मारे 2 फिरते हैं और जिन पुरुषों तथा पदार्थों का अस्तित्व नहीं है उसका संसर्ग प्राप्त करके मुँदी हुई शक्तिहीन आँखों से आँसू बहाते अथवा नाना घटनाएँ देखते हैं, बंद मुँह से बातें करते और ठट्ठा मारते हैं, बरंच कभी 2 उसी की प्रेरणा से मृतकवत् पड़े हुए भी सचमुच खटिया छोड़ भागते हैं, उसकी जागृत दशा वाली, हाथ पाँव चलाते हुए चेतनावस्था वाली प्रबलता का क्या ही कहना है।

परमेश्वर न करे कि किसी के चित्त में प्रबल रूप से कोई चिंता आधिपत्य जमा ले। जो इसकी लपेट में आ जाता है वह अपने सुख और स्वतंत्रता से सर्वथा जाता रहता है। यों धन बलादि का अभाव न होने पर नहाने खाने घूमने आदि की साधारण चिंता बहुधा रहा ही करती हैं। इससे उनके द्वारा कोई विशेष कष्ट वा हानि नहीं जान पड़ती। बरंच उनका नाम चित्त का जातिस्वभाव मात्र है। पर सूक्ष्म विचार से देखिए तो थोड़ा बहुत स्वच्छंदता का नाश वे भी करती ही रहती हैं। मिठाई खाने को जी चाहेगा और लाने वाले सेवक किसी दूसरे काम को गए होंगे तो हमें झख मार के हलवाई की दूकान पर जाना पड़ेगा अथवा नौकर राम की मार्ग प्रतीक्षा में दूसरी बातों से विवशतः मन हटाना पड़ेगा। यह छोटे रूप की कायिक वा मानसिक पराधीनता वा गुलामी नहीं है तो क्या है ? तिसमें भी जब हमें कोई असाधारण चिंता आ घेरती है तब तो हम सचमुच उसके क्रीत दास, काष्टपुत्तलक वा यों कहो कि बलिपशु ही हो जाते हैं।

यदि हमसे कोई पूछे कि वह कौन सी निर्दयिनी है जो बड़े 2 महाराजों को साधारण सेवकों की चिरौरी के लिए विवश करती है, बड़े 2 योद्धाओं को उठने बैठने के काम का नहीं रखती, सुखा के काँटा बना देती है, बड़े 2 पंडितों की विद्या भुलाकर बुद्धि हर लेती है तो हम छुटते ही यह उत्तर देंगे कि उसका नाम चिंता है। बहुत से बुद्धिमानों का सिद्धांत है कि अच्छे कामों तथा अच्छी बातों की चिंता से शरीर और मन की हानि नहीं होती। उनका यह कथन लोकोपकारक होने से आदरणीय है और अनेकांश में परिणाम के लिए सत्य भी है पर हम पूछते हैं, आपने किस ईश्वरभक्त, देशभक्त, सद्गुणानुरक्त को हृष्ट पुष्ट और मनमौजी देखा है ? ऋषियों, सत्कवियों और फिलासफरों के जितने साक्षात् वा चित्रगत स्वरूप देखे होंगे किसी की हड्डियों पर दो अंगुल मांस न पाया होगा।

उनके चरित्रों में कभी न सुना होगा कि ठीक समय खाते और नींद भर सोते थे। यह माना कि वह अपने काल्पनिक आनंद के आगे संसार के सुख दुःखादि को तुच्छ समझते हैं, पर सांसारिक

विषयों से रँजेपुँजे बहुधा नहीं ही होते, पुष्कल धन और बल का अभाव ही रहता है क्योंकि उनका हृदय चिंता की एक मूर्ति का मंदिर है जिसकी स्तुति में हमारे अनुभवशील महात्माओं का वाक्य है कि 'चिता, चिंता समाख्याता तस्माच्चिन्तागरीयसी' (लिखने में भी एक बिंदु अधिक होता है इसी से), चिता दहति निर्जीवं चिंता जीवयुतां तनुम् ।' सच तो यह है कि जिसे शीघ्र चिता पर पहुँचना होता है वा यों कहो कि जीते ही जी चिता पर सोना होता है वही इसके चंगुल में फँसता है ।

यह यदि अच्छे रूप की हुई तो अगर चंदनादि की चिता की बहिन समझनी चाहिए, जिसकी सुगंधि से दूसरों को अवश्य सुख मिलता है और शास्त्र के अनुसार चाहे सोने वाली आत्मा भी कोई अच्छी गति पाती हो पर भस्म हो जाने में कुछ भी संदेह नहीं है और यदि कुत्सित रीति की हुई तो आत्मा अवश्य उसी नर्क में जीते मरते बनी रहती है जिस नर्क में नील आदि कुकाष्ट की चिता में जलने वाले जाते हैं और ऐसों के द्वारा दूसरों का यदि दैवयोग से अनिष्ट न भी हो तथापि हित होना तो संभव नहीं होता । क्योंकि बुरे वृक्ष का फल अच्छा हो यह संभव नहीं है । और चिंता की बुराई में कहीं प्रमाण नहीं ढूँढ़ना है, सहृदयमात्र उसकी साक्षी दे सकते हैं । ऊपर से दाद में भी खाज यह है कि उसके लिए कारण अथवा आधार की भी कमी नहीं ।

चित्त सलामत हो तो समस्त सृष्टि के जड़ चेतन दृश्य अदृश्य अवयवमात्र चिंता का उत्पादन अथच उत्तेजन करने भर को बहुत हैं । परमात्मा न करे कि किसी को अन्न वस्त्र की चिंता का सामना करना पड़े जैसे कि आज दिन हमारे बहुसंख्यक देशभाइयों को करना पड़ता है । ऐसी दशा में मनुष्य जो कुछ न कर उठावै वही थोड़ा है । संभ्रम रक्षा की चिंता उससे भी बुरी होती है जिसके कारण न्याय धर्म और गौरव सब आले पर धर के लोग केवल इस उद्योग में लग जाते हैं कि कल ही चाहे भून चबान का सुभीता न रहे, मरने पर चाहे नर्ककुंड से कभी न निकाले जायँ, पर आज तो किसी तरह चार जाने की दृष्टि में बात रही जानी चाहिए । इससे भी घृणित चिंता आज कल के बाबू साहबों की है जो स्वयं उदाहरण बन कर चाहते हैं कि देश का देश अपनी भाषा, भोजन, भेष भाव और भ्रातृत्व को तिलांजुली दे के शुद्ध काले रंग का गोरा साहब बन जाय, स्त्रियों का पतिव्रत और पुरुषों का आर्यत्व कहीं ढूँढ़े न मिले, वेद भी अंग्रेजी स्वरों में पढ़ा जाय तथा विलायती ही कारीगरियों की किताब समझी जाय, ईश्वर भी हमारी कानून का पाबंद बनाया जाय नहीं तो देश की उन्नति ही न होगी ।

इधर हमारी सी तबीयत वालों को यह चिंता लगी रहती है कि जगदीश्वर को कल प्रलय करना अभीष्ट हो तो आज कर दे पर हमारे भारतीय भाइयों का निजत्व बनाए रक्खे । उन्नति और अवनति कालचक्र की गति से सभी को हुवा करती है पर गधे पर चढ़ बैकुंठ जाना भी अच्छा नहीं । कहाँ तक कहिए जिसे जिस प्रकार की चिंता सताती होगी उसका जी ही जानता होगा कि यह कैसी बुरी व्याधि है । जब परलोक और परब्रह्म प्राप्ति तक की चिंता हमें दुनिया के काम का नहीं रखती, शरीर तक का स्वत्व छुड़वा के जंगल पहाड़ों में जा पड़ने को विवश करती है तब संसारिक चिंता के विषय में हम क्यों न कहें कि राम ही बचावैं इसकी झपेट से । जिन अप्राणियों को सोचने समझने की शक्ति नहीं होती, जिन पशुओं तथा पुरुषों को भय निद्रादि के अतिरिक्त और कोई काम नहीं सूझता वे उनसे हजार दरजे अच्छे होते हैं जिन्हें अपनी वा पराई फिकर चढ़ी ही रहती हो । इस छूत से केवल सच्चे प्रेमी ही बच सकते हैं जिन्होंने सचमुच अपना चित्त किसी दूसरे को देकर कह दिया है कि लो अब इस दिल को तुम्हीं आग लगाओ साहब ! फिर वह क्यों न निश्चिंत हो जायँ—"जब अड्डा ही न रहेगा तो

बैठोगे काहे पर" । अथवा पूरे विरक्त, जिन्होंने मन को सचमुच मार लिया है, वे भी चाहे बचे रहते हों पर जिन्हें जगत् से कुछ भी संबंध है वे कदापि नहीं बचते और बचें तो जड़ता का लांक्षण लगता है इससे और भी आफत है ।

गुड़ भरा हँसिया न निगलते बने न उगलते बने । फिर क्यों न कहिए कि चिंता बड़ी ही बुरी बला है । यदि संगीत साहित्यादि की शरण ले के इसे थोड़ा बहुत भुलाए रहो तौ तो कुशल है नहीं तो यह आई और सब तरह से मरण हुवा । इसलिए इससे जहाँ तक हो बचे ही रहना चाहिए । बचने में यदि हानि या कष्ट हो तौ भी डरना उचित नहीं बरंच कठिन व्याधि की निवृत्यर्थ कडू औषधि के सेवन समान समझना योग्य है । बचने का एक लटका हमारा भी सीख रक्खो तो पेट पड़े गुन ही देगा, अर्थात् जिस काम को किए बिना भविष्यत् में हानि की आशंका हो उसकी पूर्ति का यत्न करते रहो पर तद्विषयिनी चिंता को पास न आने दो । इस रीति से भी बहुत कुछ बचाव रहेगा ।

खं० 9, सं० 5 (दिसंबर, ह० सं० 9)

आप

ले भला बतलाइए तो आप क्या हैं ? आप कहते होंगे, वाह आप तो आप ही हैं । यह कहाँ की आपदा आई ? यह भी कोई पूछने का ढंग है ? पूछा होता कि आप कौन हैं तो बतला देते कि हम आपके पत्र के पाठक हैं और आप 'ब्राह्मण'-संपादक हैं अथवा आप पंडितजी हैं, आप राजा जी हैं, आप सेठ जी हैं, आप लाला जी हैं, आप बाबू साहब हैं, आप मियाँ साहब, आप निरे साहब हैं । आप क्या हैं ? यह तो प्रश्न की कोई रीति ही नहीं है । वाचक महाशय ! यह हम भी जानते हैं कि आप आप ही हैं, और हम भी वही हैं, तथा इन साहबों की भी लंबी धोती, चमकीली पोशाक, खुंटिहई अंगरखी (मीरजई), सीधी माँग, बिलायती चाल, लंबी दाढ़ी और साहबानी हवस ही कहे देती है—कि

"किस रोग की हैं आप दवा कुछ न पूछिए"

अच्छा साहब, फिर हमने पूछा तो क्यों पूछा ? इसीलिए कि देखें कि आप "आप" का ज्ञान रखते हैं वा नहीं ? जिस आपको आप अपने लिए तथा औरों के प्रति दिन रात मुँह पर धरे रहते हैं, वह आप क्या हैं ? इसके उत्तर में आप कहिएगा कि एक सर्वनाम है । जैसे मैं, तू, हम, वह, यह आदि हैं वैसे ही आप भी हैं, और क्या है । पर इतना कह देने से न हमीं संतुष्ट होंगे न आप ही के शब्दशास्त्र ज्ञान का परिचय होगा । इससे अच्छे प्रकार कहिए कि जैसे 'मैं' का शब्द अपनी नम्रता दिखलाने के लिए बिल्ली की बोली का अनुकरण है, 'तू' का शब्द मध्यम पुरुष की तुच्छता वा प्रीत सूचित करने के अर्थ कुत्ते के संबोधन की नकल है; हम तुम संस्कृत के अहं, त्वं का अपभ्रंश हैं, यह वह निकट और दूर की वस्तु वा व्यक्ति के द्योतनार्थ स्वाभाविक उच्चारण हैं, वैसे 'आप' क्या है ? किस भाषा

के किस शब्द का शुद्ध वा अशुद्ध रूप है, और आदर ही में बहुधा क्यों प्रयुक्त होता है ?

हुजूर की मुलाजमत से अक्ल ने इस्तेअफा दे दिया हो तो दूसरी बात है नहीं तो आप यह कभी न कह सकेंगे कि "आप लफ्ज या अरबीस्त" अथवा "ओः इटिज ऐन इंगलिश वर्ड" । जब यह नहीं है तो खामखाह यह हिंदी शब्द है, पर कुछ सिर-पैर मूड़-गोड़ भी है कि यों ही ? आप छूटते ही सोच सकते हैं कि संस्कृत में आप कहते हैं जल को । और शास्त्रों में लिखा है कि विधाता ने सृष्टि के आदि में उसी को बनाया था, यथा—"आप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्' तथा हिंदी में पानी और फारसी में आब का अर्थ शोभा अथच प्रतिष्ठा आदि हुआ करता है । जैसे "पानी उतरि गा तरवारिन को उड़ करछुलि के मोल बिकायँ" तथा "पानी उतरिगा रजपूती का उड़ फिर बिसुओं ते (बेश्या से भी) बहि जायँ" और फारसी में 'आबरू खाक में मिला बैठे' इत्यादि ।

इस प्रकार पानी की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का विचार करके लोग पुरुषों को भी उसी के नाम से आप पुकारने लगे होंगे । यह आपका समझना निरर्थक तो न होगा, बड़प्पन और आदर का अर्थ अवश्य निकल आवैगा, पर खींच-खाँच कर, और साथ ही यह शंका भी कोई कर बैठे तो अयोग्य न होगी कि पानी के जल, बारि, अम्बु, नीर, तोय इत्यादि और भी तो कई नाम हैं, उनका प्रयोग क्यों नहीं करते "आप" ही के सुर्खाब का पर कहाँ लगा है ? अथवा पानी की सृष्टि सबके आदि में होने के कारण बृद्ध ही लोगों को उसके नाम से पुकारिए तो युक्तियुक्त हो सकता है; पर आप तो अवस्था में छोटों को भी आप 2 कहा करते हैं, यह आपकी कौन सी विज्ञता है ? या हम यों भी कह सकते हैं कि पानी में गुण चाहे जितने हों, पर गति उसकी नीच ही होती है । तो क्या आप हमको मुँह से आप 2 करके अधोगामी बनाया चाहते हैं ? हमें निश्चय है कि आप पानीदार होंगे तो इस बात के उठते ही पानी 2 हो जायँगे, और फिर कभी यह शब्द मुँह पर न लावेंगे ।

सहृदय सुहृद्गण आपस में आप 2 की बोली बोलते ही नहीं हैं । एक हमारे उर्दूदाँ मुलाकाती मौखिक मित्र बनने की अभिलाषा से आते जाते थे । पर जब ऊपरी व्यवहार मित्रता का सा देखा तो हमने उनसे कहा कि बाहरी लोगों के सामने की बात न्यारी है, अकेले में अथवा अपनायत वालों के आगे आप 2 न किया करो, इसमें भिन्नता की भिनभिनाहट पाई जाती है । पर वह इस बात को न माने, हमने दो चार बार समझाया पर वह 'आप' थे, क्यों मानने लगे ! इस पर हमें झुंझलाहट छूटी तो एक दिन उनके आते ही और आप का शब्द मुँह पर लाते ही हमने कह दिया कि 'आपकी ऐसी तैसी' । यह क्या बात है कि तुम मित्र बनकर हमारा कहना नहीं मानते ? प्यार के साथ तू कहने में जितना स्वादु आता है उतना बनावट से आप साँप कहो तो कभी सपने में नहीं आने का । इस उपदेश को वह मान गए । सच तो यह है कि प्रेमशास्त्र में, कोई बंधन न होने पर भी, इस शब्द का प्रयोग बहुत ही कम, बरंच नहीं के बराबर होता है ।

हिंदी की कविता में हमने दो ही कवित्त इससे युक्त पाए हैं, एक तो 'आपको न चाहै ताके बाप को न चाहिए" । पर यह न तो किसी प्रतिष्ठित ग्रंथ का है और न इसका आशय स्नेह संबद्ध है । किसी जले भुने कवि ने कह मारा हो तो यह कोई नहीं कह सकता कि कविता में भी आप की पूछ है । दूसरी घनानंद जी की यह सवैया है—"आप ही तौ मन हेरि हर्‌यौ तिरछे करि नैनन नेह के चाव में" इत्यादि । पर यह भी निराशापूर्ण उपालम्भ है, इससे हमारा यह कथन कोई खंडन नहीं कर सकता कि प्रेम-समाज में "आप" का आदर नहीं है, "तू" ही प्यारा है ।

संस्कृत और फारसी के कवि भी त्वं और तू के आगे भवान् और शुमा (तू का बहुवचन) का बहुत आदर नहीं करते पर इससे आपको क्या मतलब ? आप अपनी हिंदी के 'आप' का पता लगाइए, और न लगै तो हम बतला देंगे। संस्कृत में एक आप्त शब्द है, जो सर्वथा माननीय ही अर्थ में आता है, यहाँ तक कि न्याय शास्त्र में प्रमाण चतुष्टय (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द) के अंतर्गत शाब्द-प्रमाण का लक्षण ही यह लिखा है कि 'आप्तोपदेशः शब्दः' अर्थात् आप्त पुरुष का वचन प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान ही प्रामाणिक होता है, वा यों समझ लो कि आप्त जन प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान प्रमाण से सर्वथा प्रमाणित ही विषय को शब्दबद्ध करते हैं।

इससे जान पड़ता है कि जो सब प्रकार की विद्या, बुद्धि, सत्यभाषणादि सद्‌गुणों से संयुक्त हो वह आप्त है, और देवनागरी भाषा में आप्तशब्द उसके उच्चारण में सहजतया नहीं आ सकता इससे उसे सरल करके आप बना लिया गया है, और मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष के अत्यंत आदर का द्योतन करने के काम में आता है। 'तुम बहुत अच्छे मनुष्य हो' और 'यह सज्जन हैं'—ऐसा कहने से सच्चे मित्र, बनावट के शत्रु चाहे जैसे "पुलक प्रफुल्लित पूरित गाता" हो जायँ, पर व्यवहारकुशल लोकाचारी पुरुष तभी अपना उचित सम्मान समझेंगे जब कहा जाय कि, "आपका क्या कहना है, आप तो बस सभी बातों में एक ही हैं", इत्यादि।

अब तो आप समझ गए होंगे कि आप कहाँ के हैं, कौन हैं, कैसे हैं, यदि इतने बड़े बात के बतंगड़ से भी न समझे हों तो इस छोटे से कथन में हम क्या समझ सकेंगे कि आप संस्कृत के आप्त शब्द का हिंदी रूपांतर है, और माननीय अर्थ के सूचनार्थ उन लोगों (अथवा एक ही व्यक्ति) के प्रति प्रयोग में लाया जाता है जो सामने विद्यमान हों, चाहे बातें करते हों, चाहे बात करने वालों के द्वारा पूछे बताए जा रहे हों, अथवा दो वा अधिक जनों में जिनकी चर्चा हो रही हो। कभी 2 उत्तम पुरुष के द्वारा भी इसका प्रयोग होता है, वहाँ भी शब्द और अर्थ वही रहता है; पर विशेषता यह रहती है कि एक तो सब कोई अपने मन से आपको (अपने तईं) आप ही (आप्त ही) समझता है। और विचार कर देखिए तो आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता या तद्रूपता कहीं लेने भी नहीं जानी पड़ती, पर बाह्य व्यवहार में अपने को आप कहने से यदि अहंकार की गंध समझिए तो यों समझ लीजिए कि जो काम अपने हाथ से किया जाता है और जो बात अपनी समझ स्वीकार कर लेती है उसमें पूर्ण निश्चय अवश्य ही हो जाता है और उसी के विदित करने को हम और आप तथा यह एवं वे कहते हैं कि 'हम आप कर लेंगे' अर्थात कोई संदेह नहीं है कि हमसे यह कार्य सम्पादित हो जायगा। 'हम आप जानते हैं', अर्थात् दूसरे के बतलाने की आवश्यकता नहीं है, इत्यादि।

महाराष्ट्रीय भाषा के आपा जी भी उन्नीस विस्वा आप्त और आर्य के मिलने से इस रूप में हो गए हैं, तथा कोई माने या न माने, पर हम मना सकने का साहस रखते हैं कि अरबी के अब्ब (पिता, बोलने में अब्बा) और योरोपीय भाषाओं के पापा (पिता) पोप (धर्म-पिता) आदि भी इसी आप से निकले हैं। हाँ इसके समझने समझाने में भी जी ऊबे तो अँगरेजी के एबाट (Apat महंत) तो इसके हई है, क्योंकि उस बोली में ह्रस्व और दीर्घ दोनों प्रकार का स्थानपन्न A है, और पकार का बकार से बदल लेना कई भाषाओं की चाल है। रही टी (T) सो वह तो "तकार" हई है। फिर क्या न मान लीजिएगा कि एबाट साहब हमारे 'आप' बरंच शुद्ध आप्त से बने हैं !

हमारे प्रांत में बहुत से उच्च वंश के बालक भी अपने पिता को अप्पा कहते हैं, उसे कोई 2 लोग

समझते हैं कि मुसलमानों के सहवास का फल है। पर उनकी यह समझ ठीक नहीं है। मुसलमान भाइयों के लड़के कहते हैं अब्बा और हिंदू संतान के पक्ष में 'बकार' का उच्चारण तनिक भी कठिन नहीं होता, यह अँगरेजों की तकार और फारस वालों की टकार नहीं है कि मुँह से ही न निकले, और सदा मोती का मोटी अर्थात् स्थूलांगी स्त्री और खस की टट्टी का तत्ती अर्थात् गरम ही हो जाय। फिर अब्बा को अप्पा कहना किस नियम से होगा ! हाँ आप्त से आप और अप्पा तथा आपा की सृष्टि हुई है, उसी को अरबवालों ने अब्बा में रूपांतरित कर लिया होगा। क्योंकि उनकी वर्णमाला में "पकार" (पे) नहीं होती।

सौ बिस्वा बप्पा, बाप, बाबू, बब्बा, बाबा, बाबू आदि भी इसी से निकले हैं क्योंकि जैसे एशिया की कई बोलियों में 'पकार' को 'बकार' व 'फकार' से बदल देते हैं, जैसे पादशाह-बादशाह और पारसी-फारसी आदि, वैसे ही कई भाषाओं में शब्द के आदि में बकार भी मिला देते हैं, जैसे वक्ते शब बवक्ते शब तथा तंग आमद-बतंग आमद इत्यादि, और शब्द के आदि को ह्रस्व अकार का कोप भी हो जाता है, जैसे अमावस का मावस (सतसई आदि ग्रंथ में देखो) ह्रस्व अकारांत शब्दों में अकार के बदले ह्रस्व वा दीर्घ उकार भी हो जाती है, जैसे एक-एकु, स्वाद-स्वादु आदि। अथच ह्रस्व को दीर्घ, दीर्घ को ह्रस्व अ, इ, उ आदि की वृद्धि वा लोप भी हुवा ही करता है, फिर हम क्यों न कहें कि जिन शब्दों में अकार और पकार का संपर्क हो, एवं अर्थ से श्रेष्ठता की ध्वनि निकलती हो वह प्रायः समस्त संसार के शब्द हमारे आप्त महाशय वा आप ही के उलट-फेर से बने हैं।

अब तो आप समझ गए न कि आप क्या हैं ? अब भी न समझो तो हम नहीं कह सकते कि आप समझदारी के कौन हैं ? हाँ, आप ही को उचित होगा कि दमड़ी छदाम की समझ किसी पंसारी के यहाँ से मोल ले आइए, फिर आप ही समझने लगिएगा कि "आप को हैं ? कहाँ के हैं ? कौन के हैं ?" यदि यह भी न हो सके और लेख पढ़ के आपे से बाहर हो जाइए तो हमारा क्या अपराध है ? हम केवल जी में कह लेंगे "शाब ! आप न समझो तो आपा को के पड़ी छै।" ऐं ! अब भी नहीं समझे ? वाह रे आप !*

खं० 9 सं० 8 (मार्च, ह० सं० 9)

सुचाल शिक्षा

यों तो मानव जीवन को अलंकृत करने के लिए विद्या बल धन प्रतिष्ठादि सभी उत्तम गुण आवश्यक हैं पर सबसे अधिक वांछनीय एवं प्रयोजनीय पदार्थ सच्चरित्रता है। यदि और बात किसी कारण विशेष से न भी प्राप्त हो सकें तो अकेले इसी गुण के द्वारा मनुष्य अपने तथा दूसरों के अनेकानेक उपकार कर सकता एवं सुख और सत्कीर्ति के साथ जीवनयात्रा समाप्त करके दूसरों के लिए सत्पथावलंबन के

* 'निबंध-नवनीत' से उद्धृत।

हेतु अपना चिरस्थायी अथच आदरणीय नाम छोड़ जाने को शक्तिमान हो सकता है । इसी से वेद में आज्ञा है कि 'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि', अर्थात् उपदेष्टागण शिष्यवर्ग से कहें कि हम लोगों के जितने उत्तम काम हैं उन्हीं को ग्रहण करना तुम्हें उचित है, अन्य कर्मों को नहीं और ऐसे ही उपदेशों की प्रथा के कारण पूर्वकाल में यहाँ लक्षावधि महात्मा ऐसे हो गए हैं जिनकी सुयशकथा आज भी देश-देशांतरस्थ सहृदयसमूह के कानों और प्राणों को आनंदित करती रहती हैं, पर बड़े खेद और आक्षेप का विषय है कि इन दिनों भारत में ऐसे लोग बहुत ही थोड़े देखने सुनने में आते हैं जिनके चरित्रों पर विचारवानों को सचमुच की श्रद्धा उत्पन्न हो सके ।

साधारण लोगों का तो कहना ही क्या है, जिन लोगों ने वर्षों विद्याध्ययन करके बड़ी 2 पदवियाँ प्राप्त की हैं उनके भी चाल चलन अधिकतर ऐसे नहीं हैं कि दूसरों के लिए उदाहरण बनाने के योग्य हों । इसके यद्यपि कई कारण हैं पर उनमें से एक बड़ा कारण यह भी है कि उन्हें पढ़ने लिखने के समय वह बातें नहीं सिखलाई जातीं जिनसे उनके हृदय में यह संस्कार दृढ़स्थायी हो जाय कि ईश्वर ने मनुष्य को केवल कमाने खाने की चिंता में फँसे रहने के लिए नहीं बनाया । बुद्धिमानों ने जो इसे सृष्टि का शिरोमणि 'अशर फुल मखलूकात' कहा है सो इस आशय से नहीं कि या तो आहार निद्रादि ही में जन्म बिता दे अथवा कुछ प्रभाव दिखलावे भी तो 'विद्या विवादाय धनम्मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय' का उदाहरण बन के नहीं । यदि हमने यह न जाना कि अपने तथा दूसरों के लिए हमें किस 2 रीति से क्या 2 कर्तव्य है तो हमारा दूसरै जीवों से उत्तम बनना वृथा है ।

बस यही सिखलाने के उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गई है । यदि इसमें लिखी हुई बातें हमारे देश के नवयुवकों के हृदय में स्थान प्राप्त कर सकें तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे और ईश्वर की दया से उनका भी जन्म सफल होगा । किमधिकम् ।

पढ़ना और गुनना

इसमें कोई संदेह नहीं है कि पढ़ना बहुत ही अच्छी बात है, क्योंकि विद्या के बिना मनुष्य में और पशु में कोई भेद नहीं रहता । जो लोग पढ़े लिखे नहीं हैं वे चाहे जैसे धनी क्यों न हों पर अपने छोटे 2 कामों के लिए दूसरों का मुँह ताका करते हैं, बरंच व्यय करने की ठीक रीति न जानने के कारण थोड़े ही दिनों में सारी जमा जथा खो बैठते हैं और फिर तीन चार रुपए महीने की नौकरी के लिए इधर-उधर मारे 2 फिरने लगते हैं, तथा जिनके पास धन नहीं है और पढ़ना लिखना भी नहीं आता उन्हें तो बड़ी ही कठिनता के साथ जीवन बिताना पड़ता है । केवल सूखी रोटी से अपना तथा कुटुम्ब का पेट भरने के लिए गाड़ी खींचने, बोझा ढोने वाले इत्यादि की दशा देख के किसको निश्चय न होता होगा कि 'विद्या विहीनः पशुः' ! बरंच पशु तो बहुत से होते हैं जो अपने नख दन्तादि की तीक्ष्णता के कारण अपनी जाति के राजा कहलाते हैं । सिंह का नाम मृगराज वा ब़नराज इसी से प्रसिद्ध है कि वह अपने

बल और फुर्ती के कारण सारे पशुओं को दबा देता है ।

इसके अतिरिक्त कितने ही पशुओं के दूध गोबर आदि से लाखों लोगों का उपकार होता है। कितनों ही के स्वादिष्ट एवं बलकारक मांस अथवा सुंदर चर्म, लोम, नख इत्यादि बहुतेरों के बहुत काम आते हैं । यह भी न हो तो उन्हें अपने निर्वाह के लिए केवल थोड़ी सी घास भूसा इत्यादि बस हैं। शीतोष्ण से बचने को उनका शरीर ही वस्त्रादि से सज्जित है, पर मनुष्य में यह कोई बात नहीं होती, उसके शरीर का कोई अवयव किसी काम का नहीं । केवल विद्या बुद्धि और सुचाल ही से उसकी प्रतिष्ठा है । यदि वह न हुई तो उसकी दशा पशु से भी गई बीती है इससे विद्या के लिए परिश्रम करना मनुष्य मात्र का मुख्य कर्तव्य है । क्योंकि वह विद्या ही है जो हृदय की आँखें खोलती है, घर बैठे समस्त भूगोल और खगोल के कौतुक दिखाती रहती है । लाखों वर्ष की बीती हुई घटना आँखों के आगे ला रखती है । विपत्ति से बचे रहने और देशकाल पात्रादि के अनुकूल आचरण करने का मार्ग बतलाती है तथा संसार के समस्त सुखों का तो कहना ही क्या है, परमानंदमय परमेश्वर तक की प्राप्ति में सहारा देती है । पर स्मरण रखना चाहिए कि इस दिव्य रत्न का मिलना तभी तक संभव है जब तक लड़कपन है और सब प्रकार का संभार करने वाले माता पिता जीते जागते हैं । जिस समय अपना निर्वाह अपने हाथ करना पड़ता है और संसार भर की चिंता शिर पर आ पड़ती है उस समय कोई लाखों में एक ही ऐसा भाग्यवान होता है जो विद्या प्राप्ति का अवसर पा सके, नहीं तो दिन रात घर बाहर के धंधों से अवकाश कहाँ । इसी से बुद्धिमानों का सिद्धांत है कि जिसने बाल्यावस्था में विद्या न पढ़ी, इस सुअवसर को खेल कूद में बिता दिया, उसने अपना जीवन अपने हाथों नष्ट कर दिया । पर हमें इस बात से प्रसन्नता है कि हमारी इस पुस्तक के पाठक ऐसे नहीं हैं ।

हाँ, यदि पढ़ने लिखने में अब से विशेष मन लगावैं और अधिक परिश्रम करें तो और भी उत्तम है । इसका फल प्रत्यक्ष देखने में आवैगा कि केवल शिक्षक और माता पिता प्रसन्न ही नहीं होते तथा सहपाठियों में प्रतिष्ठा ही नहीं मिलती बरंच अपना हृदय भी एक प्रकार का अकथनीय स्वादु पाता है। किंतु इसके कारण यह भी समझे रहना चाहिए कि केवल पढ़ने ही से काम न चलेगा । उसके साथ गुनने की भी आवश्यकता है । नहीं तो उसी कहानी की सी गति होगी कि एक महाशय ने ज्योतिष बहुत दिन पढ़ी थी किंतु बुद्धि से काम लेना न जानते थे । उन्हें किसी राजा ने बुलाया और अपनी मूँठी में अँगूठी ले के पूछा कि बताइए तो हमारे हाथ में क्या है ? आपने गणित करके कहा कि कोई गोल 2 वस्तु है और उसके मध्य में छिद्र है तथा किसी धातु एवं पाषाण से निर्मित हुई है । राजा ने यह सुन विस्मित हो के कहा—निस्संदेह तुम्हारा परिश्रम प्रशंसनीय है । लक्षण सब मिलते हैं । भला यह तो कहिए कि वह है क्या पदार्थ ? तो विद्वान् महापुरुष ने उत्तर दिया— 'चक्की का पेहान है, और क्या है !'

इस कथा का यह अभिप्राय है कि जो लोग परीक्षा में उत्तीर्ण होने तथा बड़ी 2 वृत्ति अथवा पदवी पाने के लालच से बहुत सी पोथियाँ रट डालते हैं पर उनमें लिखी हुई बातों को भले प्रकार काम में लाने तथा दूसरों को अच्छी रीति से समझा सकने का प्रयत्न नहीं करते वे विद्या के पूर्ण फल से बंचित रहते हैं । इसी से प्राचीनों का वचन है कि एक मन विद्या के साथ दस मन बुद्धि चाहिए । अर्थात् पढ़ो चाहे थोड़ा पर गुनौ बहुत । जो कुछ पढ़ो उसमें भली भाँति बुद्धि दौड़ा के एवं दूसरे अनुभवशीलों के साथ संलाप करके उसके विषय को यहाँ तक हृदयस्थ तथा अभ्यस्त कर लो कि किसी प्रकार की त्रुटि का संदेह न रहने पावे । बहुतेरे लोग ऐसे हैं कि पढ़े लिखे तो इतना हैं कि उन्हें किताबों का कीड़ा

कहना चाहिए पर अभ्यास में इतने कच्चे हैं कि अपनी जानी हुई बातें दूसरों के आगे प्रकाश ही नहीं कर सकते, अथवा दूसरों को दिन रात समझाया करते हैं किंतु अपने आचरण द्वारा दिखला तनिक भी नहीं सकते ।

ऐसे लोग उस योद्धा के समान हैं जो हाथ में उत्तम शस्त्र लिए हुए है, पर न उसका चलाना जानता है, न चलाने की सामर्थ्य रखता है । सच पूछो तो ऐसे लोगों से विद्या की विडंबना होती है, और ऐसे ही लोगों को देखकर साधारण लोगों ने यह कहावत प्रसिद्ध कर ली है कि 'बहुत पढ़ने से मनुष्य पागल हो जाता है !' नहीं तो पढ़ लिखकर भी जिसने अपनी चाल चलन न सुधारी, अपनी चतुरता और अनुभवशीलता से दूसरों के लिये उदाहरण बनने का उद्योग न किया, उसने पढ़ के क्या फल पाया !

इसी से कहा गया है कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात् करण के बिना किसी विद्या की सिद्धि नहीं होती । अतः जो कुछ भी सिखलाने वाले सिखावैं उसे भली भाँति मन लगा के पहिले सुनो फिर अपनी बुद्धि से उसका विचार करो । विचार में जो कोई भ्रम उत्पन्न हो तो अपनी तथा दूसरे श्रेष्ठ पुरुषों की सम्मति से उसे दूर करो और फिर प्रत्येक निश्चित विषय पर पूरा अभ्यास करते रहो । इसी को पढ़ना और गुनना कहते हैं । और जो बालक पढ़ने और गुनने में उत्साह रखते हैं वही सुख एवं सुयश देने वाली शिक्षाओं के सुयोग्य पात्र हैं अथच युवावस्था में वही सत्पुरुष वा पुरुषरत्न कहे जाने के योग्य हो सकते हैं ।

नित्य कर्म

सबेरे उठकर रात को सो रहने के समय तक प्रायः जो काम प्रतिदिन सबको करने पड़ते हैं वे नित्य कर्म कहलाते हैं । सोना, जागना, उठना, बैठना, खाना, पीना, चलना और फिरना इत्यादि नित्य कर्म हैं । इन्हें सभी लोग सदा ही करते रहते हैं और देखते हैं कि इनके बनने बिगड़ने से विशेष लाभ अथवा हानि भी बहुधा नहीं होती, इससे साधारण लोग इन पर विशेष ध्यान नहीं रखते, क्योंकि वे इन्हें साधारण वा छोटे 2 काम समझते हैं । पर विचार कर देखिए तो हमारे जीवन का अधिकांश इन्हीं पर निर्भर है । बड़े 2 काम तो कभी ही कभी किसी ही किसी को करने पड़ते हैं । अतः इन नित्य के कामों को तुच्छ समझकर इनकी उपेक्षा करना बुद्धिमानी से दूर है । अनुभवशील विद्वानों का सिद्धांत है कि जो पुरुष छोटे 2 साधारण 2 कार्यों को सावधानी और उत्तमता से करते रहने का अभ्यास रखता है वही काम पड़ने पर बड़े 2 कामों को उत्तम रीति से निबाह सकता है । नहीं तो नित्य के आहार बिहारादि का नियम ठीक न रहने से शरीर का बल घट जाता है, काम करने का अभ्यास जाता रहता है और बुद्धि की तीव्रता का ह्रास हो जाता है । इसी से जब कोई नया और कठिन काम आ पड़ता है तो जी ऐसा घबराने लगता है मानो किसी ने शिर पर पहाड़ ला के रख दिया । एवं ऐसी दशा में यदि ज्यों त्यों कर पूरा भी हो गया तो उत्साह के साथ होना संभव नहीं, क्योंकि हमारा जीवन सृष्टिकर्ता ने एक

भवन के समान बनाया है। जैसे भवन के सुंदर 2, बड़े 2, कोठे बरोठे आदि छोटी 2 ईंट अथवा पत्थर इत्यादि से बनते है वैसे ही हमारे जीवन के बड़े 2 कार्य इन्हीं नित्य के छोटे 2 कामों के मध्य वा यों कहो इन्हीं के द्वारा संघटित होते हैं। यदि ईंट पत्थर लकड़ी आदि दृढ़ एवं उत्तम न हों तो घर की दृढ़ता और उत्तमता असंभव है। इसी प्रकार यदि हमारे नित्य के व्यवहार उत्तम रीति से नियमबद्ध न हुए तो नैमित्तिक कार्यों का यथोचित रूप से पूर्ण होना अनिश्चित समझना चाहिए। इससे जो लोग अपने जीवन की सार्थकता के हेतु चाहते हैं कि दो चार स्मरणीय कार्य कर जायँ उन्हें उचित है कि अपने प्रत्येक काम पर प्रतिक्षण ध्यान रक्खा करें। जो कुछ करें बंहुत सोच बिचार के करें जिसमें यथासामर्थ्य कोई काम ऐसा न होने पावे जो बुद्धिमानों के ठहराए हुए नियमों के विरुद्ध हो। वे नियम प्रायः पढ़ने लिखने वालों से छिपे नहीं हैं। पर स्मरण दिलाने की भाँति हम यहाँ पर संक्षेप से लिख देना उचित समझते हैं।

सोकर उस समय उठना चाहिए जब घंटा डेढ़ घंटा रात्रि शेष रहे। और उठते ही वाह्य के लिये न दौड़ने चाहिए किंतु दश पाँच मिनट ठहर के आलस्य को निवारण करके जाना उचित है। फिर हाथ मुँह भली भाँति धो के नीम, करंज अथवा बबूल की दातून से मुख शुद्ध करके यदि शीत अधिक न हो तो उसी समय दो चार मिनिट के उपरांत स्नान भी कर लेना उचित है, नहीं तो नौ दस बजे के करीब स्नान करना भी दूषित नहीं है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि नहाने के लिये घर के कुएँ की अपेक्षा गंगा जमुनादि बड़ी नदियाँ अत्युत्तम हैं, पर यदि इनका मिलना कठिन हो तो कुआँ ही का जल सही, पर हो ताजा और मीठा। जाड़े के दिनों में गरम पानी से नहाना भी बुरा नहीं है, पर इतना गरम न होना चाहिए कि सहा न जाय, नहीं तो मस्तिष्क और नेत्र को बड़ा हानिकारक होता है।

स्नान के आधे घंटा पहिले तिल्ली, नारियल अथवा सरसों का तेल शिर और शरीर में लगाना बड़ा गुणकारक है तथा सुगंधित साबुन भी यदि मिल सके तौ नित्य नहीं दूसरे चौथे दिन अवश्य लगाना चाहिए, एवं नहाना भी बहुत से जल से भली भाँति शिर से उचित है। तदनंतर स्वच्छ अथच कोमल वस्त्र से देह अच्छे प्रकार पोंछ के यदि अपनी जाति और समाज में चाल हो तो श्वेत चंदन (जाड़े में केसरयुत) अथवा भस्म बहुत सी मस्तक और वक्षस्थलादि पर लगाना आरोग्यबर्द्धक है। यह काम सूर्योदय के लगभग पूरे करके नगर के बाहर मैदान वा वाटिका की स्वच्छ वायु सेवन के लिये निकल जाना चाहिए। निरोग रहने के निमित्त यह यत्न बहुत ही उत्तम है।

सद्वैद्यों का विचार है कि प्रातःकाल की पवन स्वर्गीय पवन है। उसकें द्वारा जीवधारियों के तन और मन प्रफुल्लित होते हैं। इसके अतिरिक्त स्नान करने के उपरांत अथवा दो तीन घंटा पहिले व्यायाम भी कर्तव्य है। पर इतना ही मात्र जितने में बहुत थकाहट न जान पड़े। अनुभवी लोगों का बचन है कि कम से कम पाँच अधिक से अधिक चालीस तक डंड मुगदर बैठक करना चाहिए। और इसके उपरांत जब तक भली भाँति थकावट दूर न हो जाय कुछ भी खाना पीना उचित नहीं है। केवल स्वच्छ वायु में दौड़ते वा टहलते रहना चाहिए। इस अवसर पर यदि अच्छी चिकनी सुगंधित मट्टी लोटने को मिले तो अत्युत्तम है। इसके अनंतर भोजन का समय है। एक तो सात आठ बजे कुछ थोड़ा सा दूध अथवा मिठाई आदि खाना चाहिए, फिर दस बजे से बारह बजे तक दाल रोटी पूरी तरकारी आदि, पुनः तीन चार बजे थोड़ा ही सा फल फलारी वा मिठाई आदि और फिर सोने से डेढ़ घंटा पहिले दाल रोटी आदि।

खाने पीने में इतना विचार अवश्य रखना चाहिए कि खाद्य पदार्थ शीघ्र पचने वाले और बलकारक हों। बासी एवं बहुत गरम अथवा बहुत ठंडे न हों। कच्चे और जले हुए भी न हों। इसके सिवा जब तक एक बार का खाया हुआ भली भाँति पच न जाय तब तक कुछ खाना उचित नहीं है और खाने से निवृत्त होना उस समय योग्य है जब कुछ भूख बनी रहे। भोजन के उपरांत थोड़ी देर बाईं करवट लेट रहना अथवा कुछ काल धीरे 2 टहलना और तीन चार बार थोड़ा 2 पानी पीना पाचनशक्ति के लिए बड़ा उपयोगी है। प्रत्येक ऋतु में उत्पन्न होने वाले शाक फल तथा सब प्रकार के अन्न भी स्वास्थ्य को बढ़ाते हैं। अतः इन्हें भी थोड़ा बहुत खाते रहना चाहिए। बहुत लोग स्वास्थ्य रक्षा के विचार से बहुत से पदार्थ छोड़ देते हैं, यह उचित नहीं है। मादक पदार्थ छोड़ के और सभी वस्तु के खाने का अभ्यास रखना चाहिए नहीं तो संयोगवशतः जब कभी कुछ खाने में आता है तब एक तो अवगुण विशेष करता है, दूसरे चित्त को भ्रमात्मक कष्ट उपजाता है इससे उत्तम यही है कि विकार करने पर छोड़ भले ही दे, पर खाए सब जायँ। विशेषतः इस देश के लिये घृत और दुग्ध सर्वोत्तम खाद्य हैं। इसलिए इन्हें अवश्य ही प्रतिदिन खाना चाहिए। और जहाँ तक हो सके उत्तम से उत्तम ढूँढ़ के लाना चाहिए। यदि किसी कारण से पच न सके तो थोड़े ही थोड़े से अभ्यास बढ़ाना चाहिए अथवा किसी युक्त से खाना चाहिए। वैद्यों का मत है कि यदि दूध न पचता हो तो चूने का पानी[1] मिला के पिया करे और घी न पचे तो दाल में डाल के वा गूँथने के समय आटे में छोड़ के खाए। इसी रीति से अवश्य पचने लगेगा।

इन नियमों के साथ ही इसका भी बहुत ध्यान रखना चाहिए कि खाने तथा सोने और बैठने आदि का स्थान, पहिनने ओढ़ने बिछाने आदि के कपड़े, खाने पीने आदि के बरतन सदा स्वच्छ रहें। इनमें किसी घृणाकारक और दुर्गंधप्रसारक पदार्थ का संपर्क न होने पावे। बरंच जिधर ऐसी वस्तुओं की संभावना हो उधर जाना भी उचित नहीं है। बस, दिन के काम यही हैं। अब रहे रात्रि के कर्तव्य। उसका नियम यों है कि संध्या समय से अर्थात् सूर्यास्त के कुछ पहिले से पढ़ना लिखना वा पड़े बैठे रहने का स्वभाव छोड़ देना चाहिए। नगर के बाहर वा ऐसे स्थान पर चले जाना उचित है जहाँ के प्राकृतिक दृश्य मन और नयन को सुख देते हों। वहाँ दौड़ना उछलना गाना आदि बलकारक एवं प्रमोद विस्तारक कर्म भी अवश्य करना चाहिए। इनसे तन और मन में फुर्ती आती है। फिर वहाँ से लौटकर श्रम की निवृत्ति के उपरांत भोजन करके नौ दस बजे तक सो रहना चाहिए। सोने के कुछ ही पहिले दो चार भूनी हुई हर्रें लोन के साथ खाना अथवा दूध पीना भी आवश्यक है। और इस बात की तो बड़ी ही भारी आवश्यकता है कि दिन भर के कामों का स्मरण करके यह विचार लिया जाय कि कौन काम अच्छा बन पड़ा है कौन बुरा, तथा कल से किस 2 काम को छोड़ देने और किस 2 का विशेष यत्न करने में कटिबद्ध रहना चाहिए।

रात्रि को पढ़ना लिखना नेत्रों के लिये हानिकारक है, पर यदि बड़ी ही आवश्यकता हो तो सरसों अथवा अरंड के तेल की उजियाली में पढ़ लिख ले। किंतु उतने ही काल तक जितने में आँखों में झिलमिलाहट न आवै। यों ही सोते से उठकर जल पीना भी दूषित है। पर यदि बहुत ही प्यास हो तो नाक के निश्वास को रोक के थोड़ा सा पी ले किंतु यह स्मरण रक्खे कि ऐसा काम करना महा

1. चूने का ढेला पानी में डाल दो। जब चूना गल जाए और पानी में उसका रंग तनिक भी न रहे वही चूने का पानी कहलाता है।

निषिद्ध है जिसके कारण नींद भूख प्यास आदि नित्य की अपेक्षा अधिक सतावै वा इनके रोकने की अधिक आवश्यकता पड़े । क्योंकि प्रकृति के किसी वेग को रोकना ही सब बिकारों का मूल है ।

बस इन नित्य कर्मों के नियम न बिगड़ने पावैं तो कभी किसी रोग की संभावना नहीं है । यदि ऋतु आदि के बिकार से कुछ हुआ भी तो इतनी हानि न पहुँचावैगा जितनी नियम के विरुद्ध चलने वालों को होती है । इससे इनके साधन में सदा सर्वथा सावधान रहना चाहिए और निर्वाहोपयोगी कार्यों में आलस्य तथा दूसरों की प्रतीक्षा न करनी चाहिए । इस प्रकार के स्वभाव बहुत ही बुरे हैं कि प्यासे बैठे हैं, जब सेवक अथवा छोटा भाई ही पानी ले आवै तो पिएँ । नहीं, सब काम सदा अपने हाथ से करने में उद्यत रहना चाहिए तभी शरीर नीरोग, मन और बुद्धि स्फूर्तिमती रहेगी । फिर बस जो करना चाहिएगा आनंद से कर लीजिएगा और जो काम आ पड़ेगा सहज ही सा जान पड़ेगा । क्योंकि देह की शिथिलता और परिश्रम का अनभ्यास न होगा तो किसी काम में बाधा नहीं पड़ सकती । इसी से सब बातों के पहिले नित्य कर्म को नियमबद्ध रखना परमावश्यक है ।

साधारण व्यवहार

नित्यकर्मों के साथ साधारण व्यवहारों पर भी बहुत ही ध्यान रखना चाहिए । इनका भी नियम भंग होने से यद्यपि साधारणतः कोई बड़ी हानि नहीं देख पड़ती, पर वस्तुतः है बहुत ही बुरा । एक न एक दिन इस रीति की उपेक्षा के कारण कोई आत्मिक, शारीरिक वा सामाजिक क्षति ऐसी होती है कि जिसका चिरकाल तक चित्त को खेद बना रहता है । इसलिए जो लोग अपने जीवन को उत्तम बनाया चाहते हैं, उन्हें इस विषय में सावधान रहना उचित है । यह सावधानता अपने तथा अपने संबंधियों के मन की प्रसन्नता और समय पड़ने पर परस्पर का साहाय्य प्राप्ति का बड़ा भारी अंग है । साधारण व्यवहार से हमारा अभिप्राय उन कामों से है जो हमें नित्य अथवा बहुधा दूसरों के साथ करने पड़ते हैं । उनका नियम भी प्रायः सभी पढ़ने लिखने वाले तथा पढ़े लिखे लोगों की संगति में रहने वाले जानते हैं, पर केवल जानने ही से कुछ नहीं होता, इसलिए हमारे पाठकों को उनका पूर्ण अभ्यास रखना योग्य है । इसी से हम यहाँ पर लिखते हैं और आशा रखते हैं कि वाचकवृंद अपने बर्ताव में लावैंगे और कभी दैवयोग से चूक पड़ जाय तो आगे के लिए अधिक सावधानी रक्खेंगे ।

वे बातें ये हैं—अर्थात् अपने वेष और वाणी को ऐसा बनाए रहना चाहिए जिससे किसी को अश्रद्धा न उत्पन्न हो जाय । घर के भीतर वा जिन लोगों से सब प्रकार घरेऊ संबंध हैं उनके सामने फटे पुराने वा कुछ मैले कपड़े पहिने रहने में उतनी हानि नहीं है, पर घी तेल पसीना अथवा बरसाती सील की गंध उनमें भी न होनी चाहिए, नहीं तो अपना और मिलने वाले का मस्तिष्क क्लेश पावेगा । ऐसे अवसर पर हस्तपदादि का खुला रहना भी दूषित नहीं है, पर यदि कहीं पर कोई घृणाकारक घाव या फोड़ा इत्यादि हो, तो आत्मीयों के सम्मुख भी उन्हें छिपाए ही रहना चाहिए । हाँ, घर से बाहर थोड़ी

दूर भी जाना हो तो शिर, पाँव, पेट, पीठ सब स्वच्छ वस्त्रों से आच्छादित रखना उचित है, जिसमें ऐसा कहने का अवसर न पड़े कि कपड़े अच्छे नहीं हैं फिर अमुक के यहाँ क्यों कर जायँ ? नहीं ! जब बाहर निकलें तो सब कहीं जाने के योग्य वस्त्र रहने चाहिए । यहाँ यह भी स्मरण रखना योग्य है कि वस्त्रों की अच्छाई केवल स्वच्छता और निज सामर्थ्य की अनुकूलता पर निर्भर है, न कि बहुमूल्यता पर ।

जाति की चाल और घर की दशा जैसी हो वैसे ही कपड़े प्रतिष्ठा के लिए बस हैं अधिक दाम यदि भोजन में लगाए जायँ तो शरीर की पुष्टि होती है किंतु वस्त्रों के लिए व्यर्थ किये जायँ तो तुच्छता है । जबकि पिता माता भाई आदि साधारण कपड़े पहनते हैं तब हमारा बाबू बने फिरना व्यर्थ ही नहीं, बरंच लज्जास्पद है । हाँ, फटे और मैले तथा दुर्गंधित वस्त्र न हों, बस । और इनके साथ ही छड़ी, छाता, जूता आदि का भी ध्यान रहे । शीतोष्ण वर्षा तथा अँधेरे उज्जाले में इनका भी काम पड़ता है । इसलिए सामर्थ्य के अनुकूल यह भी चाहिए । बरसते में अथवा कड़ी धूप में इनके बिना भी चल देना कष्टकारक और हीनता प्रदर्शक है, इससे सावधानी के साथ रहना उचित है, किंतु गरमी सरदी आदि सहने का भी अभ्यास बना रहे तो अत्युत्तम है ।

इसके अतिरिक्त बोलचाल अथवा बर्ताव पर ध्यान रखना उचित है अर्थात् झूठी, कठोर, गर्वपूर्ण और लज्जा, घृणा तथा अमंगल प्रकाश करने वाली बातें कभी किसी के प्रति न निकालनी चाहिए । यहाँ तक कि जो लोग जाति और पद आदि में नीच हैं उनसे भी तिरस्कारसूचनार्थ भी सज्जनता ही के साथ बोलना योग्य है । विशेषतः जो अवस्था, प्रतिष्ठा, विद्या, अनुभवशीलता, जाति अथच पदवी में अपने से श्रेष्ठ हों, उनके सम्मुख बहुत सँभालकर बातचीत करना चाहिए । नम्रता, स्नेह और आदर से भरी हुई बातें मधुर और गंभीर स्वर से मुख पर लानी चाहिए । यदि उनका कोई वाक्य अपने विचार के विरुद्ध हो तो भी हठ न करके उनकी श्रेष्ठता रक्खे हुए जिज्ञासु की भाँति अपना अभिमत प्रकट करना योग्य है । वे रोष प्रकाश करें तथापि शिष्टता ही से उत्तर देना चाहिए और कोई हास्य की बात कर समता द्योतन करें तथापि उत्तर देना, हास्य तथा बराबरी दिखलाना अनुचित है । हाँ, मित्रों के साथ बराबरी और परिहास करना दूषणीय नहीं है, पर वहीं तक कि उनकी और अपनी योग्यता बनी रहे तथा उनका कोई सच्चा दोष न प्रकाशित हो एवं उन्हें उत्तर देने में संकोच वा लज्जा न लगे ।

इसके अतिरिक्त साधारण परिचय वालों से भी उपर्युक्त ही रीति से वार्तालाप करना चाहिए किंतु इतना विचार और भी रखना योग्य है कि अपनी विद्वत्ता दिखलाने को ऐसे शब्द न बोलने चाहिए जो वे समझ न सकें और ऐसी बातें भी जिह्वा पर न लानी चाहिए जिनसे किसी प्रकार की अपनी वा उनकी हीनता प्रगट हो वा खुशामद पाई जाय । यह नियम तो दो जनों के बीच में बोलने बतलाने के हैं, पर जब सौ दो सौ मनुष्यों के मध्य बोलना पड़े तो इतनी विशेषता चाहिए कि स्वर इतना ऊँचा अवश्य रहे कि सब कोई भली भाँति सुन ले और बात वही निकले जिसको सिद्ध कर देने की पूरी सामर्थ्य हो तथा जिसका प्रभाव आधे से अधिक लोगों के जी पर हो सके । यदि इतनी क्षमता न हो, तो चुपचाप बैठे रहना वा धर्म्म और राजा प्रजा का विरोध न होता हो, तो अधिकतर लोगों की हाँ में हाँ मिला देना ही बहुत है । इन दोनों अवसरों पर किसी की बात काट के बोल उठना वा प्रयोजन से अधिक बोलना भी अनुचित है । बस, अब रहा बर्ताव का ढंग, वह यों है कि सबसे अधिक प्रीति और निश्छलता तो अपने कुटुम्बियों के साथ रखनी चाहिए, इनके हित में सदा सब प्रकार तन मन धन से उद्यत रहना चाहिए, इनके सामने

सारे संसार का संकोच छोड़ देना उचित है तथा नीतिमान राजा, सदाचारी गुरु और निष्कपट मित्रों को भी इन्हीं के समान जानना योग्य है । इनसे उत्तर के सहवासियों और सजातियों से स्नेह कर्तव्य है ।

इसके उपरांत स्वदेशियों और फिर यावज्जगत का भला मनाना चाहिए । यों बड़ी 2 बातें बनाना और बात है पर सचमुच का बर्ताव इसी रीति से हो सकता है, इसलिए अभ्यास में भी यही ढंग अच्छा है । बस, इस पर दृष्टि रक्खे हुए जो कुछ कीजिए, इस प्रकार कीजिए, किसी आत्मीय वा परिचित व्यक्ति पर उस कार्य का भार मत रखिए जो अपने किए हो सकता हो । किसी से इतना हेल मेल न बढ़ाइए जो सदा न निभ सकै । किसी को उन बातों के पूछने में हठ न कीजिए जिन्हें वह छिपाया चाहता हो, किसी के साथ कोई उपकार कीजिए तो पलटा वा प्रशंसा पाने की मनसा से न कीजिए । किसी को अयोग्य स्थान पर बैठे वा खड़े हुए देखिए तो उस समय मुँह फेर लीजिए । किसी में कोई दोष देखिए तो घृणा न कीजिए बरंच प्रीतिपूर्वक सुमार्ग में लाने का यत्न कीजिए । किसी का तब तक विश्वास वा अविश्वास न कर लीजिए जब तक दश पाँच बेर परीक्षा न मिल जाय । किसी की निंदा सुनकर प्रसन्न न हूजिए, क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं है कि निंदक तुम्हें छोड़ देंगे ।

किसी का कोई लोक हितकारी काम करते देखिए तो उसकी प्रार्थना के बिना भी यथासाध्य सहायता कीजिए । कोई अपने आवै तो उसे आदर ही से लीजिए चाहे वह शत्रु भी हो । कोई अपनी ही दुर्बुद्धि वा दुष्कृति के कारण दुःख में पड़ा हो, तो भी उसे उपालम्भ की भाँति उपदेश न कीजिए, सामर्थ्य भर सहानुभूति ही दिखलाइए । कोई अपने साथ दुष्टता करे तो यदि उसके कारण धन और मान पर आँच न आती देख पड़े, तो क्षमा कर दीजिए । पर दूसरों के प्रति दुराचरण करते देखकर कभी उपेक्षा न कीजिए । कोई कुछ कहे तो सुन अवश्य लीजिए, पर कीजिए वही जो अपनी और चार अनुभवियों की समझ में अच्छा जान पड़े । कोई समझ बूझकर सदुपदेश न माने तो उसे शिक्षा देना व्यर्थ है । कोई किसी विषय में सम्मति माँगे वा पंच ठहरावै तो बहुत सोच विचार के उचित उपाय बतलाइए और बड़ी सावधानी से निर्णय कीजिए । कोई दो चार बार धोखा दे तो फिर उसे मुँह मत लगाइए चाहै वह कैसे ही पुष्ट प्रमाणों के साथ मित्रता दिखलावे ।

कोई मुँह पर स्पष्ट शब्दों में दोष वर्णन कर दे तो उस पर क्रोध न कीजिए, क्योंकि वह यद्यपि अशिष्टता करता है पर किसी समय उससे प्रवंचन की संभावना नहीं है । कोई रोग, विपत्ति वा उन्माद (नशा) की दशा में कुवाक्य कह बैठे तो उस पर ध्यान न दीजिए, क्योंकि वह अपने आपे में नहीं है । कोई उपहास वा विवाद की रीति से धर्म अथवा कुलरीति के विषय में कुछ पूछै तो कभी न बतलाइए । जिससे मित्रता हो उसके साथ लेन देन कभी न कीजिए । जिसके साथ नया 2 परिचय हुआ हो उससे निस्संकोच बर्ताव न कीजिए । जिससे किसी प्रकार का काम निकलता हो उसे रुष्ट करना नीति विरुद्ध है । जिसने एक बार भी उपकार किया हो उसका गुण सदा मानना चाहिए, बरंच प्रत्युपकार का समय आ पड़े तो कभी चूकना उचित नहीं । जिसका बहुत लोग सम्मान करते हों अथवा डाह करते हों पर कुछ कर न सकते हों उसके साथ यत्नपूर्वक जान पहिचान करनी योग्य है ।

जिसकी अवस्था वा दशा अपने से न्यून हो उसके सम्मुख अपने बराबर वाले से स्वच्छंद संभाषण न कीजिए । जिसके पेट में बात न पचती हो उसके आगे अपना वा मित्रों का कोई भेद न खोलिए । जिसको अपने लाभ के लिए पराई हानि का विचार न रहता हो उससे सदा दूर रहना उचित है । जिसके पास बैठने में लोकनिंदा वा खुशामदी कहलाने की शंका हो उससे प्रयोजन से अधिक कुछ संबंध न

रखना चाहिए। जिसका मन, वचन और कर्म एक सा हो, वह कोई हो, कैसी ही दशा में हो, पर है आदरणीय। जो काम आज के करने का है उसको कल के लिए छोड़ देना ठीक नहीं। जो कुछ अपने किए न हो सके वह यदि दूसरे भी न कर सकें तो उन पर हँसना न चाहिए। जो दोष हममें है वही यदि दूसरे में भी हो तो उसकी निंदा करना न्याय है। जो पुरुष अपने पुराने संबंधियों से खुटाई कर चुका हो उससे भलाई की आशा करनी मूर्खता है। जो बातें बीत गई हैं उनका हर्ष शोक वृथा है।

बुद्धिमान को वर्तमान और भविष्यत पर पूरी दृष्टि रखनी चाहिए। जो काम करना हो उसकी रीति और परिणाम पहिले विचार लेना उचित है। जो अपना कोई भेद न छिपाता तो उससे छल करना महा निषिद्ध है। जो सबकी हाँ में हाँ मिलाया करता हो उसे अच्छा समझना समझदारी नहीं है। जो किसी स्त्री अथवा बालक पर कठोराचरण करे उसे राक्षस समझना चाहिए। जो धर्म न्याय वा पराए हित का मिष करके अधर्म अन्याय अथवा स्वार्थ साधन करे, उसको दूसरे पापी अन्यायी और स्वार्थपरायणों से अधिक तुच्छ जानना उचित है। धन, बल, मान और समय का छोटे से छोटा भाग भी व्यर्थ न खोना चाहिए। स्वास्थ्यरक्षा के लिए धन और गौरवरक्षा के हेतु जीवन का मोह करना अनुचित है। प्रबल दुष्ट के हाथ से किसी निरपराधी को बचाने के निमित्त झूठ बोलना या छल करना अयोग्य नहीं है। दूसरों के साथ हमें वैसा ही बर्ताव करना चाहिए जैसा हम चाहते हैं कि वे हमसे करें। जब किसी काम से भी उकता जाय तो कुछ काल के लिए उसे छोड़कर मनबहलाव में संलग्न होना योग्य है।

निर्धनों और बिन पढ़ों को तुच्छ समझना बड़ी भूल है, उन्हें प्रीतिपूर्वक उनके हित की बातें बतलाते रहना चाहिए इसमें अपना भी बड़ा काम निकलता है। औषध और विद्या कभी किसी से छिपाना योग्य नहीं है। आपस वालों से बिगाड़ करना सबसे बड़ी मूर्खता है। जिन कामों को अनेक बुद्धिमानों ने बुरा ठहराया है, उनका कर डालना उतना बुरा नहीं है जितना उन्हें चित्त में चिरस्थायी करना। अच्छा काम जितना हो सके जितना ही उत्तम है। ऐसी 2 बहुत सी बातें हैं जो विद्या पढ़ने और सतसंग करने से आपही विदित हो रहेंगी, इससे हम यहाँ पर बढ़ाना नहीं चाहते, केवल इतना ही फिर कहेंगे कि जान लेने से ठान लेना अत्यावश्यक है फिर इनका फल आपही थोड़े दिनों में प्रत्यक्ष हो जायगा, इससे इन्हें सदा सब कामों में स्मरण रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त जब किसी के घर पर जाने की आवश्यकता हो तो उसके भोजन शयन कार्य संलग्नता का समय बचा के जाओ और द्वार के अति संमुख खड़े होकर मत पुकारो, एक बार पुकार के कुछ काल ठहर जाओ, इस रीति से दो-तीन बार पुकारने पर उत्तर न मिले तो लौट आना उचित है। यदि घर के भीतर जाने का काम पड़े तो स्त्रियों से बड़े अदब के साथ नीची दृष्टि करके बोलो तथा ऐसे आसन पर न बैठो जिस पर उस गृह के बड़े बूढ़े लोग बैठते हों।

जिसके यहाँ कुछ निमंत्रित लोग भोजन अथवा नृत्यादि के लिए एकत्रित हों उसके यहाँ बिना बुलाए जाना उचित नहीं है, तथा यदि कोई अपने यहाँ ऐसे अवसर पर बुलावै तो शयन भोजनादि ऐसी रीति से कर्तव्य है कि गृहस्वामी को कष्ट न हों और बातें भी ऐसी ही करनी चाहिए जो वहाँ के लोगों को अरुचिकारिणी न हो। यदि किसी को अपने यहाँ बुलाओ तो पहिले यह प्रबंध कर लो कि उसे किसी प्रकार की असुविधा न होने पावै तथा यदि अपने को कष्ट हो तो उस पर विदित न होने पावै। जब दूसरे नगर में जाना हो तो आवश्यकता से कुछ अधिक धन, निर्वाह योग्य कपड़े और तथा एक छुरी, एक छड़ी, थोड़ी सी लिखने की सामग्री एवं दो एक मुद्रिका (ऊँगली में) अवश्य साथ लेना चाहिए और जिसके यहाँ ठहरना हो उसे दो तीन दिन पहले से समाचार दे देना चाहिए। रात्रि को उसके यहाँ

जाना ठीक नहीं । दिन को भी स्नान भोजन से निवृत्त हो के जाना उचित है । बस, इस प्रकार का व्यवहार सदैव दृढ़ता के साथ अंगीकार किए रहने का विचार रक्खोगे तो देखोगे कि दूसरे लोग तुमसे और तुम दूसरों से कितने सुखी एवं संतुष्ट रहते हो तथा जीवन के बड़े 2 अथच कठिन 2 कर्तव्यों में कितना सहारा मिलता है ।

समय पर दृष्टि

जिन्हें अपना जीवन असाधारण बनाना है उनके लिए यह भी एक अत्यावश्यक कर्तव्य है कि समय पर सदा दृष्टि रक्खें । उसका छोटे से छोटा अंश भी व्यर्थ न जाने दें, क्योंकि यह वह अमूल्य पदार्थ है कि बीत जाने पर कभी किसी प्रकार फिर नहीं मिल सकता । जो घंटा, जो घड़ी, जो पल अभी बीत गया है उसे हम लाखों करोड़ों अरबों रुपया खोकर अथवा बरसों कठिन परिश्रम में संलग्न होकर भी अब नहीं प्राप्त कर सकते । जो व्यतीत हो गया वह बस सदा सर्वदा के लिए हाथ से जाता रहा । बहुधा युवक लोग बाल्यावस्था की निर्द्वंदता औ वृद्धजन यौवनकाल के भोग विलासों का स्मरण करके वर्तमान दशा की निंदा किया करते हैं और पुरानी बातों के लिए पछताया करते हैं । पर वह पछताना व्यर्थ है, क्योंकि जो दिन बीत गए, वे बस गए, अब उनका लौट आना किसी रीति से संभव नहीं है । हाँ, उन पिछले दिनों के कर्तव्यों में यदि न चूकते अथवा यों कहो कि उस समय को व्यर्थ न खोते, तो आज पछिताना न पड़ता । पर यह विचार साधारण लोगों को पहिले से नहीं होता, इसी से उन्हें अंत में पछिताना पड़ता है ।

यदि हमारे पाठक इस पुस्तक को केवल देख डालना[1] न चाहते हों बरंच पढ़ लेने अर्थात् पढ़कर इसके उपदेश सच्चे जी से ग्रहण करने और उनके द्वारा अपना जीवन सुधारने की इच्छा रखते हों, तो उचित है कि समय की अमूल्यता पर अवश्य ध्यान रक्खा करें । घड़ी की सूई जितने काल में एक चिह्न से दूसरे चिह्न तक जाती है वह काल मिनट कहलाता है । जितने समय में आँख एक बार मूँदकर झट से खोल दी जाती है, वह समय पल कहलाता है । मिनिट वा पल का साठवाँ भाग सेकिंड वा विपल बोला जाता है । यह सेकिंड अथवा विपल यों साधारण दृष्टि से देखो तो बहुत ही तुच्छ जान पड़ते हैं, पर विचार करके देखने से विदित हो जाएगा कि मिनिट वा पल घड़ी[2] और घंटा तथा दिन रात, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष, शताब्दी सब इन्हीं से बनते हैं । फिर इन्हें तुच्छ समझना कहाँ की बुद्धिमानी है ? तीन लोक और तीन काल में जो कुछ होता है सब इन्हीं मिनिटों, घंटों और दिनों के मध्य हुआ करता है । इसलिए इन्हें तुच्छ समझकर व्यर्थ बिताना उस अनंत काल को तुच्छ समझना

1 देखकर डाल देना वा फेंक देना ।
2 ढाई वड़ी का घंटा होता है ।

है जिसे प्राचीन बुद्धिमानों ने ईश्वर का रूप कहा है ।

जिसका आदि और अंत कोई नहीं बतला सकता, जिसका स्वरूप केवल अनुमान का विषय है, जिससे अलग कभी कहीं कोई कुछ हो ही नहीं सकता ऐसे काल को ईश्वर अथवा उसके महोत्कृष्ट अंश के अतिरिक्त क्या कह सकते हैं ? और ऐसे उत्कृष्ट एवं अमूल्य पदार्थ को जिसने व्यर्थ नष्ट कर दिया उसे यदि निज जीवन का नष्ट करने वाला कहें तो क्या अत्युक्ति है ? जिस काल का आदि अथच अंत कोई निश्चित नहीं कर सकता, उसके अंतर्गत हमारा जीवन है ही कितना ? बहुत जिएँगे सव वर्ष जिएँगे, उसमें भी आधे के लगभग समय रात्रि के सोने में बीत जाएगा । रहे पचास वर्ष उनमें भी जन्मदिन से आठ दस वर्ष लड़कपन रहता है, जिसमें खेलने खाने के अतिरिक्त न कुछ अपना हित हो सकता है न पराया । और उधर अस्सी-पचासी वर्ष की अवस्था में बुढ़ापा आ घेरता है, जिसमें समझते बूझते चाहे जैसा हों, पर हस्तपदादि असमर्थता के कारण कर धर कुछ भी नहीं सकते । इस लेख से यदि मान ही लें कि सौ वर्ष अवश्य जिएँगे (यदि इसका निश्चय नहीं है) और कभी रोग वियोग चिंता परवशतादि में ग्रस्त न होंगे, तौ भी हमें केवल बीस पचीस वर्ष का ऐसा समय मिल सकता है जिसमें जीवन के सार्थक करने योग कोई उद्योग कर सकें ।

यदि इतने स्वल्प काल को हम दयामय परमात्मा का अमूल्य महाप्रसाद समझ के बड़े ही आदर, बड़े ही प्रयत्न, बड़ी ही सावधानी से काम न लावैं तो हमारी गति ऐसे मूर्ख के समान होगी, जिसे भाग्यवश थोड़े से अमूल्य रत्नों के छोटे 2 टुकड़े मिल जायँ, जो देखने में छोटे पर दामों में लाखों करोड़ों को भी सस्ते हैं, और यदि दस बीस मिलाकर परस्पर जोड़ दिए जायँ तो महामूल्यवान और परम दुर्लभ हो सकते हैं, किंतु प्राप्त करने वाला उनकी बहुमूल्यता जान बूझकर भी एक 2 दो 2 करके इस विचार से फेंक दे कि ऐसा छोटा सा टुकड़ा जाता ही रहेगा तो क्या हानि होगी ! ऐसी बुद्धि वाले को सब लोग जान सकते हैं कि एक न एक दिन अवश्य दरिद्रता सतावेगी और अपने किए पर रोना पड़ेगा, पर जो समय का उचित आदर नहीं करता उसकी दशा इस निर्बुद्धि से भी अधिक बुरी होनी संभव है । उसे अकेली दरिद्रता ही नहीं, बरंच दुःख, दुर्बुद्धि, दुष्कर्म, दुर्दशा सभी सता सकते हैं । जो लोग समय के छोटे 2 भागों का निरादर करके घंटों और पहरों तक शतरंज, चौपड़ आदि व्यर्थ खेल, असमय शयन, मेरे तेरे निरर्थक प्रपंच वा इधर उधर की निष्प्रयोजन बातें किया करते हैं, अथवा छोटे 2 आवश्यक कार्यों से जी चुराने लगते हैं और इसका फल यह होता है कि जहाँ कोई बड़ा काम आ पड़ा, वहीं शिर पर पहाड़ सा आ गिरता है । उसे विवश होकर करते भी हैं तो रो रोकर । ऐसे लोगों को उचित समय पर नहाने खाने सोने आदि का अवसर नहीं मिलता । शरीर वस्त्र गृहादि की स्वच्छता एवं निर्वाहोपयोगी वस्तुओं के प्रबंध करने का अवकाश नहीं मिलता । आवश्यक विषयों के सीखने सिखाने का अथच अपनी तथा गृहकुटुम्बादि की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए दौड़ने धूपने का समय नहीं मिलता । बरंच यह वाक्य मुखाग्र हो जाता है कि, 'क्या करें, छुट्टी ही नहीं मिलती, नहीं तो क्या कुछ कर नहीं सकते !' बस यों ही कहते 2 विद्या, बल, धन, साहस, प्रतिष्ठादि सब हुई भी तो जाती रहती है और न हुई तो उपार्जन करने की छुट्टी कहाँ ?

यदि पहिले अभ्यास के वश कोई सद्गुन वा सत् पदार्थ बना भी रहे तो तदुपयोगी अन्यान्य गुण पदार्थादि के अभाव से उसका होना न होना बराबर हो जाता है । और ऐसी दशा में जौन सा रोग दोष, दुःख दरिद्र दुर्गति न दवा ले सोई थोड़ा है । यदि परमेश्वर की दया से कोई व्यतिक्रम न भी हुआ तो

भी ऐसों के जीवन से यह आशा करनी दुराशा मात्र है कि कोई भी ऐसा वृहत् कार्य हो सकेगा जो सत्पुरुषों के लक्षण में गणनीय हो ! इसलिए हमारे पाठकों को समझ रखना चाहिए कि घटिका अर्थात् घड़ी का दूसरा नाम दंड है, और दंड कहते हैं ताड़ना अर्थात् डंडे (लाठी) को । इसका अभिप्राय यह है कि जिन घड़ियों घंटों को हम साधारण सा समझते हैं वे वास्तव में कालपुरुष के डंडे हैं । जगन्नियता जगदीश्वर इन्हीं के द्वारा समस्त संसार का प्रबंध करता है । जिस प्रकार सांसारिक राजाओं के राजकार्य दंड (सजा वा सोने चाँदी लकड़ी आदि का दंडा) से चलते हैं, यों ही सब राजाओं के अधिराज परमेश्वर के संसारराज्य का काम इन दंडों के द्वारा संपादित होता है ।

कोई कैसा ही बली, धनी मानी, विद्वान् क्यों न हो इन दंडों की गति का अवरोध नहीं कर सकता । जिन प्राकृतिक नियमों के लिए जो काल निश्चित हैं उनमें कोई एक दंड कैसा, एक विपल का भी घटाव बढ़ाव नहीं कर सकता । इसी से प्रसिद्ध है कि काल बड़ा बली है । वह बात की बात में कुछ का कुछ कर दिखाता है और किसी का कुछ बस नहीं चलता । भला ऐसा बली जिसके विरुद्ध हो अथवा यों कहो कि जो ऐसे बली का अनादर करे अर्थात् उसके अनुकूल आचरण न करे, उसके अनिष्ट का भी कुछ ठिकाना है ? जब कि साधारण राजदंड एवं काष्ठदंड हमारे प्राण तक ले सकते हैं तो ईश्वरीय दंड प्रतिकूलता की दशा में क्या कुछ न कर सकेंगे ? इसलिए पूर्ण प्रयत्न के साथ इन्हें अपने अनुकूल ही रखना उचित है । जीवनदाता ने कृपा करके जितने दंड हमारे हाथ में सौंप दिए हैं, उन्हें यदि हम उचित रीति से काम में लाने का अभ्यास रक्खें, तो वे सब कायिक बाचिक मानसिक अरिष्टों को चूर्ण कर सकते हैं, नहीं तो अपने हाथ पाँव शिर इत्यादि को तोड़ बैठना बना बनाया है। कुछ दिन कुछ न कीजिए तो कुछ ही दिन में कुछ करने को जी न चाहेगा और होते 2 कुछ भी कर सकने की शक्ति न रहेगी । इससे सदा सब प्रकार समय की महिमा का विचार रखना ही श्रेयस्कर है । इसकी रीति यह है कि पहिले तो नित्यकर्मों का समय नियत कर लेना चाहिए ।

जब तक बड़ी ही आवश्यकता एवं विवशता न हो तब तक सोने जागने, खाने पीने, कहीं जाने आने आदि के समय में एक मिनिट का गड़बड़ न होने पावै । जब इसका अभ्यास पड़ जाएगा तब प्रत्यक्ष देखने में आवैगा कि मन प्रसन्न, तन फुर्तीला और बुद्धि तीव्र होती है तथा प्रतिदिन इतना उचित अवकाश प्राप्त हो सकता है कि हम जो कुछ करना चाहैं उस योग्य सहारा पा सकते हैं । उस काल में भी यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यर्थ एक पल न बीतने पावै, कोई न कोई हितकारी काम होता ही रहे, और जो कुछ हो वह पूरे चाव के साथ हो । कार्य छोटा हो वा बड़ा पर उसकी पूर्ति में आलस्य वा उपेक्षा की छींट न पड़ने पावै, यह विचार प्रतिक्षण बना रहे कि इसे पूरा ही करके छोड़ेंगे, और किसी प्रकार यह पूरा हो जाय तो समय से दूसरा काम निकले । बस, इस रीति से समय पर दृष्टि बनी रहे तो सभी कुछ बन सकता है ।

निजत्व

संसार में सुख सुविधा और सुयश प्राप्ति के अर्थ सभी प्रकार के लोगों से हेलमेल, सभी भाषाओं का बोध तथा सभी देश के लोगों की रीतिनीति का ज्ञान यथासंभव प्राप्त करना चाहिए । पर अपनी चालढाल कभी न त्यागनी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक जाति की सच्ची शोभा उसी की भाषा भोजन भेष और बाह्यिक तथा आंतरिक भाव एवं भ्रातृत्व से होती है । जो इनमें से किसी का पूर्ण रूप से आदर नहीं करते, वे समाज में यथोचित रीति से आदृत नहीं समझे जाते । एवं बुद्धिमानों का एक अखंडनीय सिद्धांत यह है कि कोई कैसा ही सुयोग्य अथच लोकहितैषी क्यों न हो, किंतु यदि आत्मीयवर्ग की दृष्टि में आदरणीय न हुआ, तो बिडम्बना का पात्र होता है । बरंच हमारी समझ में उसे योग्यता ही नहीं कहना चाहिए जिसके कारण अपनापन जाता रहें । यदि हम विद्याबल, धन, मान इत्यादि की वृद्धि कर लें किंतु आत्मीयत्व खो दें, और अपने भाइयों के साथ रहने की किसी एक अंश में भी योग्यता न रक्खें तो हमने आत्मोन्नति क्या की ? और जब अपनी ही उन्नति से बंचित हुए तो जात्युन्नति वा देशोन्नति क्या करेंगे ?

जिस जाति व देश का अधिकांश हमारी बातों को समझेगा नहीं, हमारी रहन सहन को रुचिकारक गिनेगा नहीं वह हमारी सम्मति ही क्यों मानने लगा ? और ऐसी दशा में यदि हम उसके मध्य कुछ उद्योग करें, तो या तो परिश्रम ही व्यर्थ जायगा वा थोड़े से हमारे ही सहवर्तियों में साफल्य का रूप दिखला के रह जायगा जैसा आजकल इस देश में देखने में आता है कि बहुतेरे लोग देशोन्नति के केवल दो ही एक अंगों की पुष्टता के निमित्त सहस्रों रुपया लगाते हैं, वर्षों दौड़ धूप करते हैं, सैकड़ों की यात्रा में धावमान रहते हैं, पर मनोरथसिद्धि पर्वत खोद के चुहिया ही निकालने के बराबर देख पड़ती है ।

विचार कर देखिए तो ज्ञात हो जायगा कि इसका एकमात्र कारण यही है कि इन लोगों ने विद्यार्थित्व ही की अवस्था से निजत्व का विचार नहीं रक्खा और अब भी जातीयता का इतना ममत्व नहीं रखते जितना उचित है । इसी से केवल अपने ही रंग ढंग वालों में आदर पाते हैं और उन्हीं के मध्य अपनी योग्यता भी प्रकाशित कर लेते हैं । देश और जाति पर इनका प्रभाव यदि है भी तो न होने के बराबर, क्योंकि निजता का उनमें प्रायः पूर्ण अभाव है । और इसी कारण तृतीयांश से अधिक देशवासियों में से तो बहुतेरे उनका नाम भी नहीं जानते, बहुतेरे पहिले पहिल देखें तो उन्हें सजातीय न जानें, बहुतेरे उनकी बोली बाणी न समझें, तो विदेशीय भाव से भरित होने के हेतु से आदर न करें, बहुतेरे यदि बातों पर श्रद्धा भी करें तो चरित्रों से घृणा करें, फिर भला ऐसों का प्रयत्न देश में क्योंकर सफल हो सकता है ?

इसलिए हमारे पाठकों को योग्य है कि सब कुछ जानने बूझने, औरों की चाल ढाल देखने सुनने तथा सबसे हिले मिले रहने के प्रयत्न में लगे रहने के साथ ही साथ यह भी ध्यान रक्खा करें कि जिस बात की अन्य, देशीय और अन्यधर्म्मी लोग करते हैं वह हमारे पूर्वजों के समय से आज तक किस रीति से बर्ती जाती है । यद्यपि समय के फेर फार से वर्तमान काल में हमारी बहुत सी बातों में परिवर्तन आ गया है पर इतना ही नहीं हुआ है कि प्राचीन इतिहासों व वृद्ध पुरुषों के द्वारा उनका शुद्ध रूप परिज्ञात

न हो सके अथवा उदाहरण के द्वारा वे फिर प्रचरित न हो सकें । यहाँ यह ज्ञान रखना योग्य है कि भारतवर्ष की सनातनी मर्यादा स्थापित रखने में शारीरिक, आत्मिक, सामाजिक लाभ ही है, हानि किसी प्रकार की नहीं क्योंकि उसके संस्थापक गण अपने समय में समस्त संसार के शिक्षक और रक्षक थे, अतः वे जो बातें नियत कर गए हैं, एतद्देशीय जलवायु एवं प्रकृति के अनुकूल ही नियत कर गए हैं, अतः हमारे पक्ष में वही वास्तविक हित और सच्ची शोभा का मूल है ।

इससे हमें आग्रहपूर्वक उसी को ग्रहण किए रहना चाहिए, क्योंकि वह हमारी है और जगत् में हम उसी के द्वारा आदृत रूप से परिचित हो सकते हैं । कोट पतलून पहिनने तथा अभक्ष्य पदार्थों के खाने वाले हिंदुओं को हिंदू ही नहीं घृणित समझते बरंच अच्छे अँगरेज भी तुच्छ ही दृष्टि से देखते हैं । ऊपर से विदेशी भेष भोजनादि के रसिकों को धन भी उचित परिमाण से अधिक व्यय करना पड़ता है तथा कष्ट भी सहना पड़ता है । जाड़े के दिनों में बहुतों ने देखा होगा कि बाबू बनने वाले पश्चिमोत्तर देशी ओढ़ने के वस्त्र बिना बहुधा परिभ्रमण के समय शरीर के कंप और मुख के सीत्कार को रोकने में अक्षम हो जाते हैं, इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु में सूक्ष्म वस्त्र न पहिनने के कारण अधिक उष्णता सहते हैं । और इधर पूरी रोटी खाने तथा धोती अंगरखी पहिनने वाले आर्य जैसे हिंदूसमुदाय में विधर्मीयता का भ्रम नहीं उपजाते, वैसे ही सामयिक राजद्वार से भी निकाल नहीं दिए जाते, ऊपर से व्यय की न्यूनता और सुविधा की अधिकता का सुख यही लाभ करते हैं ।

इसी प्रकार सूक्ष्मरूप से जिस ओर दृष्टि संचालन कीजिए उधर ही इस बात का जीवित उदाहरण मिलेगा कि हमारा कल्याण हमारी ही रीति के अवलम्बन पर निर्भर है, और अभ्यास पड़ने पर प्रत्यक्ष बोध हो जायगा कि निजत्व को जितना अधिक आदर दिया जाय उतना ही सुख संतोष और सौभाग्य की वृद्धि होती है । दूसरों के अनुसरण से हम अपनापन खो बैठते हैं और अपने लोगों की दृष्टि में उचित सत्कार नहीं पा सकते, तथा जिनकी नकल करते हैं वे भी सर्वभावेन अपनी बराबरी का नहीं बना लेते । एवं यह ऐसी हानि है कि सारे संसार के लाभ से भी पूर्णतया दूर नहीं हो सकती । इसलिए बुद्धिमत्ता यही है कि सब कुछ देखते भालते, जानते बूझते, करते धरते हुए भी अपनापन बनाए रक्खें और उसकी त्रुटियों को पूर्ण करने में सयत्न रहें । इसी में हमारी उन्नति अथच हमारे द्वारा दूसरों का हितसाधन संभव है ।

आत्मगौरव

संसार में असाधारण विद्याबुद्धिगुणगौरवादिविशिष्ट व्यक्तिरत्न बहुत थोड़े होते हैं, पर निरे निरक्षर निर्बुद्धि गुणशून्य भी बहुत नहीं होते । सृष्टिकर्ता ने श्रेष्ठता प्राप्त करने की थोड़ी बहुत सुविधा सभी को दे रक्खी है और माननीय मनीषियों ने सृष्टिशिरोमणि (अशरफुलमखलूकात) की पदवी मनुष्य मात्र को दे रक्खी है, अतः किसी को भी अपना जीवन तुच्छ न समझना चाहिए । विशेषतः पढ़े लिखे समझदारों को तो

यह विचार प्रतिक्षण बनाए रखना उचित है कि जब हमारा शरीर परमात्मा ने नौ मास में परमचातुर्य के साथ सृजन किया है, माता पिता ने प्राकृतिक प्रेम के साथ अपनी हानि एवं कष्ट पर दृष्टि न करके हमारा लालन पालन किया है, विद्यादाता महाशय अपनी महत्परिश्रम के द्वारा वर्षों की संचित की हुई विद्या रूपी प्रशंसनीय पूँजी हमें सौंप देने के लिए प्रस्तुत हैं, ऐसी दशा में यदि हम जीवन का गौरव न करें तो परमेश्वर के महाप्रसाद तथा जननी जनक के अकृत्रिम स्नेह अथच गुरुदेव की अतुलनीय कृपा का तिरस्कार करके पापभागी होंगे !

यह माना कि जीवनोपयोगी समस्त सामग्री एवं यावत्सद्‌गुण सबमें नहीं हुआ करते, पर इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि युक्ति और परिश्रम के द्वारा आवश्यकता मात्र की पूर्ति हो सकती है । इसके अतिरिक्त यदि सूक्ष्म विचार से देखा जाय तो एक न एक बात की श्रेष्ठता सभी में हुआ करती है । निर्धन लोग यदि सुस्वादु भोजन और सुदृश्य वस्त्राभरणादि में बहुत सा व्यय नहीं कर सकते तो परिश्रम और संतोष के द्वारा निर्द्वंद्व एवं प्रशंसनीय जीवन लाभ कर सकते हैं । निर्बल जन, जो स्वयं किसी प्रबल शत्रु का मानमर्दन नहीं कर सकते, तो सहनशीलता में प्रसिद्ध हो के अथवा चतुरता के साथ बहुत से सहायक बना के सुखी तथा सुयशी बन सकते हैं । जिन्हें बातें बनाना नहीं आता वे सुवक्ताओं के समुदाय में आदृत न होने पर भी सत्यवादी अथच स्पष्टवक्ता वा निष्कपट की पदवी लाभ कर सकते हैं । जो सब ओर से निराश्रय हैं, वे जगदाश्रय का आश्रय ग्रहण करके सर्वसुविधासंपन्न हो सकते हैं । ऐसे 2 अनेक उदाहरण विद्यमान होने पर भी हम नहीं जानते, वे कैसे लोग हैं जो अपने जीवन का आदर नहीं करते ? यह माना कि सामर्थ्यवान के पक्ष में नम्रता एक अमूल्य भूषण की शोभा तभी तक रहती है जब तक सामर्थ्य भी इसके साथ ही प्रदर्शित होती रहे ।

यह हम अपनी सामर्थ्य को भूल के छिपा के अथवा लुप्तप्राय करके नम्रता का प्रदर्शन करें, तो उस मूर्ख का अनुगमन करते हैं जो भूषणीय अंग को काट के किसी भूषण का संग्रह करता है ! यों ही यदि हम स्थान और पात्र के विचार बिना सब कहीं नम्र भाव का प्रदर्शन करें, तौ भी मानो हाथ के आभूषण को पाँव में और पाँव वाले को शिर पर धारण करके अपनी बुद्धिमानी का परिचय देते हैं । इसलिए उचित यही है कि जो लोग किसी बात में अपने से श्रेष्ठ हैं, और हमारे नम्र भाव का आदर करते हैं, उनके सामने तो अवश्य नम्र ही बना रहे, सो भी वहीं तक, जहाँ तक अपनी स्वरूप हानि की संभावना न हो, किंतु सर्वसाधारण के सामने वेष वाणी और चेष्टा मात्र में अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखना ही श्रेयस्कर है, और किसी समय कैसी ही दशा में यह विचारना कदापि योग्य नहीं है कि हम कुछ भी नहीं हैं, अथवा हमसे कुछ भी नहीं होना । जो लोग इस प्रकार के विचार को हृदय में स्थान देते हैं, वे अपनी आत्मिक शक्ति को निर्बल कर देते हैं, और दूसरों की दृष्टि में अपना महत्त्व ही नहीं खो बैठते, बरंच प्रत्येक धृष्ट और दुराचारी को स्वेच्छानुकूल आचरण करने में साहसी बनाते हैं, अथच ऐसी अवस्था में उत्साह के मार्ग को कंटकावरुद्ध कर बैठते हैं, जो सब प्रकार की उन्नति का परम साधन है ।

अतः हम अपने पाठकों को सम्मति देते हैं कि कभी किसी दशा में अपने को किसी प्रकार तुच्छ न समझें, बरंच महात्माओं के इस कथन पर दृढ़ रहें कि जगत् के लोग उसी की प्रतिष्ठा करते हैं जो स्वयं अपनी प्रतिष्ठा करना जानता है । और विचार कर देखिए तो जितने बड़े 2 उत्तमोत्तम कीर्तिकारक कार्य हैं, सब मनुष्यों ही के द्वारा संपादित होते हैं, फिर हम क्या मनुष्य नहीं हैं वा कुछ कर नहीं सकते ? यदि हमारी वर्तमान विद्या बुद्धि बल धनादिक हमें शीघ्र उच्च श्रेणी पर पहुँचाने में पुष्कल न

हों, तौ भी श्रम साहस और धैर्य के साथ हम कुछ काल में अथना अभीष्ट लाभ करने योग्य हो सकते हैं। सो हमीं क्या, सभी प्रसिद्ध पुरुषों का यही सार है। किसी ने एक दिन में कोई बड़ा काम नहीं कर लिया वैसे ही हम भी न कर सकें तो क्या हानि है ? जब सभी के लिए श्रेष्ठताप्राप्ति का मार्ग एक ही है तो फिर हमीं क्यों न कहें कि "जिस तरह सब जहान में कुछ हैं। हम भी अपने गुमान में कुछ हैं।" यहाँ पर बहुत लोग यह शंका कर सकते हैं कि इस प्रकार के विचार हृदयस्थ करना अहंकार का उत्पादक है और अहंकार को प्राचीनों ने दूषित अहंकार का दूषणीय यह रूप है कि हम किसी बात में अपने बराबर किसी को न समझें, और मान्य पुरुषों का उचित आदर न करके सब छोटे बड़ों को रुष्ट कर दें, किंतु जब हम ऐसा नहीं करते, बरंच सबका सम्मान करते हुए अपना संभ्रम भी रक्षित रखते हैं, तो कोई बुराई नहीं है।

जो लोग यह समझते हैं कि समर्थ लोगों के सम्मुख आत्मगौरव का विचार रखने से स्वार्थसाधन में बाधा पड़ने का भय रहता है, वहाँ चाटुकारिता ही से काम निकलता है, सो उनकी यह समझ ठीक नहीं है। माना कि तुच्छ प्रकृति के सामर्थ्यवान् चाटुकारों की ठकुरसुहाती बातों से प्रसन्न होते हों, पर संदेह नहीं है कि स्वार्थ साधन के निमित्त बात 2 में "हाँ जी, हाँ जी" करने वालों का भेद खुले बिना नहीं रहता और भेद खुलने पर प्रतिष्ठा जाती रहती है, एवं ऐसी दशा में प्राप्ति की आशा भी उतनी नहीं रहती जितनी गणनीय पुरुषों को होनी चाहिए, और यदि हुई भी तो लोक निंदा से पीछा छूटना महा असंभव है, जो सज्जनों के पक्ष में अतीव घृणित है, जैसा किसी नीति निपुण का सिद्धांत है कि 'जियत हँसी जो जगत् में मरे मुक्ति किहि काज।" इससे बुद्धिमानों को समझना चाहिए कि कुत्ता एक 2 टुकड़े के लिए पूँछ हिलाता है, दाँत निकालता है, पेट दिखलाता है, पर इतनी खुशामद के द्वारा प्राप्ति इतनी भी नहीं होती कि दूसरे दिन के लिए एक ग्रास भी संचित कर सके, किंतु हाथी केवल धीर भाव से खड़ा रहता है और स्वामी का कार्य मात्र संपादन कर देता है तथापि भूखा नहीं रहता। फिर हमीं अपना गौरव छोड़ के क्या बना लेंगे ? जिसकी प्राप्ति के अर्थ बड़े 2 लोग बड़े प्रयत्न करते रहते हैं, उसे थोड़े से स्वार्थ के हेतु त्यागना कहाँ की बुद्धिमानी है ?

आत्मीयता

जन्म लेना और दौड़ धूप अथवा पराधीनता के द्वारा निर्वाह करते हुए एक दिन मर जाना, मनुष्य एवं पशु पक्षी इत्यादि सभी में समान होता है। पर धन्यजन्मा वे ही कहलाते हैं जो अपने श्रमोपार्जित धन बल विद्यादि के द्वारा सजातियों अथच स्वदेशियों को उन्नति के मार्ग में ले आने का यत्न करते हैं। तथा सच्ची उन्नति और उद्योग की पूर्ण सफलता तभी होती है, जब पूर्ण रूप से निजत्व को लिए हुए हो। यह सच है कि अच्छे लोग और अच्छी बातें जहाँ मिलें वहीं से संग्राह्य हैं, क्योंकि उनके द्वारा लाभ ही होगा, किंतु यदि हम अपने भाइयों से पृथक् हो के और अपने गुणों को खो के दूसरों का

आश्रय लें, तो उनके द्वारा प्राप्त किया हुआ लाभ वास्तविक लाभ नहीं है, बरंच उसका नाम स्वरूप हानि है। अतः हमें अपनी और अपने लोगों की उन्नति का उपाय अपनी रीति पर और अपने ही रूप में कर्तव्य है, जिसका एकमात्र साधन आत्मीयता है अर्थात् अपने देश के समस्त पुरुष पदार्थ प्रथा इत्यादि को सारे संसार से उत्तम समझ के आग्रहपूर्वक अंगीकार किए रहना, किसी के भय संकोच प्रवंचनादि से यह सिद्धांत कभी न छोड़ना कि अपने पक्ष में वही सर्वोपरि है जो अपना है।

सच्चे पुरुषरत्न वे ही हैं जो किसी प्रकार के कष्ट एवं हानि अथच उपहास की चिंता न करके आत्मीयत्व का प्रण निभाते रहते हैं। इतिहासरसिक यदि सूक्ष्म विचार से देखें तो अवगत हो जायगा कि जब जिस देश वा जाति की उन्नति हुई है, और जितना इसका अधिक आदर किया गया है उतनी ही सिद्धि समृद्धि की वृद्धि होती रही है, बरंच यह कहना भी अयोग्य नहीं है कि सर्वाधिक समुन्नति का साधन और लक्षण आत्मीयत्व ही है। जिन दिनों भारत देश सारी सृष्टि का शिरोमणि और भारतीय लोक समुदाय यावज्जगत् का रक्षक तथा शिक्षक समझा जाता था, सुख सम्मति का यहाँ तक बाहुल्य था कि सहस्रों सद्व्यक्ति सांसारिक सामग्री को तुच्छ समझकर ब्रह्मानंद लाभ करने के निमित्त वन में जा बैठते थे, उन दिनों आत्मीयता का इतना आदर था कि बड़े 2 सम्राट जटावल्कधारी कंदमूलफलाहारी तपस्वियों का आगमन सुन के राजकार्य परित्याग कर देते थे और अत्यंत आदरपूर्वक तन मन धन से उनकी सेवा करने और आज्ञा पालने ही में अपना सौभाग्य समझते थे, क्योंकि उन्हें निश्चय था कि हमारे लौकिक एवं पारलौकिक मार्ग के प्रदर्शक यही हैं।

इधर बड़े 2 महर्षि जिज्ञासुमात्र के शांतिप्रदानार्थ अपना परमानंद कुछ काल के लिए भूलकर उत्तमोत्तम शिक्षाओं से पूर्ण व्याख्यान दिया और ग्रंथ निर्माण किया करते थे, क्योंकि उन्हें ज्ञान था कि जगज्जाल में फँसे हुए देशभाइयों का कल्याण हमीं पर निर्भर है। यही नहीं, बरंच अपने अयोध्या मथुरादि तीर्थों, गंगा यमुनादि नदियों, तुलसी पिप्पलादि वृक्षों तक को पूज्य दृष्टि से देखते थे। इसका कारण यह नहीं था कि वे ईश्वर को अद्वितीय अथच निराकार निर्विकार मानते थे। नहीं, ब्रह्मविद्या में वे अतुलनीय थे, "एकमेवाद्वितीयम" और "अपाणिपादोजवनो ग्रहीता" इत्यादि वेदवाक्यों की उनकी की हुई व्याख्या से विदित है कि ईश्वरीय ज्ञान में वे दक्ष थे, तथापि आत्मीयता के मधुर फल से वंचित न होने के कारण अपने यहाँ की वस्तु एवं व्यक्ति मात्र को अपने परमाराध्य परमात्मा से संबद्ध समझते थे, और इसी समझ के प्रभाव से जिस बात में हाथ लगाते थे, उसे पूरा कर छोड़ते थे और तज्जनित रसास्वादन का पूर्ण सुख लाभ करते थे। पर अभाग्यवशतः जब से हमने अपने पूर्वजों का यह गुण छोड़ना आरंभ कर दिया, तभी से हमारा अधःपतन आरंभ हो गया।

इन दिनों परमेश्वर की कृपा से हमारे अँगरेज अवनीपति ने हमें फिर शिक्षा प्रदान करना स्वीकार किया है और समय 2 पर उदाहरण द्वारा दिखलाते रहते हैं कि अपने भाइयों, अपने भावों, अपने देश के बने हुए पदार्थों का क्यों कर औ कहाँ तक आदर करणीय है, और इस कृत्य का कैसा मीठा फल है। यदि इस पुस्तक के पाठकों को विद्या और बुद्धि की आँखें हों तो विचारपूर्वक देखें और इस परमोत्तम गुण को सीखें कि अपना अपना ही है—अपने भाई, अपनी भाषा, अपने भेष, अपने भोजन, अपने भाव में किसी प्रकार का दोष समझना अपने ही जीवन को दूषित बना लेना है।

यदि किसी के कहने सुनने वा अपने ही विचारने से कोई दोष दिखलाई भी दे तौ भी इन्हें छोड़ना न चाहिए बरंच धैर्य और स्नेह के साथ संभार करना उचित है। और दूसरों की बातों में प्रत्यक्ष समीचीनता

देख पड़े तथापि ललचा उठना ठीक नहीं, केवल काम निकाल लेने भर को उनसे संपर्क रखना योग्य है और साथ ही यह भी ध्यान रखना युक्तियुक्त है कि जिसके साथ जितना अधिक नैकट्य हो उसके प्रति उतनी ही अधिक ममता कर्तव्य है । जो सज्जन इसका विचार रखते हैं वे ही अपनी और दूसरों की भी सच्ची उन्नति का साधन कर सकते हैं ।

अंतरात्मा का अनुसरण

मनुष्य के द्वारा जितने कार्य होते हैं वे सब दो प्रकार के हुआ करते हैं । एक भले दूसरे बुरे । यद्यपि सूक्ष्म विचार के अनुसार प्रत्येक भले कार्य में भी कुछ न कुछ बुराई और बुरे में भी थोड़ी बहुत भलाई का अंश अवश्य रहने के कारण किसी काम को भी पूर्ण रूप से भला वा बुरा नहीं कह सकते, पर तौ भी बुद्धिमानों का यह निर्धार अयुक्त नहीं है कि जिसमें भलाई का अंश अधिक हो वह भला और जिसमें बुराई का भाग बहुत हो वह बुरा काम है, पर यतः भलाई और बुराई के अंश का भी ठीक 2 निर्णय करना सहज नहीं है अतः यह एक सिद्धांत कर लिया है कि जिन कामों में अपने वा पराए धन बल प्रतिष्ठादि की हानि अथवा शारीरिक वा मानसिक क्लेश हो वे बुरे और इसके विपरीत लक्षण वाले भले कार्य हैं ।

जो लोग समझते हैं कि जिन कामों से किसी की हानि लाभ, सुख दुःख नहीं होता, वे भले वा बुरे क्यों कर कहे जा सकते हैं ? उन्हें समझना चाहिए कि कुछ न हो तथापि उनके द्वारा अपना समय व्यर्थ नष्ट होता है जिसकी हानि लाखों द्रव्य और वर्षों के परिश्रम से भी पूरी नहीं हो सकती । इसलिए ऐसे कार्य भी जो स्थूल दृष्टि से भले वा बुरे नहीं जान पड़ते, वस्तुतः बुरे ही हैं और सदाचारियों के पक्ष में त्यागने ही योग्य हैं । किंतु कष्ट और हानि का पूर्ण ज्ञान भी प्रत्येक व्यक्ति को नहीं होता है। एक समुदाय जिस बात में अपनी क्षति समझता है, दूसरा उसी में वृद्धि मानता है । जैसे बहुत से पढ़े लिखों की समझ में जाति भेद और खाद्याखाद्य इत्यादि का विवेक मिटा देना ही उन्नति का मूल है और स्वयं उसके आचरण का उदाहरण बन जाना स्वतंत्रता, वीरता, बुद्धिमत्ता, देशहितैषितादि के जहाज का मस्तूल है । अथच बहुत से विद्या बुद्धिविशारद के मत में अपनी जाति पाँति तथा अपने पूर्वजों की रीति भाँति को त्याग करके यदि धन मान आदि प्राप्त हो तो उसे प्राप्ति न समझना चाहिए बरंच वह सत्यानाश की जड़ है ।

ऐसे 2 उदाहरणों से विदित होता है कि भलाई और बुराई का ठीक 2 जान लेना अतिशय कठिन है । जबकि किसी की बुद्धि सदा एक सी नहीं रहती और लोक समुदाय की रुचि भी भिन्न 2 हुआ करती है, तो फिर कौन निश्चय कर सकता है कि अमुक ही कार्य वस्तुतः अच्छा है और अमुक ही सचमुच बुरा । इसलिए अपने जीवन का कल्याण चाहने वालों को यही उचित है कि अपनी अंतरात्मा का अनुसरण करते रहें अर्थात् जिस काम के करने में अंतरात्मा प्रसन्नतापूर्वक अनुमोदन करे, उसी को अच्छा काम, ग्राह्यकर्म, सुखद कार्य वा धर्म समझें और इसके विरुद्ध लक्षण वाले को बुरा काम वा

पाप जानें। यह मत हमारा ही नहीं, बरंच सभी सभ्य देशों के सदुपदेष्टाओं का है कि अंतरात्मा—अंतःकरण, कांश्यंस (Conscience) वा जमीर के द्वारा अनुमोदित कर्म उत्तम होता है, क्योंकि यह वह शक्ति है कि बड़े 2 और अनेक दिन के अभ्यस्त दुराचारियों को भी कार्यारंभ में एक बार कर्तव्याकर्तव्य का स्मरण करा देती है, फिर उसको मानना न मानना उनके अधीन है।

जो काम सज्जनों और सत्शास्त्रों ने निंद्य ठहरा रक्खे हैं, उन्हें करने की जब कोई इच्छा करता है, तब उसके हृदय में भय, लज्जा अथवा ग्लानि अवश्य उत्पन्न हो जाती है और बल, धन, धृष्टता कुछ भी स्थिरचित्तता का दृढ़ हेतु नहीं होती। ऐसे अवसर पर चिरकालिक अभ्यास के कारण अंतःकरण की गति का प्रभाव चाहे थोड़ा जान पड़े अथवा प्रगाढ़, लोलुपता का पक्ष ले के वास्तविक सत्य से चाहे मुँह चुराया जाय व निरी ढिठाई का अवलंबन करके न्याय का अपमान किया जाय, किंतु जी में एक प्रकार का खटका और मुख पर वैवर्ण आए बिना नहीं रहता, तथा जो लोग उस आंतरिक खटके की उपेक्षा करते हैं, वे एक न एक दिन दुःख और दुर्नाम के भागी अवश्यमेव होते हैं। चाहे कैसे ही कार्यदक्ष क्यों न हों, जिन्हें अपने जीवन के बनने-बिगड़ने की विशेष चिंता नहीं होती वे अंतःकरण की अवज्ञा को बुरा समझने पर भी यह समझते हैं कि अमुक काम अकरणीय तो है पर दो एक बार थोड़ा सा कर लेने में क्या हानि होगी। ऐसों को समझना चाहिए कि बड़ी ही भारी आपदा ने आ घेरा हो और उद्धार का उपाय केवल अकर्तव्य ही में दिखाई देता हो, उस समय की बात तो न्यारी है, किंतु साधारण दशा में ऐसा विचार अंत के लिये अच्छा नहीं।

दुर्व्यसन पहिले 2 सभी को तुच्छ और सुखकारक से जान पड़ते हैं पर धीरे 2 चित्त को अपना दास बना के जीवन को नरकमय कर देते हैं। उनकी गति ठीक इस कथा के समान है कि, एक बार जाड़े के दिनों में अरब देश की बालुकामयी विस्तीर्ण भूमि के मध्य एक पथिक अत्यंत छोटे से पटमंदिर में पड़ा हुआ रात्रि बिता रहा था इतने में एक शीत के सताए हुए ऊँट ने उसके पास आ के बड़ी नम्रता से निवेदन किया कि यदि कृपा करके मुझे अपने वस्त्रगृह में ग्रीवा रख लेने भर का स्थान दान कीजिए तो बड़ा उपकार हो, मैं कष्ट से बच जाऊँगा तो आपका गुण गाऊँगा और आप भी मेरी शारीरिक ऊष्मा से कुछ संतोष ही प्राप्त करेंगे। यात्री ने उसके मधुर भाषण से मोहित हो के आज्ञा दे दी। कुछ काल के उपरांत उसे निद्रित सा देखकर लंबग्रीव ने कहा—जहाँ इतना अनुग्रह किया हैं वहाँ यदि आगे के पाँव रखने भर को और ठौर दे दीजिए तो मानों मुझे बिना मूल्य क्रय कर लीजिए। मार्गी ने मोहवशात् यह भी स्वीकार कर लिया। यों ही क्रम 2 से उक्त चतुष्पद उसके स्थान में आ घुसा और अंत में जब उसने भूमि संकोच से कष्टित हो के उपालंभ किया, तो पशु ने उत्तर दिया कि अपने निर्वाह के लिए कहीं छाया ढूँढ़िए, मैं ऐसी रात्रि के जाड़े में ऐसा सुपास छोड़ के कहाँ जाऊँ ?

यदि हमारे पाठकों को भी उसी मार्गावलंबी की दशा प्रिय हो, तौ तो और बात है, नहीं तो कुकृत्य को सहज एवं सुखदायक न समझकर उससे सर्वथा बचे रहने के लिए अपनी आत्मा के अनुसरण का अभ्यास करते रहें। जिस बात में जी तनिक भी हिचके उसे यत्नपूर्वक छोड़ दिया करें। इस रीति से स्वयं अनुभव हो जायगा कि मनुष्य की अंतरात्मा ईश्वरप्रदत्त महाप्रसाद है। वह सदा उत्तम ही कर्मों का प्रसन्नतापूर्वक अनुमोदन करती है। जिस कार्य में किंचित भी बुराई अथवा अपनी पराई सच्ची हानि की संभावना होती है, उससे दूर रहने का हृदय को उपदेश दे देती है। हमारे पूर्व पुरुषों ने उसे परमदयामय परमात्मा का निकटवर्ती माना है। यहाँ तक कि हमारी भाषा में ब्रह्म शब्द को उसका भी

पर्याय समझते हैं। जहाँ दृढ़ निश्चय होता है, वहाँ ग्रामवासी तक कहते हैं कि हमारा ब्रह्म बोलता है कि यह बात यों ही होगी अर्थात् हमारा अंतःकरण साक्ष्य देता है कि इस बात का परिणाम यों ही होगा इसमें संदेह नहीं है। जब कि अंतःकरण की इतनी महिमा है तो फिर उसका उचित आदर करने वाले किसी दुष्कर्मजनित दुरवस्था में क्यों कर पड़ सकते हैं ?

स्वत्वसंरक्षण

संसार में जिन 2 व्यक्ति और वस्तुओं का हमारे साथ निकटस्थ वा दूरस्थ संबंध है, उन सबका हम पर और हमारा उन पर कुछ न कुछ स्वत्व हुआ करता है, जिसका उचित ज्ञान प्राप्त किए बिना और तदनुकूल आचरण रक्खे बिना व्यवहारसिद्धि में बड़ी भारी बाधा पड़ती रहती है। अतः इस बात पर भी सदा ध्यान रखना चाहिए कि किसका कितना स्वत्व है और तदनुसार उसके साथ हमें कैसे बर्ताव रखना उचित है। यद्यपि प्रत्येक के स्वत्व का ठीक 2 समझना बहुत दिन के अनुभव बिना कठिन है किंतु प्राचीनकाल के बुद्धिमानों ने जो उसके लिए रीति ठहरा दी है, उस पर पूर्ण रूपेण दत्तचित्त रहने से प्रायः इस विषय में भूल नहीं पड़ती, अतः यहाँ पर हम दिग्दर्शन की भाँति स्वत्व श्रेणी को प्रकाशित किए देते हैं। सद्ग्रंथावलोकन और सज्जन संगति के अभ्यासी जन उसी के अनुसार सबके स्वत्व का निर्धार कर सकते हैं।

जगत् में तीन प्रकार के लोग हैं—बड़े, छोटे और बराबर वाले। उनमें से बड़ों में माता पिता और गुरू का सबसे बड़ा पद है, क्योंकि जननी और जनक न होते तो हमारा शरीर एवं तत्संबंधी लोक व्यापार कुछ भी न दृष्टि आता। अस्मात् इन दोनों की सेवा में यदि हम अपना सर्वस्व बरंच प्राण तक अर्पण कर दें, तौ भी कोई करतूत नहीं करते, क्योंकि सब कुछ उन्हीं का प्रसाद है। हाँ, किसी कारणवशतः इनके द्वारा अपमानित वा कष्टित होकर यदि हम इनसे मुँह फेरें, तो हमारी नीचता है। जिस समय हम किसी प्रकार अपने निर्वाह के योग न थे, उस समय इन्होंने वर्षों नाना कष्ट एवं विविध हानि सहकर, हमें पाल पोस के इतना बड़ा किया है, कि हम इनके उपकारों का बदला क्यों कर दे सकते हैं। अतः जन्म भर इनके आज्ञापालन और प्रसन्नता संपादन में तन मन धन से संलग्न रहना ही हमारा मुख्य कर्तव्य है। इसी प्रकार विद्या सभ्यता प्रतिष्ठा एवं कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान हमें गुरु के द्वारा प्राप्त होता है, अस्मात् इनका भी प्रेम और प्रतिष्ठा संसार भर से अधिक करणीय है, अथच जो लोग इनके मित्र हों तथा हमारे साथ इनका स्नेह करते हों वा जाति संबंध में इनके तुल्य हों, वे भी इन्हीं की भाँति आदरणीय हैं, किंतु मुख्य इन्हीं को समझना चाहिए। इनके अतिरिक्त न्यायपरायण राजा अथच तद्वारा नियत किए हुए शासनकर्ता माननीय हैं, क्योंकि उन्हीं के द्वारा हमारे यावत् मान्य पुरुषों की रक्षा होती है। इन चारों के उपरांत जाति, वय, विद्या, सज्जनता, धन, बल, मान इत्यादि किसी बात में जो अपने से बड़ा हो उसका बड़ों का सा आदर करना उचित है। क्योंकि ऐसे लोगों की उपर्युक्त मान्य

चतुष्टय ही से उपमा दी जाती है, पर यह समझे रहना चाहिए कि उपमान सदा उपमेय से श्रेष्ठ होता है।

छोटों में पुत्र शिष्य और लघु भ्राता मुख्य स्नेह पात्र हैं। इनकी तन धन और सदुपदेश से सहायता करनी चाहिए। तथा इनके सामने अपना आचरण भी ऐसा ही रखना उचित है जिसे देखकर ये सदाचार के अनुरागी बनें। ये यदि कोई अनुचित कार्य करें तथापि इनसे घृणा करके प्रीतिपूर्वक समझा देना योग्य है। जिस बात को न समझ सकें उसे बहुत सरल भाषा में समझाना उचित है। यदि समझाने पर ध्यान न दें तो ताड़ना भी अनुचित नहीं है किंतु इनकी ओर से निश्चेष्ट हो बैठना ठीक नहीं। बड़ों का आदर, छोटों पर दया, बराबर वालों पर स्नेह निर्वाह की रीति, सजीवन के उपाय इत्यादि हितकारक विषय बराबर सिखलाते ही रहना चाहिए। और इन्हीं की भाँति उनके साथ भी बर्तना चाहिए जो गृह कुटुम्ब जाति पड़ोस ग्राम देश में अपने से न्यून सामर्थ्य रखते हों।

बराबर वालों के साथ अपनी देह का सा ममत्व रखना उचित है। उनमें सबमें सबसे अधिक स्वत्व स्त्री का है। यहाँ पर यह भी स्मरण रखना योग्य है कि जैसा बर्ताव जिस श्रेणी के पुरुषों से कर्तव्य है वैसे ही उनकी स्त्रियों से भी करणीय है, किंतु विलक्षणता इतनी है कि सच्चे जी से प्रीति करने वाले मित्रों की स्त्रियाँ माता के तुल्य हैं यद्यपि उनके पति बराबर ही का अधिकार रखते हैं। इनके अतिरिक्त जो जान पहिचान के लोग किसी बात में अपने बराबर हों और स्नेह प्रदर्शन करते हों, वे भी बराबर ही के स्वत्वाधिकारी हैं किंतु ऊपर कहे हुओं से उतर के और इनके उपरांत जाति और देश के ज्ञानी गुणी सुरीति प्रचारक सज्जनता प्रदर्शक इत्यादि सभी लोग साहाय्यपात्र हैं, किंतु पहिले घर वालों के सब अभाव पूरे कर लेना चाहिए तब मित्र बांधव प्रतिवासी देशवासी आदि की सहायता का उद्योग करना चाहिए और विजातीय, विधर्मीय इत्यादि से केवल उतना ही संबंध रखना चाहिए जितना स्वार्थसिद्धि के लिए प्रयोजनीय हो। यह नहीं कि "बाहर वाले खा गए घर में गावैं गीत"।

जिनके साथ हमने कभी कोई भलाई नहीं की, उनके ऊपर हमारा कुछ भी स्वत्व नहीं है। यदि उनमें कोई अपनी ओर से हमारे हितसाधन की चेष्टा करे तो उसका अनुग्रह है। हमें उसके प्रत्युपकार का अवसर देखते रहना चाहिए; किंतु यदि हमारी आवश्यकता के समय प्रार्थना करने पर भी ध्यान न दे तो उपालंभ का पात्र नहीं हो सकता।

जिसने धोखा देकर हमारे धन, मान, प्राण, एवं धर्म में बाधा डालने का मानस किया हो, वह कैसा ही क्यों न हो किंतु त्याज्य है, उसका हम पर कोई स्वत्व नहीं।

इसी प्रकार अपने तथा आत्मीय वर्ग के वह पदार्थ जिनके द्वारा अपना एवं उनका शरीर अथच संभ्रम रक्षित रहता हो, नित्य वा कभी मन प्रसन्न होता हो, वे भी यत्नतः संरक्षणीय हैं। उनमें से यदि किसी पर हमारी विशेष रुचि न हो, तौ भी उसका तिरस्कार करना योग्य नहीं है।

इस रीति में ध्यान रक्खे हुए जो लोग प्रत्येक पुरुष एवं पदार्थ के स्वत्व की रक्षा करते रहते हैं, वे जीवनयात्रा में बड़ी भारी सुविधा प्राप्त करके सुख और सुकीर्ति के भागी होते हैं। क्योंकि सब किसी को उनके स्वत्व का विचार रहता है और यदि दैववशात् कोई उसके संरक्षण में त्रुटि करे, तो बहुत लोग सहायक हो जाते हैं।

रहा अपना स्वत्व, उसका किसी श्रेष्ठ व्यक्ति के द्वारा अदर्शन हो तो प्राप्ति के लिए नम्रतापूर्वक विनय करनी चाहिए और छोटों के द्वारा हो तो दयापूर्वक क्षमा करते रहना तथा भविष्यत् के लिए

सावधानता की शिक्षा देते रहना उचित है, एवं बराबर वाले ऐसा करें तो यदि धन मानादि की विशेष हानि न देख पड़े तो उपेक्षा कर जानी योग्य है, किंतु यदि इतर लोग ऐसा साहस करें तो पूर्ण शक्ति के साथ प्रतिकार कर्त्तव्य है, नहीं तो अक्षमता का भान होने से गौरव का ह्रास होना संभव है। अतः जैसे दूसरों के स्वत्व पर ध्यान रखना चाहिए वैसे ही अपने का भी पूरा विचार रखना उचित है, फिर बस, साधु जीवन प्राप्त करने में अड़चल नहीं रहती।

धार्मिक निबंध

जो कार्य जिस रीति से होता है वह उसी रीति का अवलम्बन करने से होगा। वह रीति सीखने समझने कहीं नहीं जाना, केवल अपने चित्त को उसका आश्रित बना लीजिए फिर उसका चाहे जैसा रूप गुण स्वभाव मान के उसके कोई बन जाइए और अवकाश के समय नित्य उसके सामने अपने मनोरथ प्रकाश करते रहिए।

राम

आहा ! यह दोनों अक्षर भी हमारे साथ कैसा सार्वभौमिक संबंध रखते हैं कि जिसका वर्णन करने की सामर्थ्य ही किसी को नहीं है । जो रमण किया जाय उसे राम कहते हैं । यह दोनों अर्थ राम नाम में पाए जाते हैं । हमारे भारत में सदा सर्वदा राम जी रमण करते हैं और भारत राम में रमण करता है । इस बात का प्रमाण कहीं ढूँढ़ने नहीं जाना है । आकाश में रामधनुष (इन्द्र धनुष), धरती पर रामगढ़, रामपूर, रामनगर, रामगंज, रामरज, रामगंगा, रामगिरि (दक्षिण में); खाद्यपदार्थों में रामदाना, रामकोला (सीताफल), रामतरोई, चिड़ियों में रामपाखी (बंगाली में मुरगी), छोटे जीवों में रामबरी (मेंढकी); व्यंजनों में रामरंगी (एक प्रकार के मुंगौड़े) तथा जहाँगीर ने मदिरा का नाम रामरंगी रक्खा था कि, 'राम रंगिए मा नश्शए दिगर दारद'; कपड़ों में रामनामी इत्यादि नाम सुनके कौन न मान लेगा कि जल, स्थल, भूमि, आकाश, पेड़, पत्ता, कपड़ा लत्ता, खान पान, सबमें राम ही रम रहे हैं ।

मनुष्यों में भी रामलाल, रामचरण, रामदयाल, रामदत्त, रामसेवक, रामनाथ, रामनारायण, रामदास, रामप्रसाद, रामदीन, रामगुलाब, रामबक्श, रामनवाज; स्त्रियों में भी रामदेई, रामकिशोरी, रामपियारी, रामकुमारी इत्यादि कहाँ तक कहिए, जिधर देखो उधर राम ही राम दिखाई देते हैं, जिधर सुनिए राम ही नाम सुनाई पड़ता है । व्यवहारों में देखिए, लड़का पैदा होने पर रामजन्म के गीत, जनेऊ, ब्याह, मुंडन, छेदन में राम ही का चरित्र, आपस के शिष्टाचार में 'राम 2', दुःख में 'हाय राम', आश्चर्य अथवा दया में 'अरे राम', महाप्रयोजनीय पदार्थों में भी इसी नाम का मेल, लक्ष्मी (रुपया पैसा) का नाम रमा, स्त्री का विशेषण रामा (रामयति), मदिरा का नाम रम (पीते ही पीते नस 2 में रम जाने वाली) ।

यही नहीं, मरने पर भी 'राम 2 सत्य है' । उसके पीछे भी गया जी में राम शिला पर श्राद्ध । इस सर्वव्यापकता का कारण यही है कि हमारे पूर्वज अपने देश को ब्रह्ममय समझते थे । कोई बात, कोई काम ऐसा न करते थे जिसमें सर्वव्यापी, सर्वस्थान में रमण करने वाले को भूल जायँ । अथच राजभक्त भी इतने थे कि श्रीमान् कौशल्यानन्दबर्द्धन जानकीजीवन अखिलार्यनरेंद्रनिसेवित पादपद्म महाराजाधिराज माया मानुष भगवान रामचन्द्र जी को साक्षात् परब्रह्म मानते थे । इस बात का वर्णन तो फिर कभी करैंगे कि हमारे दशरथराजकुमार को परब्रह्म नहीं मानते वे निश्चय धोखा खाते हैं, अवश्य प्रेम राज्य में पैठने लायक नहीं हैं । पर यहाँ पर इतना कहे बिना हमारी आत्मा नहीं मानती कि हमारे आर्य वंश को राम इतने प्यारे हैं कि परम प्रेम का आधार राम ही को कह सकते हैं ।

यहाँ तक कि सहृदय समाज को 'रामपादनखज्योत्स्ना परब्रह्मेति गीयते' कहते हुए भी किंचित् संकोच नहीं होता । इसका कारण यही है कि राम के रूप, गुण, स्वभाव में कोई बात ऐसी नहीं है कि जिसके द्वारा सहृदयों के हृदय में प्रेम, भक्ति, सहृदयता, अनुराग का महासागर उमड़ न उठता हो । आज हमारे यहाँ की सब सुख सामग्री नष्टप्राय हो रही है, सहस्रों वर्षों से हम दिन 2 दीन होते चले

आते हैं, पर तौ भी राम से हमारा संबंध बना है । उनके पूर्वपुरुषों की राजधानी अयोध्या की दशा देख के हमें रोना आता है । जो एक दिन भारत के नगरों का शिरोमणि था, हाय आज वुह फैजाबाद के जिले में एक गाँव मात्र रह गया है । जहाँ एक से एक धीर, धार्मिक महाराज राज्य करते थे वहाँ आज बैरागी तथा थोड़े से दीनदशादलित हिंदू रह गए हैं । जो लोग प्रतिमा पूजन के द्वेषी हैं, परमेश्वर न करे, यदि कहीं उनकी चले तो फिर अयोध्या में रही क्या जायगा !

थोड़े से मंदिर ही तो हमारी प्यारी अयोध्या के सूखे पहाड़ हैं । पर हाँ, रामचन्द्र की विश्वव्यापिनी कीर्ति जिस समय हमारे कानों में पड़ती है उसी समय हमारा मरा हुआ मन जाग उठता है । हमारे इतिहास को हमारे दुर्दैव ने नाश कर दिया । यदि हम बड़ा भारी परिश्रम करके अपने पूर्वजों का सुयश एकत्र किया चाहें तो बड़ी मुद्दत में थोड़ी सी कार्यसिद्धि होगी । पर भगवान रामचन्द्र का अविकल चरित्र आज भी हमारे पास है जो औरों के चरित्र (जो बचे बचाए मिलते हैं वा कदाचित् दैवयोग से मिलें) से सर्वोपरि, श्रेष्ठ, महारसपूर्ण, परम सुहावन है । जिसके द्वारा हम जान सकते हैं कि कभी हम भी कुछ थे अथवा यदि कुछ हुआ चाहें तो हो सकते हैं ।

हममें कुछ भी लक्षण हो तो हमारे राम हमें अपना लेंगे । बानरों तक को उन्होंने अपना मित्र बना लिया हम मनुष्यों को क्या भृत्य भी न बनावैंगे यदि हम अपने को सुधारा चाहें तो अकेली रामायण में सब प्रकार के सुधार का मार्ग पा सकते हैं (इसका वर्णन फिर कभी) । हमारे कबिवर बालमीक ने रामचरित्र में कोई उत्तम बात नहीं छोड़ी एवं भाषा भी इतनी सरल रक्खी है कि थोड़ी सी संस्कृत जानने वाला भी समझ सकता है । यदि इतना श्रम भी न हो सके तो भगवान तुलसीदास की मनोहारिणी कविता थोड़ी सी हिंदी जानने वाले भी समझ सकते हैं, सुधा के समान काव्यानन्द पा सकते हैं और अपना तथा देश का सर्वप्रकार हितसाधन कर सकते हैं । केवल मन लगा के पढ़ना और प्रत्येक चौपाई का आशय तथा उसके अनुकूल चलने का विचार रखना होगा ।

रामायण में किसी सदुपदेश का अभाव नहीं है । यदि विचारशक्ति से पूछिए कि रामायण की इतनी उत्तमता, उपकारकता, सरसता का कारण क्या है, तो यही उत्तर पाइएगा कि उसके कवि ही आश्चर्यशक्ति से पूर्ण हैं, फिर उनके काव्य का क्या कहना । पर यह भी बात अनुभवशाली पुरुषों की बताई हुई है, फिर इस सिद्ध एवं विदग्धालाप कवीश्वरों का मन कभी साधारण विषयों पर नहीं दौड़ता, वुह संसार भर का चुना हुआ परमोत्तम आशय देखते हैं तभी कविता करने की ओर दत्त चित्त होते हैं । इससे स्वयं सिद्ध कि रामचरित्र वास्तव में ऐसा ही है कि उस पर बड़े 2 कवीश्वरों ने श्रद्धा की है और अपनी पूरी कविताशक्ति उस पर निछावर करके हमारे लिए ऐसे 2 अमूल्य रत्न छोड़ गए हैं कि हम इन गिरे दिनों में भी उनके कारण सच्चा अभिमान कर सकते हैं, इस हीन दशा में भी काव्यानंद के द्वारा परमानन्द का स्वाद पा सकते हैं, और यदि चाहें तो संसार परमार्थ दोनों बना सकते हैं ।

खेद है यदि हम भारत सन्तान कहा कर इन अपने घर के अमूल्य रत्नों का आदर न करें और जिनके द्वारा हमें यह महामणि प्राप्त हुए हैं उनका उपकार न मानें, तथा ऐसे राम को, जिनके नाम पर हमारे पूर्वजों के प्रेम, प्रतिष्ठा, गौरव एवं मनोविनोद की नींव थी अथच हमारे लिए इस गिरी दशा में भी सच्चे अहंकार का कारण और आगे के लिए सब प्रकार के सुधार की आशा है, भूल जायँ अथवा किसी के बहकाने से राम नाम की प्रतिष्ठा करना छोड़ दें तौ कैसी कृतघ्नता, मूर्खता एवं आत्महिंसकता है ।

पाठक, यदि सब भाँति की भलाई और बड़ाई चाहो तो सदा, सब ठौर, सब दशा में, राम का ध्यान रक्खो, राम को भजो, राम के चरित्र पढ़ो सुनो, राम की लीला देखो दिखाओ, राम का अनुकरण करो। बस इसी में तुम्हारे लिए सब कुछ है। इस रकार और मकार का वर्णन तो कोई त्रिकाल में करी नहीं सकता, कोटि जन्म गावैं तौ भी पार न पावैंगे। इससे यह लेख अधिक न बढ़ा के फिर कभी इस विषय पर लिखने की प्रतिज्ञा एवं निम्नलिखित आशीरामर्वाद के साथ लेखनी को थोड़े काल के लिए विश्राम देते हैं। बोलो, राम चन्द्र की जै !

कल्याणानान्निधानं, कलिमलमथनं पावनंपावनानाम्
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य ।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां
बीजन्धर्म्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतांभूतये राम नामः ॥1॥

भावार्थ—

कुलि कल्याननिधान सकल कलि कलुख नसावन। सज्जन जीवन प्रान महा पावन महा पावन जन पावन ॥ अखिल परम प्रद पथिकन हित मारग कर संबल। कुशल कबीशन की बर बानी को बिहार थल। सदधर्म्म बिटप कर बीज यह, राम नाम सांचहु अमृत। तब भवन भरे सुख सम्पदा सुमति सुयश निस 2 अमित ॥ ॥1॥

खं० 6 सं० 1 (15 अगस्त, ह० सं० 5)

ईश्वर का बचन

जबकि ईश्वर संसार भरे का स्वामी है तो यह कैसे संभव है कि उसका बचन केवल एक देश के लोगों की भाषा में हो। जब कि ईश्वर अनंत विद्यामय है तो यह कहाँ हो सकता है कि ईश्वर की बनाई केवल एक ही दो पुस्तकें हों। हम वेद, बाइबिल और कुरआन का तिरस्कार नहीं करते, वह मनुष्य मात्र के मानने योग्य पुस्तकें हैं, पर यह कहना कि केवल यही ईश्वर का बचन है, हमारी समझ में नहीं आता। जब कि वेद में लिखा है 'अनन्ता वै वेदाः' तो क्या इन्हीं ऋग्यजुः सामथर्ब पुस्तकों को अनन्त मान लें, जिनके मंत्र क्या अक्षर भी गिने जा सकते हैं ? ईश्वर के बचन में इतनी झूठ ? यदि कहिए कि उसका आशय अनन्त है तो भी "अनन्ताशया वै वेदाः" होना चाहिए। ईश्वर के बचन में भ्रांति ? विशेषतः ऐसे बचन में जो सबके उपदेशार्थ प्रकाश किया गया हो ?

बाइबिल तथा कुरआन के दोष दिखाना हमें अभीष्ट नहीं है पर इतनी शंका हमारे जी से नहीं जाती कि ईश्वरप्रणीत ग्रंथों में इतना गड़बड़ क्यों हुआ कि मनुष्य उनमें दोष लगा सकें ? इसके सिवा इन पोथियों में जितनी विधि और निषेध वर्णित है, मानव मंडली अधिकतः उनके विरुद्ध ही आचरण करती

है, यह क्यों ? एक छोटे से संसारी राजपुरुष की मौखिक आज्ञा को तो कोई भंग ही नहीं कर सकता, ईश्वर की लिखी हुई आज्ञा क्या उससे भी गई बीती है कि मानौ तौ वाह 2 न मानो तौ वाह 2 ! फिर हम क्यों कर मान लें कि यही पाँच छः किताबें, जिनका अर्थ कोई कुछ बतलाता है, कोई कुछ, यही थोड़े से कागज जो अंजुली भर पानी में गल के हलुवा और एक दियासलाई में जल के राख हो सकते हैं, ईश्वर का बचन है ।

हाँ, हम अपने लड़के को गोद में लिए बैठे हों और कोई प्रिय मित्र पूछे 'क्या यह आपका चिरंजीव है ?', तो हम उत्तर देते हैं 'जी हाँ, आपही का है' । यह कहना सभ्यता की रीति से झूठ नहीं है । ऐसे ही अपने मान्य पुरुषों (जिन्हें हम ईश्वर का अभिन्न मित्र, इकलौता बेटा अथवा प्यारा स्नेही समझते हैं और वास्तव में उनके बहुत से काम इन पदबियों के योग्य थे) उनके बनाए ग्रंथ को ईश्वर का बनाया कहें तो कोई दोष नहीं है । जैसे हम कहा करते हैं कि 'इस विपत्ति में परमेश्वर ही ने बचाया अथवा यह योग्यता परमात्मा ही ने दी, नहीं तो हममें क्या सामर्थ्य थी', ऐसे ही यदि ईसा, मूसा, मुहम्मदादि ने कहा कि 'अमुक ग्रंथ ईश्वर ही ने बनाया नहीं तो हमारा क्या साध्य था' तो कोई अपराध नहीं है बरंच उनके महा निराभिमान की पराकाष्ठा है । पर वास्तव में ऐसी पोथियों को ईश्वरकृत मानना, जिनमें कहीं लिखा है, ईश्वर ने छः दिन में जगत बनाया, कहीं कहा है, मरने के पीछे कयामत के दिन तक सब जीवों के पाप-पुन्य का मुकदिमा ईश्वर की अदालत में भी दौरा सुपुर्द ही रहेगा, कहीं वर्णन किया है, एक स्त्री ग्यारह पति करले तौ भी पाप नहीं है, अंधेर है ।

यदि बुद्धि कोई वस्तु है तो दूषित पुस्तकों को अथवा ऐसी पुस्तकों को, जिनके अर्थ में भ्रांति संभव है या झगड़े के लिए स्थान हैं, ईश्वरलिखित कभी न मानेंगे । हाँ, जिस पोथी में कहानियाँ अथवा गीत कबित्त आदि होते हैं वह गीत कबित्त आदि की पुस्तक कहाती है वैसे ही जिस पुस्तक में ईश्वर का वर्णन हो उसे ईश्वर की पुस्तक अथवा ईश्वर संबंधी बचन कह लेना दोषास्पद नहीं है । पर वास्तव में बुद्धिसंगत ईश्वर का बचन क्या है, इसका समझना सहज नहीं है । यों तो संसार ईश्वर का है अतः तदंतः पाती बचन मात्र ईश्वर ही के बचन हैं । कुत्ते की भौं भौं अथवा गधे की सीपों से लेके हमारी तुम्हारी गपशप और बड़े 2 पोथाधारियों की बक्त्रिता सब ईश्वर ही के बचन हैं, पर ईश्वर अनादि, अनन्त और अकथनीय स्वभावविशिष्ट है अतः ईश्वर के बचन या उसकी आज्ञा तथा उसकी बनाई पोथी कैसी है, क्या है, कै हैं, यह हम लोग नहीं बतला सकते ।

हाँ, थोड़ी सी उसकी बातें बहुत से विद्वानों द्वारा बिदित हुई हैं, वह सुन रखिये । जिन बातों की इच्छा होने के साथ ही हमारे अंतःकरण को यह विश्वास हो ज़ाता है इसमें ईश्वर अवश्य सहायक होंगे, संसार भर की अथवा हमारे देश जाति कुटुंब का अवश्य हित होगा, चाहे कोटि बिघ्न पड़ें, चाहे अर्बुद कष्ट एवं हानि हों पर सिद्धि में शंका नहीं है, अथवा सिद्धि चाहे जब हो पर इसमें कोई संदेह नहीं है कि इसका अनुष्ठान आनन्दपूर्ण है—जैसे गौरवरक्षा, धर्मश्रद्धा, सुरीतिसंचार, विद्याप्रसार, सच्चे भातृभाव का उद्गार, यह सब ईश्वर ही के बचन हैं ।

जब हम ईश्वर के साथ सच्चा प्रेम अथवा ईश्वर की सृष्टि के साथ अकृत्रिम स्नेह करते हैं तब हमारा हृदयबिहारी सदा हमें ऐसी बातें बतलाया करता है जिनसे प्राणहानि होने पर भी अकथ्य आनन्द लाभ होने का दृढ़ निश्चय रहता है । पर यह बातें केवल ईश्वर के अभिन्न मित्र ही सुन समझ सकते हैं । साधारण लोगों को परमात्मा केवल कमाने खाने, गृहस्थी चलाने आदि की युक्तियाँ बतलाया

करता है जिससे उनकी जीवनयात्रा में कोई बड़ा बिघ्न न पड़े । महात्मा कबीर कहते हैं 'हरि जैसे को तैसा है' ।

संसार में जितने जीवधारी हैं उनको ईश्वर उन्हीं के अनुकूल उपदेश करता रहता है । चोर के जी में ईश्वर चोरी करने की बातें बतलाता है, धन के स्वामी को अपना माल ताकने की युक्ति समझाता है । जो साहजी, ईश्वर का बचन न मान के धन से गाफिल रहेंगे तो चोर साहब सारी पूँजी उड़ा ले जायँगे और जो चोर राम परमेश्वर की बातों पर ध्यान न दे के जागने वाले के घर जायँगे तो अपने किये का फल पावेंगे । ऐसे 2 अनेक उदाहरणों से आप समझ सकते हैं कि ईश्वर का बचन वही है जो हर एक के हृदय में उसकी भावना के अनुसार हर समय गूँजा करता है । यही ईश्वर की आज्ञा, वुह स्वाभाविक वृत्ति है । जब भोजन करने की आज्ञा होती है तब किसको सामर्थ्य है कि न खाय ? न खाय तो आज्ञा भंग करता है और उसी समय दंड पाता है । अर्थात् भूख के मारे तिलमिला जाता है । नींद, भूख, प्यास, दुःख, सुख इत्यादि उसकी जीवंत आज्ञा हैं, जिनका पालन करना ही सबके लिये श्रेयस्कर है, नहीं तो जीवन दुःखमय हो जाता है ।

अपने निज मित्रों को परमेश्वर देशोद्धार और प्रेम प्रचारादि की आज्ञा दिया करते हैं जिनके माने बिना उन सत्पुरुषों का भी क्षण भर निर्वाह नहीं है । ऐसी 2 उसकी अनंत आज्ञा हैं जिनका वर्णन तो कोई कर नहीं सकता, इशारा मात्र हमने कर दिया है । जितना अधिक सोचिएगा उतना ही आपको ज्ञात होता जायगा । यों ही उसकी बनाई पुस्तकें भी अगणित हैं पर हमें केवल दो पोथियाँ उसने दी हैं । एक का नाम है दृश्यमान जगत अर्थात् भूगोल खगोल और दूसरी का नाम है आंतरिक सृष्टि अर्थात् मन, बुद्धि, आत्मा, स्वभाव आदि का संग्रह । इन्हीं दोनों पुस्तकों को लाखों बरस से, लाखों लोग विचारते आए हैं पर किसी ने इतिश्री नहीं की । अस्तु जितना हो सके उतना आप भी बिचारते रहिए, इसी में कल्याण है ।

हाँ, हमारे इतने लिखने पर यदि कुछ रुचि उपजी हो तो कृपा करके यह बतलाइए कि आपको ईश्वर बहुधा कैसी बातें बतलाया करते हैं ? आपको किस प्रकार की आज्ञा दिया करते हैं ? आपने उनकी दोनों पुस्तकों को कितना समझा है ?

खं० 6, सं० 1 (15 अगस्त, ह० सं० 5)

दान

यदि इस शब्द को सुन के हमारे पाठकों का चित्त पानदान, पीकदान, इत्यादि की ओर न चला जाय तो हम दिखलाया चाहते हैं कि हमारे महर्षियों ने इन दो अक्षरों में भी दोनों लोक की भलाई भर रखी है । यदि किसी को यह शंका हो कि 'द' (दकार) तो वर्णमाला भर में सबसे बुरा अक्षर है (यह बात

ब्राह्मण के चौथे खंड की दूसरी संख्या में देखो) फिर वुह शब्द जिसकी आदि में दकार ही है, क्यों कर अच्छा हो सकता है ? तो इनका सहज उत्तर यह है कि अंत में जो नकार है वुह प्रायः सब भाषाओं में निषेध वाचक है। संस्कृत में न अथवा नहि, हिंदी में नहीं, फारसी में ने, अँगरेजी में नो या नाट, सबका अर्थ एक ही है। इससे इस बात की सूचना होती है कि 'दान' में दकार की दुरूहता नहीं है।

'दान' शब्द में दकार केवल इसलिये रखी गई है कि अपने पास से किसी को कुछ देना पहिले तनिक अखरता है, नहीं तो वास्तव में दान कोई बुरी बात नहीं है। यह बात इस शब्द के अक्षरार्थ ही से प्रकाशित है, अर्थात् द (दुःख, दुस्सहपन, दुरूहता आदि) और न अर्थात् नहीं, भाव यह हुआ कि दान में कोई दोष नहीं है। मोटी बुद्धि वाले समझें अथवा कपटपूर्ण विदेशी उसका अर्थ कुछ का कुछ समझावैं तो और बात है, नहीं तो दान है बहुत अच्छी बात। यह सब मत सब देश, सब काल के लोग मानते हैं कि धर्म को ईश्वर के साथ बड़ा भारी, बड़ा गहिरा, बड़ा घनिष्ठ संबंध है। क्योंकि ईश्वर की दया प्राप्त करने के लिए सब महात्माओं ने धर्म करना बतलाया है। जिसे ईश्वर की भक्ति अथवा ईश्वरकृत जगत की प्रीति होती है वह सदा धर्म ही का आचरण किया करता है। उसी धर्म अथवा यों कहिए ईश्वर के परम मित्र के (हमारी पुराणों में लिखा है कि) चार चरण हैं—1. सत्य, 2. शौच, पवित्रता, 3. दया, 4. दान। उनमें से एक 2 युग में एक 2 चरण टूट जाया करता है। सतयुग में सत्य, शौच, दया, दान सब विद्यमान थे पर तौ भी सत्य का पूरा सन्मान था।

श्री महाराज हरिश्चंद्र के चरित्र विदित हैं कि उन्होंने राजपाट, स्त्री, पुत्र सब त्याग दिया पर सत्य को न छोड़ा। त्रेता में धर्म के तीन ही चरण रह गए अर्थात् सत्य का प्राबल्य जाता रहा। महाराजा दशरथ ऐसे धर्मात्मा का मन श्री रामचंद्र की वनयात्रा के समय डावाँडोल हो गया। यद्यपि कैकेयी जी से वचन हार चुके थे पर यह कभी न चाहते थे कि भगवान बन को चले जायँ। जब ऐसों की यह दशा हुई तो दूसरों को सत्य का आग्रह क्या हो सकता था ? हाँ, शौच का उस काल में अधिक आदर था। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, हनुमान आदिक जो उस समय भारत के मुकुट के महा अमूल्य रत्न थे, उनके चरित्र में हमारे द्वेषी भी, चाहे कोटि दोष लगावें पर, अपवित्रता की गंधि नहीं बतला सकते। द्वापर में केवल दो ही चरण रह गए। अर्थात् सत्य और शौच का बल इतना घट गया कि युधिष्ठिर ऐसे सत्यवादी ने 'नरो वा कुंजरः' कहा। पराशर ऐसे धर्मज्ञ का योजनगंधा पर चित्त चल आया। पर हाँ, दया की उस काल में इतनी श्रद्धा थी कि भगवान बुध ने हिंसा प्रचार करने वाले वेद मंत्रों तक का तिरस्कार करके 'अहिंसा परमो धर्मः' का डंका बजाया।

अब कलियुग में न सत्य का बल है, न शौच का निर्बाह है, न दया में जीव है। पर दान का अब भी अभाव नहीं है। धर्म का यह चरण इतना दृढ़ है कि कलियुग के तोड़े भी न टूट सका। इसको धर्म का चरण क्या यदि धर्म का रूप ही कहैं तो भी विरुद्ध न होगा। आप चाहे जैसे खोटे कर्म करते रहिए कुछ चिंता नहीं, परंतु अवसर पर चार पैसे किसी ब्राह्मण के हाथ धरिए उसी समय धर्ममूर्ति, धर्मावतार की पदवी पा जाइएगा। जब ग्रहण पड़ते हैं तब भड्डरी और डोम भी यही कहते हुए फिरा करते हैं कि 'धरम करो'। इसका तात्पर्य यही है कि कुछ देव।

अब बिचारने की बात है कि सर्वोच्च ब्राह्मण से लेके अस्पर्श्य डोम तक जिसको धर्म कहते हैं वुह धर्म क्यों न होगा ? हमारे यहाँ यह दोहा बहुत प्रसिद्ध है कि 'दया धर्म को मूल है, नर्कमूल अभिमान। तुलसी दया न छोड़िए, जब लग घट में प्रान।' इसमें भी दया से यह अभिप्राय है कि दीन

दुःखियों को कुछ देना । सब प्रकार की पवित्रता (शुद्धता) भी दान से होती है । घर साफ न हो, दो आने मजदूर को दीजिए, झक्क कर देगा । शरीर मैला हो, नाई अथवा कहार को दो पैसे दीजिए, नहला धुला के शुद्ध कर देगा ।

मन शुद्ध न हो, कोई धेली रुपये की 'बैराग्य शतक' या 'तदीय सर्वस्व' आदि पुस्तक मँगवा के पढ़िए या किसी महात्मा पंडित को कुछ भेंट दे के उपदेश सुनिए, सब दुविधा जाती रहेगी । तबीयत रंजीदा हो, किसी चन्द्रबदनी को दो एक रुपया दे के घंटे आध घंटे उसके हाव भाव गान तान का स्वादु लीजिए, सब दुःख जाता रहेगा । सत्य की परीक्षा भी रुपए ही पैसे के मुआमिले में होती है । ठीक समय पर लेन देन बेबाक रखिए । देने लेने में चार पैसे की समाई रखिए । सब कोई आपको सच्चा समझेगा । सारांश यह है कि सत्य, शौच और दया सब दान ही के अंतर्गत हैं । फिर दान को धर्म का स्वरूप कहना क्या अत्युक्ति है ? अब यह वर्णन करना रह गया कि यदि दान ही धर्म है तो दान से ईश्वर से क्या संबंध है ?

हाँ, दान ईश्वर को इतना प्रिय है कि ईश्वर दिन रात दान किया करता है । कौन आस्तिक है जो देह, प्राण, अन्न, वस्त्र, ज्ञान, बुद्धि, पुत्र, मित्र, भक्ति, मुक्ति आदि को ईश्वर ही का प्रसाद न मानता हो ? ईश्वर के सिवा जन्मदाता, अन्नदाता, सहायदाता दूसरा है कौन ? ईश्वर ही तो महादानी है । उसी का दिया हुआ तो सब पाते हैं एवं उसी की दी हुई वस्तु हम तुम दान करते हैं । वुह महादाता दाताओं को प्यार भी करता है, कि जो कोई अपना मन परमेश्वर को दे देता है, परमेश्वर उसे प्रेमसुधा का दान करते हैं ।

जब जगदीश्वर स्वयं दानी हैं और दानियों के हितकारक हैं तो संसारी जीवों का तो कहना ही क्या है ? ऐसा कौन है जो दान पा के आनंदित न होता हो अथच दान दे के यश और सुख न पाता हो ? पर दान के योग्य पदार्थ और दान के पात्र का विचार न रख के दाता को ठीक फल नहीं होता, क्योंकि प्रेम के बिना जितनी बातें हैं सबमें बिना बिचारे हाथ डालना कष्टकारक होता है । इससे यदि दान का पूरा आनंद चाहो तो सोच समझ के दान किया करो । हमारे पूर्वजों ने जो देश काल वर्णन किए हैं वुह सब ठीक हैं, पर इस काल में न इतने श्रद्धालु दानी हैं न इतनी विद्या है, इससे हम देश का अर्थ केवल भारत और इंग्लिस्थान समझते हैं, जिनसे सदा काम रहता है, और काल के लिए कोई नियम नहीं समझते हैं ।

सदा सब काल देते रहना ठीक है । रहा दान का फल, सो अगले लोगों ने अधिकतः स्वर्गप्राप्ति के लिए दान करना बतलाया । पर हमारी समझ में स्वर्ग का अर्थ सुख है अर्थात् जिसमें अपने मन, कुटुंब, जाति और देश को सुख मिले वैसा ही दान करना ठीक है । मरने पर जो कुछ होता है तो उन्हीं लोगों को स्वर्ग, मुक्ति, कैलाश, बैकुंठ सब मिलेंगे जो देश के लिये दान करते हैं । इससे अधिक लिखना व्यर्थ है । केवल दान्य वस्तु और दान पात्र सुनिए ।[1]

खं० 6, सं० 1 (15 अगस्त, ह० सं० 5)

---

1. देखिए आगे 'देयवस्तु' और 'दान-पात्र' शीर्षक रचनाएँ ।

देय वस्तु

संसार में जितने पदार्थ देखे सुने और समझे जाते हैं सब परमात्मा ने मनुष्य को दान किए हैं, और मनुष्य की सामर्थ्य है कि जितनी वस्तु अपने अधिकार में रखता है दूसरों को दान कर दे । सच्ची उदारता भी यही है कि अपना तन, मन, धन दूसरों को देता रहे । यदि बिचार के देखिए तो वास्तव में जगत का एवं तदंतःपाती समस्त सामग्री का स्वामी सच्चिदानंद है । सबको सब कुछ दिया भी उसी ने है । अतः मनुष्य को देने में आगा पीछा करना व्यर्थ है ।

भाई, जो तुम्हारी निज की वस्तु हो वुह न दो, पर यह तो बताओ कि तुम्हारा है क्या ? शरीर पंचतत्त्व का है रुपया पैसा खनिज पदार्थ का है वस्तु रुई ऊर्णादि के हैं, मूल में सब कुछ परमेश्वर का है । फिर देने में हिचिर-मिचिर क्या—"पूँजी पूरे साह की जस कोऊ करि लेय" । लड़का पैदा होता है तो कटिसूत्र तक नहीं पहिने होता । पास कौड़ी भी नहीं होती । मनुष्य मरता है तब भी वैसे ही पृथिवी, जल अथवा अग्नि के मुँह में चला जाता है ।

हाड़े की कौड़ी साथ ले जाता है न ताँबे का पैसा । हाँ जब तक यहाँ रहता है तब तक थोड़े बहुत पदार्थों का भोग कर लेता है । इससे यह तो प्रत्यक्ष है कि 'आदि संग आई नहीं, अंत संग नहिं जाय । बीच मिली बीचै गई, तुलसी झखै बलाय' । हम चाहे कोटि उपाय करें पर ऐसा कभी किसी ने न सुना होगा कि जितना, जो कुछ हम चाहते हैं उतना प्राप्त हो जाता हो । कौन नहीं चाहता कि जगत भर की संपत्ति, सुख, सुजस, मुझे 'मिल जाय ?

कौन नहीं चाहता कि मेरे बराबर किसी बात में कहीं कोई न देख पड़े ? यदि सभी लोग संसार भरे के स्वामी हो जाते तो सेवा करने वाले (जिनसे स्वामित्व की शोभा है) कहाँ से आते ? इससे यह प्रत्यक्ष है कि कहीं कोई एक महासामर्थ्यवान शक्ति अथवा व्यक्ति है । ईश्वर, भाग्य, इत्तिफाक, चाहे जो मान लीजिए, उसी की इच्छा वा उसी के द्वारा हमें, जितना हमारे मिलने के योग्य है, मिलता है ।

फिर क्या, जब हम स्वयं दूसरे का पाते हैं तो देने में हिचिर-मिचिर क्यों ? जबकि दूसरे की वस्तु दूसरे को देना है तो सोच ही विचार क्या ? आखिर एक दिन हमारे हाथ से जाती रहेगी । फिर क्यों न अभी से उसका मोह छोड़ के सेंत मेंत में कीर्तिलाभ कर लें । क्यों न सारे संसार एवं जगतकर्तार के मुख से—'भीख में से भीख दे, तीनों लोक जीत ले', कहलाने का उद्योग करें ? स्मरण रखिए, जो कुछ आपके पास है वुह यदि अपने काम ले आइए तो कोई बुराई नहीं, पर भलाई भी क्या है ? हाँ, यदि अपने और यथासाध्य पराए कार्य में भी लगाते रहिए तो बुद्धिमानी है । पर यदि अपनी हानि करके भी पराया हित कर सकिए तौ तो सच्ची कीर्ति के पात्र हो जाइएगा ।

लक्ष्मी जी (धन, बल, विद्यादि) संसार में तीन रूप से बिचरती हैं । किसी के यहाँ कन्या के रूप में जाती हैं, उसे निंदास्पद बनाती हैं । जो न अपने लिए उठाता है न औरों को देता है वुह सूम कहलाता है । अंत में दूसरे लोग उसका धन भोगते हैं, पर कुछ प्रशंसा नहीं करते । हमें आशा है 'ब्राह्मण' के रसिक अपनी लक्ष्मी से ऐसा बर्ताव न करते हैं न करेंगे । लक्ष्मीजी बहुतों के पास पत्नी स्वरूप से जाती हैं । अर्थात् जिसकी कहलाती हैं उसी के काम आती हैं, दूसरों से कुछ प्रयोजन नहीं । यद्यपि यह रीति बुरी नहीं है पर कोई उत्तमता भी नहीं है । हाँ, जिनके पास वेश्या बन के जाती हैं अर्थात् अपने पराए

सबके सुख साधन में आती हैं वही उदार, यशी, जगत हितैषी कहलाता है। अतः बुद्धिमान को चाहिए कि परस्वारथ के लिए प्राण तक दान कर दे।

सबसे पहिले चाहिए कि इस बात पर दृष्टिदान करें कि दान वस्तु और दान का पात्र दोनों दान के योग्य है कि नहीं। यह विचार रखे बिना दान निष्फल है, बरंच बहुधा दुष्फल जनक हो जाना भी संभव है। हमने पुराने ढंग के लोगों से सुना है कि बाजे 2 लोग तीर्थों के पंडों को स्त्री दान करते थे। उसे हम दान नहीं कहेंगे। वुह बिना सोचे विचारे धन और धर्म का सत्यानाश करना था। यदि किसी वेद अथवा शास्त्र में प्रत्यक्ष वा हेर-फेर के साथ ऐसी आज्ञा भी हो तो माननी चाहिए। स्त्री का नाम अर्द्धांगी इसलिए रखा गया है कि सांसारिक अथच परमार्थिक कामों में साथ दे सकती है। पर वुह कोई वस्तु अथवा पशु नहीं है कि जिसे चाहें उसे दे डालें।

हाँ, जिसे हम हाथ पाँव धन अन्नादि से सहाय दान करते हैं हमारी अर्द्धांग स्वाभिनी भी करे, पर यह क्या है कि दानपात्र का कोई विशेष हित अथवा उसकी योग्यता देखे बिना 'ओम् विष्णुर्विष्णुः' कर दिया जाय। दान का मुख्य प्रयोजन यह है कि जिसे जिस बात की आवश्यकता हो और उस आवश्यकता के पूर्ण करने की सामर्थ्य न हो उसे यथोचित अथवा यथासामर्थ्य सहायता देना। इस दशा में भी यदि यह शंका हो कि लेने वाला ले के उचित रीति से काम में न लावेगा तो दान करना पाप है। बस, इस नियम पर दृष्टि रख के सदा सकल पदार्थ दान करते रहिए, पूर्ण फल के भागी हो जाइएगा। बिना जी दुखाए फेर लेने की इच्छा से उचित ब्याज पर गरीब भलेमानस को ऋण देना भी दान है। कोमलता के साथ काम कराने की इच्छा से किसी को नौकर अथवा मजदूरी पर रख लेना भी दान है। अपने पास खाने का सुभीता न हो तो साधारण लोगों से कुछ ले के (जितना देते उन्हें अखर न हो) उनके बालकों को विद्या पढ़ाना एवं कोई गुण सिखाना भी दान है। किसी निर्बल व्यक्ति को एक अथवा अनेक अत्याचारियों के हाथ से कल बल छल कुछ ही करके बचा लेना दान है।

किसी की कोई बुरी लत छुड़वाना दान है, क्योंकि ऐसे 2 कामों से दूसरों को उचित सहायता मिलती है। कहाँ तक कहिए, समझ बूझ के साथ जाति, धर्म, प्रतिष्ठा, धन, मान, प्रान, सर्वस्व तक दान करना उत्तम है। कोई गाय, भैंस, बालक, वृद्ध, अंधा, पंगु मोहरी में पड़ा हो और बिना हमारे निकाले न निकल सकता हो तो कपड़ों समेत नाली में घुस के उसे उबार लेना, देश में विद्या गुण कला कौशल फैलाने के लिए जहाज पर चढ़ के, सब छुवाछुत गँवा के, बिलायत जा के, जातिहित साधन करना इत्यादि तो हई क्या लोक परलोक सब त्याग के पराया भला करना दान है। स्वामी रामानुज जी ने गोष्ठी पूर्णाचार्य जी से ब्रह्म विद्या सीखी थी। उस समय आचार्य ने प्रतिज्ञा करा ली थी कि किसी को न बतावेंगे पर ज्यों ही सीख चुके त्यों ही समस्त शिष्यमंडली को बतलाना आरंभ कर दिया।

यह समाचार पा के पूर्णाचार्य क्रुद्ध होके कहने लगने कि "तुमने गुरु के वाक्य उल्लंघन किए हैं अतः नर्क जाओगे"। पर इस परमोदार शेषावतार श्रीयतिराज ने कहा 'पतिष्ये एक एबाहं नरकै गुरु पातकात्। सर्वे गच्छन्तु भवतां कृपया परम् पदः'। सच है, दान इसी का नाम है कि परोपकाराणि नर्क से भी न डरना। जब हमारे माननीव महात्मा यहाँ तक उदाहरण दिखला चुके हैं तो दूसरी वस्तु कौन सी है जो पात्र के देने योग्य न हो। हमारे पूर्वजों ने बड़ी भारी बुद्धिमानी से जाड़े में तिल, कंबल, ईंधनादि का दान, ग्रीष्म ऋतु में जल, छत्र, उपानहादि का दान बतलाया है।

इनमें बहुधा योग्यायोग्य का विचार नहीं भी अपेक्षित है। उस ऋतु में वे वस्तुएँ जिसे दीजिएगा

वही सुख पावेगा । पर उसमें बिना विचारे बहुत से दानपात्रों का बिमुख रह जाना एवं जिन्हें आवश्यकता नहीं है उनका उड़ा ले जाना संभव है । विशेषतः कन्या और गऊ तो कुपात्र को देना ही न चाहिए । इसी से हमारे प्रेमशास्त्र की आज्ञा है कि सबसे बड़ा मन का दान है । प्रत्येक दान में मन लगा के देख लिया कीजिए कि देय वस्तु और दानपात्र दोनों ठीक हैं कि नहीं । बस सारे दान सुफल हो जायँगे । यदि कुछ देने की सामर्थ्य न भी हो तो भी सेंत मेंत में मानसिक पुन्य मिलता है । पर देखिए, दान दे के अपने लिए फल की आशा करना वणिग्वृत्ति है ।

धर्म चाहो तो केवल पराया भला करने में दत्तचित्त रहो । इसी में सब कुछ है । जब मन दे दीजिएगा तो कोई वस्तु देते हुए न अखरेगी । मन दे के यदि और कुछ न भी दे सकिए तो भी दानपात्र परम संतुष्ट रहेगा । अतः सब दशाओं में दानपात्रों की दशा पर दृष्टि देते रहो । इससे इतना महान् पुन्य होगा कि 'नर को बस करिबो कहा, नारायण वश होय' । बस दृष्टि और मन दे दीजिए फिर दान का सर्वस्व आपके अधीन हो जायगा । दूसरी वस्तु यदि आप न दे सकें तो आपके कहने से दूसरे लोग देना सीख जायँगे । उस दशा में आपको विश्वास हो जायगा कि मन का दान करने वाला दाता ही नहीं बरंच दाताओं का गुरु है और उसी दशा में हम आप से कहेंगे कि अमुक को कुछ दान कीजिए और कुछ न हो सके तो वचन मात्र से उपदेश ही का दान करते रहिए । इसमें भी एक न एक दिन बड़ा उत्तम फल प्राप्त होगा । इस समय अधिक न हो सके तो हमारे इस वचन पर केवल कान दीजिए (यदि ध्यान दीजिए तो अत्युत्तम) कि दान अति उत्तम कृत्य है, उसमें भी मन दान सब दानों का मूल है । उसके कारण सारा संसार दान में देने के योग्य दिखलाई देगा । यहाँ तक कि दाता लोग परमपद का दान कर सकते हैं, पात्र होना चाहिए । एक प्रेमी का वचन है कि एक महात्मा ने हमें परमतत्व परमात्मा दान में दे दिया ।

यह बात यदि अभी न समझ में आवे तो कुछ दिन कुतर्क छोड़ के प्रेमशास्त्र पढ़िए, तब निश्चय हो जायगा कि परमेश्वर तक दान में दिया जा सकता है दूसरी बात की तो बात ही क्या है । पर इतना स्मरण रखिए कि वुह 'कुर्तमकर्तुमन्यथा कर्तु समर्थ' है, इससे दाता, दानपात्र एवं दान का विषय सब हो जाता है, पर पात्र मिलने पर । पर यह विषय गूढ़ है इससे इस विषय में तो हम इतनी अनुमति मात्र दे सकते हैं एकाग्रचित्त हो के प्रेमदेव से प्रार्थना करो तो कदाचित वुह प्रेमसिद्धांतियों के दान का ज्ञान दें । हाँ, यदि हमारे लेख से दान की सामग्री समझ में आ गई हो तो दान के पात्र भी ध्यान में धर रखिये ।

खं० 6 सं० 2 (15 सितंबर, ह० सं० 5)

धर्म और मत

धर्म वास्तव में परमानंदमय परमात्मा एवं उनके भक्तों से प्रेम तथा संसार में क्षेमस्थापन का नेम मात्र है । जितने महात्मा हो गए हैं सबका यही सिद्धांत रहा है । इसी के अंतर्गत वेद, शास्त्र, पुराण, बाइबिल

अथवा कुरआन आदि किसी धर्मग्रंथ अथच किसी आचार्य की सत्यता पर विश्वास रखना, यथासाध्य उन कामों से बचे रहना जिन्हें बुद्धिमानों ने बुरा ठहराया है, पक्षपात को दूर रख के जिससे पूछियेगा यही उत्तर पाइयेगा कि वास्तव में धर्म यही है, और हम निश्चर्यपूर्वक कहते हैं कि यदि इस सर्वसम्मत धर्म पर सब मतों के मानने वाले चलते होते तो कभी, किसी देश में, कुछ भी, विघ्न न होता। पर जिन्हें लड़ना होता है वे अच्छी बातों में भी एक न एक बुराई निकाल लेते हैं।

जब जहाँ कोई अनर्थ होने वाला होता है तब वहाँ उपर्युक्त धर्म के स्थान पर मत का आदर होता है। प्रत्येक समूह को यही सूझता है कि केवल हमारे यहाँ की पोथी और मतप्रवर्तक एवं आंतरिक बाह्यिक व्यवहार अच्छे हैं, सारे संसार के बुरे। अन्तःकरण चाहे अन्यों की किसी बात में कोई उत्तमता भी समझे पर कोई न कोई युक्ति ऐसी निकालना चाहिए जिसमें दूसरे के मुख से बात न निकले और जगत् भर के लोग हमारे ही चेले हो जायँ। कोई आग्रह के मारे माने वा न माने पर हम दृढ़ता सहित कह सकते हैं कि मत का लक्षण एवं मत वालों का हार्दिक मनोर्थ इतना ही मात्र है, जिसका फल यह होता है कि जिन महात्माओं ने जन्म भर सबको सदुपदेश दिया है वे गाली पाते हैं।

जिन ग्रंथों ने देश के देश पवित्र एवं उन्नत किये हैं वे कलुषित ठहराए जाते हैं और भाई 2, पड़ोसी 2 में सदा जूता उछला करता है। बश होता है तो तलवार चला करती है नहीं वाक्यबाण तो चला ही करते हैं। किसी न किसी से मन नहीं मिलता। इसी से समुदायों की सारी बातें वस्तुतः सत्यानाश होती रहती हैं। पाठक महाशय, कृपा करके यह तो बतलाइये कि इन दोनों बातों में आप ग्रहण करने योग्य किसे समझते हैं ? जो धर्म की रुचि हो तो इस बात को गाँठ बाँधो कि अपने विश्वास को आँखें मूँदे मानते रहो, दूसरों के सिद्धांतों से प्रयोजन न रक्खो। कोई इस विषय में झगड़ने आए तो हार मान लो, और जो मत प्यारा हो तो मरकहा बैल की नाईं बेझते फिरो औ जीवन को ऐसा व्यर्थ बना लो जैसा अनंता (बाहु भूषण) का सुवर्ण होता है। मत की बदौलत न तुड़ाने के काम का न गलाने के।

खं० 6, सं० 3 (15 अक्तूबर, ह० सं० 5)

दान पात्र

तन, मन, धन एवं सर्वस्व दान कर देने के सच्चे और सर्वोत्तम पात्र अपने कुटुंबी, सजाती एवं स्वदेशी हैं। जिस रीति से जब जो कुछ देना हो इन्हीं को देना चाहिए। तिसमें भी जिससे जितना अधिक निकटस्थ और गंभीर संबंध हो उसी को अधिक देना चाहिए। जब स्त्री, पुत्र, माता, पिता, भाई, बहिन, चचा, ताऊ, फूफा, मामा आदि का भली भाँति भरण-पोषण होने से उबरे तब अपने गोत्र वालों, उनके पीछे जाति वालों, उनके भी पश्चात् अपने ही देश के अन्य जाति वालों को देना उचित है। इसमें भी

अंधे, लूले, लँगड़े आदि को, धर्म विद्यादि के प्रचारकों को, गुणियों को, कारीगरों को, देने से विशेष फल है, पर हों अपने ही देश के। 'उदारचरितानांतु वसुधैवकुटुंबकम्' के हम विरोधी नहीं हैं, पर यह कभी न करना चाहिए कि 'बाहर वाले खा गये घर के गावें गीत'।

नामवरी के लालच में निज के लोगों का हक अन्यों को देना दान नहीं है, बरंच ऐसी मूर्खता है जिसका फल थोड़े ही दिनों में प्रत्यक्ष हो जाता है। जिन दिनों यहाँ अंग्रेजी राज्य का आरंभ और ईसाई धर्म की प्रबलता थी उन दिनों गुरुघंटालों ने प्रसिद्ध कर रखा था कि तीर्थ के संडे मुसंडे पंडों तथा पितृकार्य में हट्टे कट्टे महापात्रों अथच गयावालों को एवं ब्याह में कहार, बांजदार, आतशबाजी, फुलवारी बनाने वालों तथाच भांड वेश्याओं को देना वृथा है। पर हमारी समझ में यदि अपने तथा कुटुंब एवं जाति वालों से बचे तो इन्हें भी अवश्य देना चाहिए। इससे अपना धन अपने ही देश में रहता है तथा देश भाइयों को अपने 2 काम में उत्साह मिलता है। परंतु विद्या और कारीगरी यथा झुट्ठी चमकदार वस्तुओं के मोह में फँस के घर का धन विदेश में फेंक देना निरी मूर्खता जतलाना तथा दरिद्र बुलाना है। यदि उन दिनों हमारे देशी भाई कपट मित्रों के मायाजाल में न फँस जाते, केवल राजा को कर मात्र देते, अन्य बातों में अपने स्वदेशीय मनुष्यों तथा पदार्थों एवं गुण विद्या आदि की ममता न छोड़ते, तो यह दशा कभी न होती जो आजकल भोगनी पड़ती है।

मुसलमानी राज्य में अपव्यय का इतना तिरस्कार न था जितना इन दिनों है। पर उस समय देश के चौथाई से अधिक निवासी भूखों न मरते थे। कारण यह था कि देश का धन घूमघाम के देश ही में बना रहता था। पर खेद है कि लोगों के हृदय पर इस बात का दृढ़ संस्कार न था कि 'पहिले धन देहु स्वदेशिन को, उबरे तब नेक विदेशिन को।' हाँ, जो लोग धन पा के अपने कर्तव्य में न लगावें उन्हें देना आलस्य अथच दुर्व्यसन की वृद्धि करना है। पर इसमें भी इतना स्मरण रखना चाहिए कि अपना अपना ही है।

दूसरे देवताओं से भी अपने यहाँ के बुरे लोग अच्छे। इनका देना एक दिन फलेगा पर औरों को देना निरा व्यर्थ है। धन के अतिरिक्त विद्या दान के पात्र स्वदेशीय बालक मात्र हैं। उपदेश दान सर्वसाधारण के लिये है। जो किसी बात में अपने से बड़े हों वे सुश्रूषा के भाजन हैं। जो कुटुंबी अथवा एकाकी वस्तु के बिना उचित रीति से निर्वाह न कर सकते हों वे उस वस्तु के दान पात्र हैं। पर गऊ और कन्या के देते समय यह विचार कर लेना उचित है कि गृहीता उसे किसी प्रकार का कष्ट अथवा अनादर तो न करेगा एवं उसमें उसके पालन-पोषण आस्वासन की सामर्थ्य है कि नहीं। यदि न हो तो अपनी ओर से निर्वाह के योग्य सहायता करना चाहिए। नहीं तो केवल कुल देख के कभी दान पात्र न मान लेना चाहिए।

जो एक अथवा अनेक जन देश की भलाई का प्रयत्न कर रहे हों वे सर्वस्व दान के पात्र हैं। पर उनके भेष में जो केवल अपना पेट पालने और मजा उड़ाने के लिए देशहितैषिता के गीत गाते हों उन्हें एवं अपने स्वार्थ के हेतु अपनायत का रूप कसते हों वे चाहे अपने सगे बाप अथवा गुरू ही हों, कुपात्र हैं। ऐसों में जिनका भेद एक आध बार खुल गया हो, वे चाहे बीस बातें बनावें पर कुछ माँगें तो धक्के के सिवा कुछ न देना चाहिए। हाँ, यदि यह निश्चय हो जाय कि सचमुच महादरिद्र है तो एक दिन के साधारण भोजन भर को दे देना दोषास्पद नहीं है। पर उसके योग्य काम ले के तथा अपनी दया और उसकी बनावट जता के। इसी प्रकार सेंतमेंत में अथवा धोखा खा के यथासामर्थ्य किसी को कुछ

न देना चाहिए । हाँ, जो निरा असमर्थ हो उसे इतना मात्र देना चाहिए जितने में उसकी जीवन रक्षा हो जाय । यों देने से दान पात्र को ऐसी युक्ति बता देना उत्तम है जिसमें वह अपना निर्वाह आप कर सके । बस, इससे अधिक दान पात्रों की व्याख्या व्यर्थ है ।

केवल इतना और स्मरण रखिये कि जिसने अपने प्राण बचाने में सचमुच उद्योग किया हो उसके लिए यदि सारा धन काम आवे तो दे देना उचित है, एवं जिसने मान, संभ्रम (इज्जत) बचाया हो उसके लिए धन और प्राण दोनों खो देना योग्य है तथा जिसने अपने साथ सच्चा स्नेह किया हो उस पर धन, प्रान और इज्जत सब वार देना महादान है । इन दिनों हिंदुओं के लिये भारत धर्म महामंडल और हिंदोस्तानी मात्र के लिये नेशनल कांग्रेस से बढ़ के दान पात्र कोई नहीं है जिन पर सारे देश का सुख सौभाग्य निर्भर है ।

यों सभाएँ कई एक हैं पर वे यदि एक समुदाय का भला चाहती हैं तो दूसरियों के साथ स्पर्धा करती हैं । बरंच कभी 2 परस्पर द्वेष फैलाती हैं अतः उनकी सहायता केवल उन्हीं को योग्य है जो उनमें फँसे हुए हैं । पर यह दोनों उपर्युक्त समाजें वर्षों से सर्वसाधारण के लिये प्रयत्न कर रही हैं । इससे सबका परम धर्म है कि इनके ऊपर तन मन धन निछावर कर दें । जो हमारे दान विधान को मन लगा के समझेंगे एवं दूसरों को समझावेंगे तथा ब्राह्मण के बचन बर्त्ताव में लावैंगे वे वह फल पावैंगे जिसका वर्णन वृथा है । कुछ दिन में आप प्रत्यक्ष हो जायगा ।

खं० 6 सं० 3 (15 अक्टूबर, ह० सं० 5)

मूर्तिपूजकों का महौषध

यों चाहै जो कहा करे कि मूर्तिपूजा वेदविरुद्ध होने के कारण हानिकारिणी है पर जिन महात्माओं का सिद्धांत है कि 'धर्मार्थिकाममोक्षाणामारोग्यं मूलकारणम्' उनके वचनानुसार हम कह सकते हैं कि जिन्हें इस काम में पूर्ण श्रद्धा न हो वे भी केवल नित्य नियमानुसार दर्शन और चरणामृत पाने मात्र से शारीरिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं । प्रत्याह सूर्य्योदय के पहिले गंगा स्नान निभ सके तौ तो कहना ही क्या है, प्रातः काल की स्वच्छ वायु का सेवन, सो भी पाँव 2 चल के, वैद्य डॉक्टर हकीम सभी के मत में महागुणदायक है । ऊपर से उस समय जिस देवमंदिर में जाइए, बहुधा फूलों तथा धूप कर्पूर से महकता हुवा पाइएगा । यह मस्तिष्क के लिये अमृत ही है ।

परमेश्वर ने चाहा तो हैजा और इन्फ्लुयंजा तो कभी पास न आवैंगे । इदि इतना भी न हो सके तो चरणामृत ही का नेम कर लीजिए । उसकी भी यह महिमा झूठ नहीं है कि 'अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधि विनाशनं' । जो व्याधि हरेगा वह अकाल मृत्यु को अवश्य ही निकट न आने देगा । सो सभी पदार्थ उसमें विद्यमान हैं । गंगाजल को सभी जानते हैं, सारे संसार की नदियों से अधिक शुद्ध है ।

बरसों रख छोड़ो न स्वादु बदलेगा, न दुर्गन्धि आवेगी, न कीड़े पड़ेंगे । ऐसा उत्तम जल, उसमें भी सर्वज्वरघ्न तुलसी के दल ऊपर से । महातापहारक चंदन (ज्वर अजीर्ण और दाह में वैद्यों के यहाँ तुलसी तथा हकीमों के यहाँ संदले सुफैद आगे चलते हैं) सो भी जाड़े के दिनों सुगंधिप्रसारक और पुष्टिकारक केशर से मिला हुआ, जिसे नित्य निहार मुँह सेवन करने को मिलेगा उसे भला शीतोष्णजनित व्याधि क्यों सताने लगीं, विशेषतः भारत ऐसे उष्णता प्रधान देश में ?

उपर्युक्त तीनों पदार्थों का गुण चाहे जिस वैद्यविद्या विशारद से पूछिए, उत्तम ही बतलावेंगे । फिर हम क्यों न मान लें कि भगवान का चरणोदक इस देश वालों के लिये बिना पैसा कौड़ी की सर्वव्याधि विनाशिनी महोषध है । हाँ, यदि नये नेमियों को उसके सेवन से श्लेष्मा हो जाय तो केवल दो ही तीन का काया कष्ट है, जान जोखों नहीं है, जब अभ्यास पड़ जायगा तब प्रत्यक्ष गुण देख पड़ेगा । यदि हमारे कहने से जी न भरे तो चरणामृत के ऊपर से दो चार बालभोग के बताशे अथवा भिगोई हुई चने की दाल (कच्ची) थोड़ी सी पा जाइये तो वह डर भी जाता रहेगा । और सुनिए, श्री शालिग्राम अथवा नर्मदेश्वर जी को स्नान करा के आँखों पर स्पर्श कीजिए तो वह ठंढक आती है कि क्या ही कहना है ।

आश्चर्य नहीं जो ऋषियों ने प्राणायामजनित ऊष्मा की निवृत्ति ही के लिये यह रीति निकाली हो । कई मित्रों का अनुभव है कि नेत्र विकार के लिये यह अत्युत्तम उपाय है । यदि ऐसी ही ऐसी बातें वेद विरुद्ध हैं तो वेद भगवान को दूर ही से प्रणाम है जो श्रद्धालुओं के तन मन और आत्मा के लिये सुखद और केवल नियमपालकों के लिये शरीर स्वस्थ रखने वाले मूर्तिपूजा का निषेध करते हों ।

खं० 7, सं० 4 (15 नवंबर, ह० स० 6)

श्री भारत धर्म महामंडल

जिन विदेशी इतिहास लेखकों का यह मत है कि 'आर्य जाति यहाँ की सनातन निवासिनी नहीं है, बरंच आदि में ईरान अथवा अन्य किसी देश से आ के और यहाँ के प्राचीन निवासियों को हरा के अपना प्रभुत्व जमाया तथा घर बनाया था उनका कथन तो हमारी समझ में नहीं आता, क्योंकि उन्हीं के वचनानुसार सृष्टि को बने हुए अनुमान छः सहस्र वर्ष बीते हैं और इतने थोड़े दिनों का पता लगाना खोजी के लिए दुस्साध्य चाहे जितना हो असाध्य नहीं है ।

फिर आज तक किसी ने क्यों न बतलाया कि आर्यों के आने से पहिले इस देश का क्या नाम था ? भीलस्थान, कोलस्थान, गोंडस्थान अथवा और किसी असभ्य जाति का स्थान ? यदि कोई महात्मा कुछ अनुमान कर कराके कोई नाम नियत भी कर देंगे तो हमें यह पूछने का ठौर बना रहेगा कि भिल्ल कोलादि तो आर्य्यों ही की भाषा के शब्द हैं तथा स्थान, सितान और सितां इत्यादि भी संस्कृत ही के स्थान से बिगड़ बिगड़ा के बन गए हैं, और जो जाति यहाँ आर्य्यों से पहिले रहती थीं वह भी संस्कृत

ही बोलती थीं, इसका क्या प्रमाण है ? इसका उत्तर आपके पास आज केवल इतना ही है कि आगे क्या था यह कोई जानता नहीं है । हाँ, अनुमान से ऐसा ही जान पड़ता है (जैसा विदेशी इतिहास लेखकों का मत है) । पर स्मरण रखिए कि आपका यह अनुमान ठीक नहीं है क्योंकि यदि आप ईश्वर को मानते हैं तो उसे अनादि सर्वशक्तिमान और सृष्टिकर्ता भी अवश्य कहते होंगे । तथा यह तीनों गुण तभी रह सकते हैं जब सृष्टि का आदि अंत न ठहराइए । नहीं तो बतलाइए तो, छः सहस्र वर्ष पहिले (जब सृष्टि न बनी थी) तब ईश्वर क्या कर रहा था ? यदि कुछ न करता था कहिए तो उसका सर्वशक्तिमानत्व और सृष्टिकर्तृत्व अनादि नहीं रहने का, बरंच ईश्वर का अस्तित्व ही व्यर्थ हो जायगा।

यदि ईश्वर को न मानिए तौ भी कृपा करके यह बतलाइए कि जिन पदार्थों और संघट्टनों से सृष्टि बनी है वह छः सहस्र वर्ष पहिले थे या नहीं ? यदि थे तो सृष्टि क्यों न बन गई और यदि न थे तो सृष्टि रचना के समय कहाँ से कूद पड़े ? ऐसी 2 बातों का विचार करने बैठिए तो अंत में निकाल यही निकलेगा कि आस्तिक और नास्तिक दोनों मतों के अनुसार जब से ईश्वर अथवा सृष्टि की सामग्री है तभी से उसका काम अर्थात् जगत का प्रादुर्भाब और तदन्तःपाती वस्तुओं की दशा का परिवर्तन होता रहता है । रहा मोटी रीति पर समय का कोई धढ़ा गांध लेना, उसके लिए जिनके यहाँ आंदम से सृष्टि का आरंभ माना जाता है उनके यहाँ हमारे देश का कहीं नाम भी नहीं लिखा, फिर उन लोगों के अनुमान का क्या ठीक कि वे किस मूल पर ऐसा अनुमान करते हैं वही जानें पर बिना किसी पुष्ट प्रमाण के उसका कथन सबको मान लेना कुछ भी आवश्यक नहीं है । इधर जिनके यहाँ ब्रह्मा से सृष्टि का आरंभ ठहराया जाता है उनके शब्द प्रमाण से स्पष्ट विदित है कि ब्रह्मा ब्राह्मण अर्थात् आर्य थे (वा हैं) । वे किसी दूसरे देश से यहाँ न आए थे ।

कानपुर के निकट ब्रह्मावर्त में उन्होंने यज्ञ किया था और उनके पुत्र मनु जी (जिनकी बनाई मनुस्मृति विद्यमान है), जो मानव जाति के मूल पुरुष हैं, अयोध्या के राजा थे और नेमिषारन्य में तप किया था । यों शास्त्रार्थ के आगे सभी देश के इतिहासों में गड़बड़ाध्याय है पर पता लगाने का पुष्ट उपाय यही है कि जहाँ का इतिहास जानना हो वहीं के बहुधा पुराने ग्रंथों तथा बचनों से ढूँढ़ा जाय । दूसरे लोगों का अनुमान बहुधा भ्रांतिमूलक ही होता है ।

इस न्याय से हिंदुस्तान सदा से हिंदुओं का है और हिंदू यदि किसी दूसरे देश से आए होते तो उनके प्राचीन ग्रंथों में उस देश का कुछ विवरण तथा इस देश के आदिम निवासियों की भाषा में यहाँ का नाम ग्राम अवश्य लिखा होता । क्योंकि इसमें कोई भी संदेह नहीं है कि सबसे पहिले लिखने, पढ़ने, कृषि, वाणिज्यादि करने में इन्हीं ने सबके आगे कदम बढ़ाया था । सारांश यह है कि आज हम किसी दशा में क्यों न हों अथवा हजार पाँच सौ वर्ष पूर्व कैसा ही दुःख सुख क्यों न भोगते रहे हों, पर हिंदुस्तान हमारा है, क्योंकि हम हिंदू हैं । यद्यपि मुसलमान, ईसाई, फारसी सब यहाँ रहते हैं पर कहलाते हिंदुस्तानी ही हैं जो नाम हमारे नाम के योग से बना है ।

हमारा राजा कोई हो, कहीं का हो, पर जब वह स्वयं अथवा उसके कुटुंबी वा सजाती यहाँ कुछ दिन के लिए भी निवास स्वीकार करेंगे तो हमारे ही नाम के साथ परिचित होने लगेंगे क्योंकि हम आर्य हैं और यह देश हमारा आवर्त है । हम हिंदू हैं और यह देश हमारा स्थान है । यह भारत है और हम यहाँ के मुख्य निवासी हैं । दूसरे लोग केवल गौण रीति से भारतीय कहलावें पर मुख्य भारतीय हमीं हैं जिनके लाखों पुरखे भारत में हो गए और परमेश्वर चाहेगा तो आगे होने वाली लाखों पीढ़ियाँ भारत ही

में बीतेंगी तथा हमारी ही उन्नति अवनति का नाम भारत की उन्नति अवनति है, था और होगा, क्योंकि राजा, राज कर्मचारी, राज जातीय, धनी, विद्वान एवं गुणवान इत्यादि यद्यपि सुखित, प्रतिष्ठित और शक्तिसमन्वित होते हैं पर अतः उनकी संख्या बहुत थोड़ी होती है ।

इससे उनके सुख दुःख, संपत्ति विपत्ति आदि को देश का सुख दुःख, संपत्ति विपत्ति नहीं कहते। वे चाहे यहाँ के निवासी चाहे प्रवासी, उनका नाम देश नहीं कहा जा सकता । हाँ, देश का एक विशेष अंग भले ही बने रहें पर साधारण समुदाय के लोग जिनका बल, विद्या, धन, मान आदि सर्वसाधारण से अधिक नहीं होता पर संख्या तीन चौथाई से भी कुछ अधिक ही होती है इससे वही देश के अस्थि मांस कहलाते हैं, बरंच उन्हीं का नाम देश है और उन्हीं की दशा देश की दशा कहलाती है ।

इस रीति से आँखें पसार के देखिए तो प्रत्यक्ष हो जायगा कि हिंदुस्तान हिंदुओं ही के बनने बिगड़ने से बन बिगड़ सकता है । जिन दिनों हिंदुओं के सौभाग्य का सूर्य पूर्ण रूप से प्रकाशमान था उन दिनों समस्त विदेशी हिंदुस्तान का यश गाते थे, प्रतिष्ठा करते थे और हिंदुस्तान के लिए ललचाते थे तथा हिंदुस्तान के कोप से डरते थे । जब हिंदुओं के कुदिन आये तब हिंदुस्तान दूसरों के स्वेच्छाचार का आधार बन गया ।

बड़े 2 शाहंशाहों के होते हुए भी भारत की दशा को कोई इतिहासवेत्ता अच्छी न कह सकता था । यों ही आजकल जबकि न महाराज पृथ्वीराज के पुरखों के समय की नाईं हिंदुओं को सब सुख सुविधा प्राप्त है न अलाउद्दीन औरंगजेब आदि के समय की भाँति राह चलना अथवा चार मित्रों के साथ बैठना कठिन है बरंच महारानी विक्टोरिया के प्रबल प्रताप से दुर्दशा का रोग निःशेषप्राय हो गया है और धीरे 2 बल बढ़ता जाता है तथा स्वच्छंद रूप से सबको अपनी दशा सुधारने का अधिकार है तब हिंदुओं के साथ 2 हिंद के दिन फिरने की आशा करना भी अमूलक नहीं जान पड़ता ।

पर यतः अपना भला बुरा अनेकांश में अपने ही करने से होता है । अस्मात् सब जातियों के साथ 2 हिंदुओं को भी उचित है कि इस सुराज्य के अवसर को हाथ से न जाने दें एवं सब बातों में राजा ही का मुखावलोकन न करते रहें, अपने सुधार के निमित्त कुछ आप भी हाथ पाँव हिलावें और सैकड़ों प्रमाण, सहस्रों साक्षियों से यह भी सिद्ध हो चुका है कि इस जाति का शारीरिक, आत्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, व्यावहारिक, लौकिक, पारलौकिक सब सुधार सदा सर्वथा धर्म ही के मूल पर स्थित है । इससे धर्म से संबंध रखने वाली सभाओं का समय 2 पर होते रहना इसके कल्याण साधन का एक बड़ा भारी अंग है और इसी विचार से बहुत से बुद्धिमानों ने बहुत स्थानों पर आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, धर्मसभादि कई एक सभा संस्थापित भी कीं । पर एक तो जो काम पहिले पहिल किया जाता है वह पूरी रीति से कम पूरा पड़ता है, दूसरे जिसमें एक बड़ा जनसमूह योग नहीं देता उसके उन्नति में बाधा अवश्य पड़ती है ।

इन दो कारणों से यह समाज जैसा चाहिए वैसी कृतकार्य न हो सकी । इनका उद्देश्य यद्यपि अनेकांश में उत्तम है पर धर्म प्रचार के साथ ही मत-मतांतर का खंडन मंडन, प्रतिमा पुराणादि की हठपूर्वक निंदा स्तुति और जाति भेद, भक्ष्याभक्ष्य विधवा विवाहादिक विषयक आग्रह निग्रह के कारण देश की साधारण जनता इन पर यथोचित श्रद्धा न कर सकी । यद्यपि इधर दो चार वर्ष से इनमें के कुछ लोग इस बात पर ध्यान देने लगे हैं कि लोगों की रुचि और देशकाल पात्र के अनुसार कार्यवाही किए बिना काम न चलेगा, पर इसका पूरा बर्ताव होने में अभी विलंब है । इससे यह कहना अयुक्त न होगा

कि इनके उद्देश्य की सफलता में भी विलंब है ।

इस कारण ऐसी महासभा की अवश्यमेव बड़ी आवश्यकता थी जो किसी नियत समय पर अनेक नगरों के अनेक मतानुयायी लोगों को एकत्रित किया करे और उन सबकी सम्मति के अनुसार सर्व धर्म ग्रंथानुमोदित सर्व समुदाय सम्मत एवं सर्वलोक रुचिकारक विचार तथा समय 2 पर स्थान 2 में अपने सहचर वर्ग के द्वारा उनके प्रचार का प्रबंध करती रहे । धर्म के भावुक और देश के भक्तों को आनंद मनाना चाहिए कि इसी अभाव की पूर्ति के लिए श्री भारत धर्ममंडल ने आविर्भाव किया है और पूर्वोक्त सभावों की दशा के द्वारा अनुभव लाभ करने से तथा उद्देश्य की उत्तमता, कार्याध्यक्षों की कुशलता एवं कार्यवाही की सुस्पष्टता से जन्म दिन से आज तक उत्तरोत्तर साफल्य प्राप्त किया है । पहिला महाधिवेशन हरिद्वार जी पर हुवा था । उस समय देश के महान् समुदाय को इसका आंतरिक मनोरथ भली भाँति विदित न था । इससे बहुत लोगों ने सहानुभूति न प्रकाश की थी । पर तौ भी थोड़े से चुने 2 दूरदर्शी विद्वान और प्रतिष्ठित हिंदुओं ने कटिबद्ध हो के उत्साहपूर्वक इसका मूल संस्थापन किया था जिसकी वृद्धि श्री वृंदावन वाले दूसरे ही समागम में बड़ी सफलता के साथ देखने में आई और विचारशीलों को विदित हो गया कि बहुत कोलाहल न मचने पर भी इसका कार्य उचित उन्नति के साथ होता रहा है और होता रहेगा ।

आज असाधारण लोगों की एक संतोषदायिनी संख्या को इसके साथ ममत्व भी है । कई एक धर्म सभाएँ इसे अपना अभिभावक भी समझती हैं । 'सुदर्शनचक्र' नामक एक उत्तम पत्र भी इसी के उद्योग से प्रकाशित होता है तथा कई स्थानों पर इसी के कार्य संपादकों के प्रयत्न से बाल्यविवाहादि कई एक कुरीतियों के निवारण की समयोपयोगी प्रथा का भी सूत्रपात्र हो गया है । क्या यह कृतकार्यता के लक्षण सहृदय मंडली के लिए तुष्टिदायक नहीं हैं, और यह आशा नहीं उपजाते कि यों ही काम होता गया तो बहुत कुछ हो रहेगा ? अब तीसरा समारोह इसी मास में इंद्रप्रस्थ के मध्य निर्धारित हुआ है । परमेश्वर करे इसमें और भी अधिक संतोषदायक साफल्य का दर्शन हो ।

इधर कांग्रेस के महाधिवेशन का समय भी निकट आ रहा है और उसकी समाप्ति वाले दिन सौश्यल्य कांफरेंस की भी अवश्य ही बैठक होगी । उसमें यदि इसकी ओर से भी कुछ सज्जनों का पदार्पण हो तो आर्य जाति के लिए एक सच्ची सुविधा की संभावना है । क्योंकि जिस प्रकार राजनैतिक सुधार के लिए नेशनेल कांग्रेस का सा उद्योग कर्तव्य है वैसे ही सामाजिक संशोधन के निमित्त कांफरेंस की भी बड़ी ही आवश्यकता है । बरंच इसके लिए उसका और उसके हेतु इसका बड़ा भारी प्रयोजन है । क्योंकि राजनीतिक भार अति भारी न हो तो लोग सामाजिक सुधार से बड़ा भारी सहारा पाते हैं और जिनकी सामाजिक दशा अच्छी होती है उनका राज परिकर की दृष्टि में आदर रहता है ।

इससे उनका शासन निरी मनमानी रीति से नहीं किया जाता और समाज उन्हीं के सुधारे सुधर सकती है जो समाज में आद्रित हों, उसकी रीति नीति भली भाँति जानते मानते हों तथा जनता की रुचि के अनुसार उसे उपर्युक्त मार्ग पर ला सकते हों । ऐसे लोग हमारे मुसलमान भाइयों को विद्वान धार्मिक मौलवियों में तथा हमें इस मंडल के सहवर्तियों ही में मिलेंगे । क्या भा०ध०मं० के महामंत्री हमारे श्रद्धापद पंडितवर श्री दीनदयाल महोदय हमारे विचार पर ध्यान दे के आगामी अधिवेशन में इसकी चर्चा चलावेंगे ?

खं० 7, सं० 4 (15 नवंबर, ह० सं० 6)

सच्चा सदनुष्ठान

अबकी बार दिल्ली में भारत धर्म महामंडल का अधिवेशन बड़ी भारी धूमधाम से हुआ जिसका वृत्तांत कई समाचारपत्रों के द्वारा प्रकाशित होने से अनेक सहृदयों को बड़ी भारी आशा और संतोष होने की दृढ़ संभावना है। पर हमारी समझ में यों तो उसके सभी विचार उत्तम और उपयोगी हैं किंतु उनके अंतर्गत संस्कृत कालेज स्थापन करने का विचार ऐसा हुवा है जिसकी इस समय बड़ी ही आवश्यकता थी। हमें यह पढ़ के बड़ा आनंद हुवा है कि कई उत्साही पुरुषों ने उसी समय चन्दा भी जी खोल के दिया अर्थात् पंद्रह सहस्र रु० के लिए हस्ताक्षर हो गए और आशा है कि शीघ्र ही इसका प्रबंध होने की चेष्टा की जायगी।

पर कोई हमसे पूछे तो यही कहेंगे कि और सब काम कुछ दिन के लिए उठा रक्खे जायँ पर इसके लिए जैसे बने वैसे शीघ्र ही उद्योग करना चाहिए। देश के सच्चे नीतिज्ञ शुभचिंतकों का परम धर्म है कि चाहे झोली बाँध के पैसा दुकान 2 माँगना ही क्यों न पड़े, चाहे घर के कपड़े बर्तन बेचने ही क्यों न पड़ें, चाहे झूठे वादों पर बरसों टालमटोल करने के नियम पर ऋण ही क्यों न काढ़ना पड़े, पर साम, दाम निर्लज्जता खुशामद इत्यादि सब कुछ करके किसी न किसी तरह इतना रुपया अवश्य ही एकत्रित कर लेना चाहिए जिससे उक्त कालेज की धन संबंधी अड़चनें मिट जाने की पूर्ण आशा हो जाय। क्योंकि यह एक ऐसा सच्चा सदनुष्ठान है कि यदि परमेश्वर सचमुच धर्म से प्रसन्न होता है और देश का हित करना सचमुच धर्म है तो इस अनुष्ठान के लिए जैसी चाल चलनी पड़े सब धर्म ही है और ईश्वर को प्रिय ही है।

यद्यपि उचित तो यह है कि प्रत्येक बड़े नगर में एक 2 संस्कृत और हिंदी की महापाठशाला स्थापित करने के लिए पूर्ण उद्योग किया जाय और इस काम के लिए भारतमाता आज इस मंडल का मुँह देख रही है पर यतः दिल्ली में इसकी चर्चा छिड़ गई और कुछ आशा की भी नींव पड़ गई है, इससे सबसे पहिले सौ काम छोड़ के वहाँ इसका ढचर पड़ ही जाना चाहिए। फिर धीरे 2 सब हो रहेगा। खरबूजे को देख के खरबूजा रंग पकड़ता है। हम नहीं समझते कि मंडल के उत्साही धर्मवीर यह समझ लें कि बस दिहली में कृतकार्यता प्राप्त हो गई, अब हमें कोई इति कर्त्तव्य बाकी ही नहीं रहा अथवा देश हजार निर्धन, निरुत्साह है तो भी यह संभव नहीं कि जिस बात के लिए हाव 2 की जाय उसमें कुछ भी साफल्य न लब्ध हो। पर जो काम सामने है पहिले वुह पूरा होना चाहिए।

आज हमारी पठन पाठन व्यवस्था ऐसी सत्यानाश हो रही है कि स्त्रियाँ जो निरक्षरा होती हैं वे तो अपने कुल की सनातन रीति नीति का कुछ अभिमान भी रखती हैं, धर्म के उन अंगों पर जिनका उन्हें काम पड़ता है कुछ श्रद्धा भी करती हैं, अनेकांश में अपने धन और मान की हानि लाभ का विचार भी रखती हैं, रसोई, पानी, सीने पिरोने आदि में अधिकतः कुशल ही नहीं बरंच कशीदा इत्यादि के द्वारा अपने हाथ से अपना निर्वाह करने भर बंद भी नहीं हैं पर हमारे बाबू साहब सिवाय नौकरी करके (सो भी बड़ी 2 सिफारिश, खुशामद स्वातंत्र्य त्याग करने पर दस पंद्रह हद बीस) पेट भर लेने के और किसी काम ही के नहीं हैं। क्योंकि उन्हें स्कूल में आत्मगौरव, कुलाचार, कुलधर्म, सुनीति, सुख निर्वाह, उद्योग, उत्साह आदि की शिक्षा ही नहीं दी गई। तमाम हिस्टरी रटे बैठे हैं पर इतना नहीं जानते कि

हिंदुओं में भी कोई सच्चा धार्मिक बीर उत्साही अपने भरोसे सब कुछ करने का इरादा रखने वाला केवल थोड़े से साथियों के बल पर बड़े बूढ़ों के दाँत खट्टे कर देने में साहसी हुवा है अथवा नहीं ?

मिशन स्कूलों में तो खैर देवता, पितर, तीर्थ, व्रत, गऊ, ब्राह्मण, तुलसी, ठाकुर, गंगा, भवानी आदि की ओर से अश्रद्धा उपजाने की चेष्टा की ही जाती है पर अन्य स्कूलों तथा कालेजों में भी हम नहीं देखते कि जातित्व संरक्षण की शिक्षा मिलती हो। हाँ, आप अपनी चतुरता से दूसरों की देखादेखी अपने देश अपनी जाति गृह कुटुंबादि का महत्त्व भले ही सीख लें पर वहाँ यही सिखलाया जाता है कि आर्य लोग हिंदुस्तान के कदीम बाशिन्दे न थे, कहीं बाहर से आकर यहाँ बसे थे। धन्य है ! जातित्व नष्ट कर देने की क्या अच्छा युक्ति है, पर निर्मूल। नहीं तो भला आर्यों की सी समुन्नत जाति और पूर्ण उत्थान के समय किसी ग्रंथ में अपने पूर्व निवासस्थान का नाम भी न लिखती ?

मुख्य मातृभूमि की ममता न करके 'दुर्लभं भारते जन्म' इत्यादि के राग गाती ? पर समझे कौन, समझ तो विदेशी शब्द ही रटते 2 थक जाती है। ऊपर से प्रयाग यूनीवर्सिटी ने हिंदी (और अपना कलंक मिटाने मात्र को उर्दू भी, पर झूठमूठ, नहीं तो फारसी के विद्वान उर्दू में अधिकतः दक्ष होते हैं किंतु संस्कृत के पंडित हिंदी में विरले ही चतुर होंगे इसी से अनेक सहृदयों का सिद्धांत है कि हिंदी के साथ फारसी की तुलना हो सकती है न कि उर्दू ऐसी कच्ची भाषा की) का अपमान करके यह और भी कोढ़ में खाज बढ़ा दी है कि जिन कोमल प्रकृति बालकों की बुद्धि एक ही विदेशी भाषा के मारे प्रस्फुरित न होने पाती थी वे अब दो 2 दूरदेशी भाषा पढ़ें और स्वास्थ्य को तिलांजलि दे के, बुद्धि संचालन का समय ही न पा के, लड़कपन यों व्यर्थ बितावैं। फिर यौवन और बार्धक्य तो परमेश्वर ही ने व्यर्थ किया है।

हम सैकड़ों बी०ए० एम०ए० दिखला सकते हैं जिनमें अँगरेजी बोल लेने के अतिरिक्त सदाचार, सुशीलत्व, देशभक्ति आदि विद्या के फल की गंध भी नहीं है क्योंकि उन्हें कभी शिक्षा ही नहीं दी गई। यदि स्कूल की अनेठा से घबरा के लड़के को मौलबी साहब के यहाँ भेजिए तो हिसाब का नाम न जानेगा, भूगोल, खगोल, रेखागणित, बीजगणित का स्वप्न न देखेगा, अपने पूर्वजों को यह भी न समझेगा कि किस खेत में पैदा होते थे।

हाँ बड़े बूढ़ों के सामने नम्रता और बराबर वालों से शिष्टता में अभ्यस्त हो जायगा। अँगरेजी में इसका भी अकाल नहीं तो महँगी अवश्य है। पर सीखने को जन्म भर में आशिक, माशूक, गुल बुलबुल, जुल्फ, अब्र और बस ! इसका फल केवल इतना कि खाते पीते घर का हो तो तरहदारी की नहीं तो अमीरों की खुशामद में जीवन बिता दे। मनुष्य का जन्म का कर्तव्य जानना घर से सौ कोस दूर है। रहे हमारे पंडितराज, उनके यहाँ आठ दस वर्ष केवल 'कौमुदी' रटने में लगते हैं। दूसरे शास्त्र पढ़ने हों तो ब्रह्माजी की आयुर्दाय चाहिए, क्योंकि व्याकरण केवल दूसरे शास्त्रों को समझने के लिए पढ़ी जाती है, सो यहाँ दतून करते दुपहर पर चार बजते हैं, नहाना कैसा ? इसके साथ हिंदी में अभ्यास करना तो दूर रहा 'भाषायाः किम्प्रमाणं' ? संस्कृत भी ऐसी ही रहती है कि एक श्लोक रख दीजिए, पहर भर तक पदच्छेद सुन लीजिए भावार्थ पूछिए तो 'एक वृक्षे समारूढ़ा नानावर्णा विहंगमाः'—एक जो है वृक्ष तेहि बिखे नाना वर्ण के जो बिहंगम कहैं चिरई है ते सम्यक् प्रकार करि कै आरूढ़ है, बस समझौ चाहे चूल्हे में जाव। और जो कहीं संस्कृत में एक चिट्ठी लिखनी पड़े तो सत्रह दिन चाहिए। बस, राम राम सीता राम। पर इसके साथ रूक्षता, अभिमान और अवसिकता थर्मामीटर का पारा सदा

एक सौ बारह नंबर पर रहता है ।

सभा में बैठे तो शांति रक्षा के लिए पुलिस बुलाना पड़े । देश की क्या दशा है, जाति का कैसा रंग है, उसके सुधार के लिए क्या कर्तव्य है इन बातों का कदाचित स्वप्न में भी ज्ञान नहीं । ऐसी दशा में हम नहीं कह सकते कि द्वेषी लोग संस्कृत भाषा और हिंदी को निरी निरर्थक क्यों न कहें ? जिस संस्कृत में आज भी वह 2 बातें विद्यमान हैं जो दूसरी भाषाओं को सैकड़ों वर्ष मिलनी कठिन है, जिस हिंदी के बिना हिंदू जाति का गौरव हो नहीं सकता उसकी यह दशा और देश भाइयों की उसके विषय में यह उपेक्षा, तथा गवर्नमेंट की ऐसी क्रूर दृष्टि देख के किस परिणामदर्शी को भविष्यत् के लिए दुर्दैव की एक अकथनीय कराल मूर्ति न देख पड़ती होगी ।

एक भयानक मूर्ति को खंडित कर देनें की आशा श्री दयानन्द स्वामी एंग्लो वैदिक स्कूल से भी की जा सकती है । पर उसके एक तो पंजाब में होने के कारण जितना सहारा संस्कृत को मिलता है उतना हिंदी को मिल नहीं सकता और हिंदी के बिना इस काल में संस्कृत को ऐसा ही समझना चाहिए जैसे बिना शस्त्र का योद्धा । दूसरे अभाग्यवशतः वहाँ पुराणों का आदर नहीं है जो सहृदयता का मूल है । इससे वहाँ के विद्यार्थी साक्षर चाहे जैसे हो जायँ देश हितैषी और उद्योगी अवश्य होंगे, पर रहेंगे शुष्कवादी और सर्वसाधारण का स्नेह लाभ करने में अक्षम ।

ऐसे अवसर पर भा०ध०म०मं० का उपर्युक्त बिचार ऐसा हुवा है जैसे सूखती हुई खेती के पक्ष में मेघमाला का दर्शन । परमेश्वर करे यह कालेज स्थापित हो जाय तो आशा है कि वेद शास्त्र पुराण काव्य नीति इतिहास सभी को आश्रय मिलेगा और साथ ही नागरी देवी भी बड़ा भारी सहारा पावैगी । तथा किसी संप्रदाय को इससे चौंकने की भी संभावना नहीं है । हम यह भी नहीं सोचते कि इसके अधिकारी लोग बालकों के स्वास्थ्य और सदआचरण पर भी उतना ही ध्यान न देंगे जितना शिक्षा के लिए दातव्य है । इस रीति से कोई संदेह नहीं है कि दस ही पाँच वर्ष में व्यवहार कुशल, धर्माभिमानी, देशभक्त, जातिहितैषी, उद्योगपति और कार्यदक्ष नवयुवकों का एक समूह उत्थित हो के हमारे संतोष का कारण होगा । इसी से कहते हैं कि इस सदनुष्ठान में विलम्ब करना ठीक नहीं । जैसे बने तैसे कर ही उठाना चाहिए ।

खं० 7, सं० 5 (15 दिसंबर, ह० सं० 6)

देव मंदिरों के प्रति हमारा कर्तव्य

संसार सागर का सर्वोत्तम रत्न, मनुष्य मंडली का सर्वोत्तम गुण, ईश्वर का सर्वोत्तम महाप्रसाद ममता है । यह न होती तो सृष्टि ही रचने का क्या प्रयोजन था और यह न हुई तो हमारे इष्ट, मित्र, बंधु बांधवादि का होना न होना बराबर है । वही महात्मा कबीर की कहावत आ जायगी कि 'न हम काहू के

कोऊ न हमारा'। यही नहीं, ममता न हो तो ईश्वर ही क्या है ? केवल एक शब्द मात्र। धर्म ही क्या है ? बे शिर पैर की व्यर्थ बातें। नहीं बतलाइए तो जिन्हें आप अपने लोक परलोक का सहायक कहते हैं उन्होंने कब आपके शिर से तिनका भी उतारा है ? जिसे आप बड़ी 2 पोथियों और पोथाधारियों के द्वारा सिद्ध किया करते हैं उससे आपका निज का कौन कार्य सिद्ध होता है ? ऐसे 2 प्रश्नों का यथार्थ अखंडनीय उत्तर इतना ही हो सकेगा कि हमें अपने ईश्वर, अपने धर्म, अपने शरीरादि के साथ ममत्व है। इसी से दृढ़ विश्वास हो रहा है कि वही हमारे सर्वस्व हैं।

उन्हीं से हमारा त्रिकाल और त्रिलोक में हित है। हाँ, यह सत्य है और इसके साथ यह भी झूठ नहीं है कि आपका हृदयस्थ ममत्व केवल आप ही के लिए हितकारक नहीं है बरंच उन व्यक्तियों और वस्तुओं के लिये भी बड़े ही उपकार का साधन है जिन पर आप अपना ममत्व स्थापन कर रहे हैं। जगत् के लोग न मानें तो ईश्वर् अपनी महिमा लिए अदृश्य धाम में बैठे रहें, धर्म अपनी पोथियों में पड़ा रहे, उसकी हृदयहारिणी जयध्वनि का नाम भी न सुनाई दे। इससे सिद्ध हो गया कि सबके लिए, सर्व रीति से ममता ही सब कुछ है। इस सिद्धांत को सामने रख के बिचारिए तो जान जाइएगा कि हमारे देव मंदिर, देव प्रतिमा, मसजिद, गिरजा सब यों तो ईंट, पत्थर, मट्टी, चूना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं पर हम उन्हें अपना समझते हैं।

इसीलिए उनके निर्माण में अपनी पूँजी का बड़ा भाग लगा देते हैं और उनकी महिमा बढ़ाने के लिए ईश्वर को सर्वव्यापक मान के भी उसकी स्तुति प्रार्थनादि करने के लिए उन्हीं में जाते हैं। इस रीति से हमारा यह हित होता है कि यदि हमारी मनोवृत्ति नितांत राक्षसी न हो गई हो तो उनके भीतर हम उन कामों के करने से अवश्य हिचकेंगे जिन्हें हमारी तथा अनेक सहृदयों की अंतरात्मा ने अनुचित समझ रक्खा है। वहाँ जाके थोड़ा बहुत ईश्वर का स्मरण भी होगा, धर्म और धर्मात्मा पुरुषों का ध्यान भी आवैगा। इसके अतिरिक्त हमारे सहधर्मी मात्र को देश, जाति, धर्म, व्यवहार आदि के सुधार का विचार तथा अदूषित आमोद प्रमोद लाभ करने के लिए बड़ा भारी सुभीता रहेगा।

इस प्रकार के सब कामों के लिए सदा सर्वदा स्थान ढूँढ़ने का झगड़ा नहीं, स्वच्छता संपादन की चिंता नहीं। जब जिस व्यक्ति अथवा समुदाय को काम लगा, जा बैठे। इसीलिए हमारे दूरदर्शी पूर्वजों ने इस प्रकार के मंदिर बनाने की प्रथा चलाई थी जिसमें देश और जाति के भगवद्भक्त, जगहितैषी, गुणी और दरिद्रियों को सहायता मिलै। जो लोग ऐसे मंदिरों को किसी एक जन अथवा कुटुंब का स्वाम्य समझते हैं वे न्याय के गले पर छुरी फेरते हैं और प्राचीन मान्य पुरुषों के सद्विचार की विडंबना करते हैं। शास्त्रों में नवीन देवालय बनवाने की अपेक्षा प्राचीन मंदिर के जीर्णोद्धार का अधिक फल यही भाव दर्शित करने के हेतु लिखा गया है कि वह किसी एक का नहीं किंतु सर्वसाधारण का है। यों तो ईश्वर समस्त संसार का स्वामी है इस न्याय से ईश्वर संबंधी यावत् वस्तु पर सारे संसार का अधिकार है और वह संसारी मात्र के ममत्व का आधार है। पर यतः जगत में जहाँ शांति है वहाँ विघ्न भी है।

जहाँ सुख है वहाँ दुःख भी है। इससे ऐसी आशा करना व्यर्थ है कि सदा सब कहीं सत्य ही अवलम्बन किया जायगा और सभी लोग सचमुच सबको जगतपिता के नाते अपना सहोदर तथा सबके स्वत्व को अपना सा समझेंगे। तथापि यह तो अवश्य ही होना चाहिए कि प्रत्येक समुदाय के यावत् व्यक्ति, वस्तु एवं स्थान मात्र को उस समूह के सबके सब लोग अपना समझें। यदि ऐसा न हो तो किसी जाति का निर्वाह न हो और सारी सृष्टि बहुत शीघ्र नष्ट हो जाय। इसी विचार से जिन देशों और

समुदायों में ईश्वर की दया है उनके सब लोग अपने यहाँ के सब प्राणी अप्राणियों को अपना समझते हैं। पर अभाग्यवशतः हिंदुओं के कपाल में मस्तिष्क और वक्षस्थल में हृदय जब से नहीं रहा तब से अन्यान्य सद्गुणों के साथ ममता का भी अभाव हो गया है।

इन्हें न अपने देश की ममता, न अपनी जाति का ममत्व, न अपने आत्मीयों का मया, न अपने देश गौरव का मोह। बस इसी से यह 'निबरे के ज्वैया सबके सरहज' का जीवित उदाहरण बन गए हैं। जो जिसके जी में आता वही इनके साथ मनमाना बर्ताव कर उठाता है और यह मुँह बाए रह जाते हैं अथवा फुसला दिए जाते हैं। नहीं तो जिस राजराजेश्वरी विजयिनी के राज्य की परम शोभा और सच्चे अहंकार का स्थल यही है कि प्रजामात्र निर्विघ्न रूप से अपने धर्म का सेवन कर सकें, कोई किसी के ईश्वर संबंधी कार्य में हस्तक्षेप न कर सके उसी भारतेश्वरी की छाया का आश्रय लिए हुए हिंदुओं की देवमूर्तियाँ और देवमंदिर तोड़ते समय स्वयं राज कर्मचारियों को संकोच न आवे यह क्या बात है ?

यही कि जिस जाति को अपनी आप ममता नहीं उस पर दूसरों को क्या ममत्व। वस्तुतः देवमंदिर वा देवप्रतिमा पाषाण, धातु, दार्वादि का विकार है और जिन वेद मंत्रों से उनमें प्राण प्रतिष्ठा होती है वे भी केवल शब्द हैं जिनके अर्थों में सदा से झगड़ा चला आया है और चला जायगा। उनकी महिमा केवल हमारे स्नेह की महिमा है और उनकी सामर्थ्य केवल हमारे हृदयों में अपने देवताओं और उनकी मूर्ति, मंदिरादि की भक्ति है। भक्ति नहीं रही तभी से उनमें भी हमारे धार्मिक स्वत्व तथा अपने अस्तित्व के संरक्षण की शक्ति नहीं रही। जिन दिनों अलाउद्दीन और औरंगजेब आदि मनमौजी महीशों ने अयोध्या मुथरादि में इस प्रकार का दुराचार किया था उन दिनों भी हमें कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिला कि हिंदुओं ने प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार के बज्र प्रहार को सहन कर लिया हो। पर करते क्या ?

इधर तो देश में पारस्परिक ममत्व नहीं, राम, कृष्णादि की भी कथन मात्र के लिए, पर देश भाइयों के द्वेष, उनके प्रति उपेक्षा, स्वार्थपरता आदि में ऐसी कुचली हुई कि उकसना असम्भौ। और उधर राजा स्वयं सताने में कटिबद्ध। रोवैं तो किसके आगे ? इन दिनों परमेश्वर की इतनी तो दया है कि राजा को प्रजापीड़न में आनंद नहीं आता, कोई 2 राजकर्मचारी ही कभी 2 अपने अधिकार को कलंकित तथा श्रीमती की प्रतिज्ञा की अवज्ञा कर उठाते हैं, सो भी बहुत से बहाने गढ़ के। किंतु हम वहीं बने हैं अस्मात् ऐसे सुराज्य में भी वैसा ही दुःख भोगते हैं।

जिन जातियों में धर्म की समता है, आपस की एकता है, चित्त की दृढ़ता है, उनके पवित्र स्थानों का भी कोई ऐसा अपमान कर सकता है जैसा हमारों का ? गत वर्ष दरभंगा में सहाजोर जी का मंदिर तोड़ के हमारे हृदय पर घाव किया गया और बहुत रोने चिल्लाने हाय 2 मचाने पर आँसू पोंछ दिए गए। सो भी प्रजावात्सल्य के अंचल में नहीं किंतु पालिसी के कम्बल से। इस घटना को बरस दिन नहीं बीता कि अब काशी जी में राममंदिर पर दाँत लगाया गया है और भगवान जानकीवल्लभ हमारे विचार को झूठा करें, लक्षण अच्छे नहीं देख पड़ते। क्योंकि इधर तो वाराणसी के अतिरिक्त किसी नगर में इस आने वाली घोर विपत्ति की चर्चा भी ऐसे सुन पड़ती है कि नहीं के बराबर मानौ अन्य स्थानीय हिंदुओं को उस मंदिर से कुछ संबंध ही नहीं है और उधर लेफ्टिनेंट गवर्नर और चीफ कमिश्नर साहब की आज्ञानुसार यह विषय म्युनिसिपल बोर्ड के माथे छोड़ दिये जाने पर उपर्युक्त दोनों माननीय अधिकारियों के द्वारा हमें यह आश्वासन मिलने पर घबराओ नहीं, मुकद्दमा तुम्हारे

ही सजातियों के हाथ है, फिर वहाँ के कलक्टर साहब म्युनिसिपैलटी के निर्णय को निर्णय ही नहीं समझते। जज साहब से प्रार्थना की 'दाम दिलवा दिया जाय और मंदिर तोड़ डाला जाय', मानो देवमंदिर भी साधारण घर है।

और सुनिए, जज साहब ने भी विज्ञापन दे दिया कि जिसे कुछ उज्र करना हो चौदह मार्च तक कर ले। इस अंधेर का ऐसे राज्य में इतना साहस देख के ऐसा कौन है जो आश्चर्य और शोक न करे, पर जो इसके कर्ता धर्ता हैं वे पर साल देख चुके हैं कि इस मृत जाति से होना ही क्या है। हाय हिंदुओं! अब तुम्हारे देव मंदिर टूटने के लिए बिकने लगे। यदि अबकी उपेक्षा करोगे तो कल को, परमेश्वर न करे, विश्वनाथ और जगन्नाथ बदरीनाथ के मंदिर भी कोई किसी सड़क अथवा आफिस के लिए मोल ले के साफ कर लिए जायँगे। इससे चाहिए कि धर्म रक्षा के लिए उन्मत्त हो जाओ और नगर 2 में बड़ी से बड़ी सभाएँ करके गवर्नमेंट को अपना दुःख प्रकाश करो।

काशी वालों की सहायता के लिए रुपया भेजो और यहाँ से बिलायत तक उद्योग करके यह मंदिर ही न बचाओ बरंच आगे के लिए ऐसी आज्ञा मँगा लो कि कभी कोई ऐसा न कर सके। जिन लोगों को मूर्ति पूजन में श्रद्धा नहीं है उन्हें भी जातीय गौरव के अनुरोध से साथ देना चाहिए। जैनियों को भी सम्मिलित होना चाहिए क्योंकि वे भी मूर्ति पूजक हैं और हिंदू हैं। बरंच मुसलमानों को भी समझना चाहिए कि मसजिदें भी उसी जाति के ईश्वरीय भवन हैं जो प्रज़ा कहलाती है। तभी काम चलेगा नहीं अब कुशल नहीं है।

इससे जो लोग धर्म को सर्वोपरि समझते हैं और रामचंद्र को राजेश्वर मानते हैं उन्हें तन, मन, धन, प्राण पन से सन्नद्ध हो जाना उचित है और तब तक चुप होना अनुचित है जब तक इसका अचल प्रबंध न हो जाय। इसमें किसी का भय संकोच कर अपना स्वार्थ अथवा मानापमान का विचार अकर्तव्य है क्योंकि तीर्थेश्वरी काशी और देवेश्वर रामचंद्र का काम है। यदि इसमें कुछ भी आगा पीछा किया गया तो आगे के लिए कुछ भी भलाई नहीं है। जब धर्म नहीं तो कुछ भी नहीं।

खं० 7, सं० 8 (15 मार्च, ह० सं० 7)

गंगा जी की स्थिति

आज कल हिंदू समुदाय में अनेक लोगों को दो बातों की धुन चढ़ी हुई है—कि गंगा जी की आयु केवल आठ वर्ष के लगभग शेष रह गई है और गंगा जी सदा बनी रहेंगी। इन दोनों मतों के लोगों ने अपने 2 सिद्धांत के पुष्ट रखने में यथासंभव कोई युक्ति अथवा प्रमाण उठा नहीं रक्खे। और काल के प्रभाव से हमारे धर्म ग्रंथों को पंडित नामधारियों ने बना भी ऐसा ही रक्खा है कि मोम की नाक चाहे जिधर फेर लो। चाहे जिस विषय के खंडन में कुछ वाक्य ढूँढ़ लीजिए चाहे जिसके मंडन में, सभी

मिल जायँगे। पर हमारी समझ में इस प्रकार के झगड़े उठा के आपस में वैमनस्य बढ़ाना निरा व्यर्थ है।

विचार के देखिए तो हैं दोनों बातें सत्य। देश काल और पात्र का विचार किए विना शास्त्र के किसी बचन पर हठ करना अच्छा नहीं। शास्त्रकारों की केवल एक ही प्रकार के लोगों पर दृष्टि न थी। वे जानते थे कि 'भिन्न रुचिर्हिलोकः'। अतः उनके बचनों में जहाँ भिन्नता पाई जाय वहाँ समझ लेना चाहिए कि वे त्रिकालदर्शी और सत्यवादी किसी विशेष कारण से विशेष रूप के जन समूह और विशेष समय के लिए जो कुछ लिख गए हैं वह है सत्य ही, पर समझने वाला चाहिए। इस रीति से हम देखते हैं कि इस समय लोग पश्चिमीय विद्या के प्रभाव और अपने धर्म, कर्म, रीति, नीति, वस्तु व्यक्ति इत्यादि की ममता के अभाव से केवल रंग ही के भारतीय रह गए हैं, सो भी मानों चरबी मिला साबुन मल 2 कर चाहते हैं कि किसी प्रकार ऊपर का चमड़ा छिल जाय और भीतरी लाल 2 रंगत निकल आवै तो अत्युत्तम है। ऐसों के सामने ईश्वर ही की महिमा बनी रहे तो बड़ी बात है क्योंकि उनके गुरु परम्परा के देश में नास्तिकता की छूत बढ़ती जाती है।

वेद शास्त्र गंगा भवानी की तो बात ही क्या है, इनका वास्तविक महत्त्व संस्कृत पढ़े बिना और प्राचीन काल के रससिद्ध कवीश्वरों की लेखनी का गूढ़ तत्व जाने बिना कदापि समझ में नहीं आने का। उसके नाते इन्हें नागरी का काला अक्षर भैंस बराबर है। बरंच भैंस दूध देती है किंतु इन अक्षरों की चर्चा से इनके प्राण सूख जाते हैं। इससे यह कहना चाहिए कि अक्षर काले बुखार के बराबर है। ऊपर से प्रयाग यूनिवर्सिटी ने हिंदी का गला काट वह पालिसी अवलंबन की है कि आठ वर्ष में संस्कृत का प्रचार तो दूर रहा, आश्चर्य नहीं कि हिंदू जाति को लड़की के नाम रखने के लिए शब्द भी न मिलें।

इस पर भी तुर्रा यह है कि जो लोग संस्कृत, नागरी के ममत्व का अभिमान एवं अपने ऊपर आर्यत्व का गुमान रखते हैं उनमें से बहुतेरों का सिद्धांत यह है कि "माला लक्कड़ ठाकुर पत्थर गंगा निरबंक पानी"। सो पानी भी कैसा कि न सोडावाटर के समान जाति कुजाति का उच्छिष्ट, न 'वरुणप्रिया' की भाँति स्वादिष्ट। फिर पीने और छूने में किसे भावै जब तक विलायत जा के और नाम रूप बदल के न आवै।

हाय गंगा जल, एक दिन तुम इसी भारत में अमृतमय कहलाते थे पर आज नहरों के रूप में भिन्न 2 होकर पराधीनता में बहे 2 फिरते हो और खेतों की उपज के हक में विष का सा काम करते हो। जिस धरती पर तुमने आश्रय ले रक्खा है उसमें लाखों असंस्कृत मृतक गाड़े जाते हैं, करोड़ों निरपराधी जीव मारे जाते हैं। जिस मेघमंडल की छाया में तुम्हारी स्थिति है उसे हवन का सुगंधित एवं गुणपूरित धुआँ दुर्लभ हो गया है। उसके स्थान पर पत्थर के कोयले और मट्टी के तेल का अरुचिकारक तथा दुर्गन्धप्रसारक धूम छाया रहता है। पान फूल, धूप कर्पूर से तुम्हें सुवासित रखने वाले दिन 2 दीन होते जाते हैं।

नगर भर का अघोर और कहीं 2 बबूल की छाल के साथ सड़े हुए चमड़े का मानों पानी तथा अनाथ मनुष्य एवं पशुओं के बिन जले और अधजले सहस्रों मृतः शरीर तुम्हीं में फेंके जाते हैं। फिर तुम अपना रूप गुण बदल डालो तो क्या दोष है ! भगवति गंगे ! क्या सर्वगुणहीन हिंदुओं के हाथ से बिडंबना सहन करते हुए अभी तृप्त नहीं हुई हो जो आठ वर्ष और इनकी तथा अपनी दुर्दशा देखने की इच्छा

रखती हो ? तुम्हारा रहना तभी शोभा देता था जब सूर्यवंशावतंस मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीमान भगवान रामचंद्र के वृद्ध प्रपितामह महाराज भगीरथ ने कई पीढ़ी की कठिन तपस्या के उपरांत तुम्हें प्राप्त किया था और उनके वंशजों ने भागीरथी नाम से तुम्हारा गुणगान करने में अपना गौरव मान रक्खा था और समस्त संसार को विश्वास करा दिया था कि परम प्रतापी रघुकुल राजेंद्रगण श्रीमती भागीरथी को निज बंशजा कन्या की भाँति आदर देने ही में अपना महत्त्व जानते हैं ।

तदुपरांत महाराज शांतनु ने तुम्हें अपनी प्राणप्रिया बना के और बीरशिरोमणि भीष्म पितामह ने तुम्हारे ही नाते गांगेय पद पा के सारे जगत को निश्चय करा दिया था कि विश्वविजयी चंद्रवंशी महिपाल जनहुनंदिनी को अपनी कुल श्री का संमान करते हैं । जिस समय सूर्यचंद्रवंश के प्राबल्य को दुष्काल रूप राहु ने ग्रास करना आरंभ किया तो महामान्य बिप्रवंश ने तुम्हारी महिमा रक्षित रखने का भार लिया और विद्या, प्रतिष्ठिादि गुण श्रेणी से भूषित होने पर भी किसी अन्य विषय का आश्रय न लेकर लोक परलोक का निर्वाह केवल तुम्हीं पर निर्भर करके गंगापुत्र के नाम से अपना परिचय दिया । पर आज तुम्हारे पिता, पति, पुत्र सभी के बंशधर सर्वलक्षणहीन, सर्वथा दीन, महा मलीन दशा में दलित हो रहे हैं । बरंच अपने एक 2 काम से सूर्य, चंद्र एवं मुनि वृंद का नाम डुबो रहे हैं । फिर तुम किस सुख की आशा से संसार को मुख दिखाने का मानस करती हो ? नहीं नहीं, गंगा जी अब नहीं हैं । हम इतनी बकबक न जाने किस उमंग में कर गए । भला होतीं तो भारत की यह दशा होती ? जिनका नाम लेने से मन के पाप और तन के ताप का विनाश हो जाता है उनके समक्ष में यह कहाँ संभव था कि हम दुर्बुद्धि एवं दुर्गति के आधार बन जाते । इससे निश्चय गंगा नहीं हैं, केवल गैंजेज (Ganges) नाम्नी नदी का जल मात्र अवशिष्ट है । सो भी आश्चर्य नहीं कि आठ सात वर्ष में जाता रहे । क्योंकि यहाँ के धन, बल, विद्या, कृषि, वाणिज्य, शिल्प सेवादि सभी निर्वाहोपयोगी उत्तम गुण और पदार्थ विदेश को लद गए । फिर यदि पानी और मट्टी में भी कोई अच्छाई पाई जायगी तो क्या संभावना है कि हमारे हाथ बनी रहने पावेगी ।

जहाँ नोन और घास तक टैक्स की छूत से नहीं बचे वहाँ जल के बच रहने की भी क्या आशा है ? बचे भी तो हमें क्या, हम तो सामयिक नीति के वश 'अशनं बसनं वासो येषां चैवाविधानतः' का प्रत्यक्ष उदाहरण बन रहे हैं और बनते ही जाते हैं । फिर हमारे लिए 'मगधेन समा काशी गंगाप्यंगारवाहिनी वाला वाक्य यों न चरितार्थ होगा ? यद्यपि चरितार्थ हो ही रहा है तौ भी वर्तमान लक्षण के देखे कौन सहृदय न मान लेगा कि यदि कलियुग का प्रभाव यों ही बना रहा तो आठ वर्ष बीतते 2 'कलौ दश सहस्राणि विष्णुः तिष्ठति मेदिनीं । तदर्द्धं जाह्नवीतोयं तदर्द्धं ग्राम देवता' वाली भविष्यत् वाणी को सफल करते हुए भगवती भागीरथी का सर्वथा लोप न हो जाएगा ।

अब रहा यह कथन कि गंगा जी सदा बनी रहेंगी । सो इस रीति से सत्य है कि यदि प्रेम ईश्वर का रूप है और ईश्वर अनादि अनंत एवं सर्वथा स्वतंत्र है तो संसार में चाहे कोटि विघ्न हों, कोटि संकट हों किंतु प्रेमियों का प्रादुर्भाव समय 2 पर होता ही रहेगा और उनकी हृदय भूमि में भगवान प्रेमदेव स्वेच्छानुसार बिहार करते ही रहेंगे । अथच बिहार कभी अकेले होता नहीं है, इस न्याय से उनके साथ सर्वशक्ति समूह का आविर्भाव होना स्वयंसिद्ध है । और जहाँ और सब शक्ति होंगी वहाँ त्रितापहारिणी, परमानंद प्रसारिणी आदि शक्ति श्री गंगा महारानी क्यों न होंगी ।

गंगा के बिना हमारे पाप संताप कौन दूर कर सकता है ? और इनके दूर हुए बिना हमारा मनोमंदिर प्रेम लीला के योग्य क्योंकर हो सकेगा ? फिर यह माने बिना कैसे निर्वाह हो सकता है कि

जिनके हृदय में आर्यत्व की उमंगें, धर्म प्रेम सौजन्य की तरंगें कभी स्वप्न में भी क्षण भर को भी लहरायँगी उन्हें गंगा छोड़ जायँगी, अथवा गंगा को वे कहीं जाने देंगे जिन्होंने देववाणी एवं वृजभाषा देवी की दया से जान लिया है कि भगवान बैकुण्ठ बिहारी का चरणामृत, देवाधिदेव महादेव का शिरोभूषण, जगत् पिता के कमंडलु की सिद्धि, भारतमाता के शृंङ्गार की मौक्तिकमाला गंगा ही हैं ?

हमारे परम बिरागी महर्षिगण यदि त्रैलोक्य में किसी पदार्थ के अनुरागी थे तो इसी ब्रह्मद्रव के। जिन्हें गंगा के दर्शन, मज्जन, पान, नाम स्मरणादि में अनंत सुख का अनुभव होता है, कहाँ तक कहिए, गंगाजलबिंदु में गोविंद प्राप्त हो जाते हैं, उन्हें छोड़ के गंगा कहाँ जा सकती हैं ? हमने माना कि ऐसे धन्यजन्मा इस काल में थोड़े हैं, बरंच सभी काल में थोड़े होते हैं। पर यदि गंगा वही हैं जिन्हें हमारे महारसास्वादन-रसिक कविवृंद अपनी हृदयहारिणी सहृदयहृदयबिहारिणी वाणी का बिहारस्थल बनाते हैं तो ऐसों ही के लिए है जो अपने प्रेम प्रभाव से जगदीश्वर तक को मनमाना नाच नचा सकते हैं। भला ऐसों का सान्निध्य छोड़ के गंगामाई किस सुख के लिए कहीं जा सकती हैं ? क्या ले के जायँगी ? महिमा ? वह तो वास्तव में प्रेम ही की महिमा का नामांतर है।

प्रेम न हो तो तीर्थ देवता इत्यादि क्या है परमेश्वर स्वयं कुछ नहीं है। और प्रेम की झलक दिखाई देने पर अकेली गंगा क्या है 'सर्वाणि तीर्थानि वसंति तत्र यत्राच्युतोदारकथाप्रसंगः। हाँ, अच्युत नामधारी विश्वविहारी का अभाव हो जाय एवं उनके गुण गाने वाले प्रेम मदिरा के मतवाले दैवी का तिरोभाव हो जाय तो गंगा का भी अदर्शन युक्तियुक्त हो सकता है। पर ऐसा आर्यावर्त में जन्म पाने वालों अथच आस्तिक कहलाने वालों की समझ में क्या कभी मन में भी नहीं आने का। फिर कोई कैसे यह कह सकता है कि गंगा का महत्त्व जाता रहेगा। रहा जल, सो भौतिक पदार्थ है, उसे यदि किसी में सामर्थ्य हो तो आठ वर्ष में काहे को आज ही जहाँ चाहे उठा ले जाय।

भक्त जन 'सब जल गंगा जल भए जब मन आये राम' के अनुसार जो जल पावेंगे उसी को गंगा मान लेंगे। कुछ भी बाह्य पदार्थ न होने पर भी उनकी मनोभूमि में प्रेम लहरी उच्छलित होने पर नेत्र द्वारा आनंदाश्रुममी प्रेय गंगा का प्रवाह कौन रोक सकता है ? फिर हमारे इस कहने में क्या झूठ है कि जब तक ईश्वर, धर्म, प्रेम, प्रेमिक, भारतभूमि आदि नाम बने हैं तब तक गंगा भी अवश्य ही बनी रहेंगी और इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों सिद्धांत सत्य हैं, केवल विवाद मिथ्या है।

खं० 7, सं० 10 (15 मई, ह० सं० 7)

हरि जैसे को तैसा है

इसमें कोई संदेह नहीं है कि ईश्वर अनंत है और उसकी सभी बातें अनंत हैं। इस रीति से यह सामर्थ्य कभी कहीं किसी को न हुई है न है न हो सकती है कि उसका ज्ञान पूर्ण रूप से प्राप्त कर ले। पर सच्चे

विश्वास के साथ उसे जो कोई जिस रीति से मानता है वह अपनी रुचि ही के अनुसार उसके रूप गुण स्वाभावादि पाता है क्योंकि सर्व शक्तिमान का अर्थ ही यह है कि किसी प्रकार किसी बात में मंद न हों। यह तत्व न जानने के कारण बहुधा कुतर्की लोग पूछ बैठते हैं कि ईश्वर सब कुछ कर सकता है तो अपने को मार भी डालने सकता है, अथवा चोरी जारी इत्यादि भी कर करा सकता है कि नहीं।

ऐसे प्रष्णों का उत्तर देने में वे लोग अक्षम हो रहते हैं जो यह माने बैठे हैं कि ईश्वर के विषय में जितना कुछ किसी ग्रंथ विशेष में लिखा है उतने ही से इतिश्री है अथवा जिन बातों को बुद्धिमानों ने सांसारिक व्यवहार के निर्वाहार्थ जैसा ठहरा रक्खा है वे ईश्वर के पक्ष में भी वैसी ही हैं। पर जो जानते हैं कि परमेश्वर किसी बंधन में बद्ध नहीं है, केवल प्रेम बंधन ही उस पर प्रभाव डाल सकता है, पर उसके द्वारा वास्तविक स्वतंत्रता में अंतर नहीं पड़ता, वे छुटते ही उत्तर देंगे कि हाँ साहब, ईश्वर आप की तरह स्वल्प सामर्थी नहीं है जो मार डालने वा मर जाने के उपरांत जिला देने अथवा जी उठने की सामर्थ्य न रखता हो। वह मृत्यु और जीवन दोनों का अधिष्ठाता है।

इस न्याय से स्वेच्छानुसार अपने पराए अथच सबके साथ दोनों को व्यवहृत कर सकता है। और सुनिए, चोरी, जारी, छल, कपट इत्यादि केवल आप ऐसों के पक्ष में बुरे हैं किंतु परमात्मा किसे कैसा समझता है यह आपकी समझ में न कभी आया है न आवैगा। फिर इन बातों से क्या। यदि वह चोरी करेगा तो आप तो आप ही हैं आप के बाप भी उसे दंड नहीं दे सकते। आपके देखते 2 आपके कितने ही संबंधियों के प्राण उड़ा ले गया तब आपने क्या बना लिया था ? फिर ऐसे कुतर्कों के द्वारा आप का यह विचारना व्यर्थ है कि हम किसी सच्चे विश्वासी को डिगा देंगे अथवा बातें बना के जीत लेंगे। पर यह विषय तो तर्क वितर्क का है ही नहीं। इसमें तो केवल अनुभव का काम है।

चित्त को शुद्ध करके, मन एकाग्र करके, कुछ दिन अनुभव कर देखिए तो विदित हो जायगा कि जो कुछ भगवान श्रीकृष्णचंद्र ने आज्ञा दी है कि "यो यथा मां प्रपद्येत तं तथैव भजाम्यहं"। और महाप्रभु श्री बल्लभाचार्य ने जगत के उद्धारार्थ शिक्षा दी है कि "सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः"। वहीं भजनपरायण महात्मा कबीर ने अपने और अन्यान्य भक्तों के अनुभव द्वारा निश्चय कर लिया है कि 'हरि जैसे को तैसा है'।

सच्चे विरागियों के लिये, जिन्हें संसार तो क्या अपने ही शरीर का मोह नहीं है, ईश्वर निराकार, निरवयव, निर्गुण, अकर्ता, अभोक्ता इत्यादि है और केवल ज्ञानियों के लिये, जो विचार करने के अतिरिक्त हाथ पाँव हिलाने का अवसर ही नहीं पाते, परमेश्वर भी 'पग बिन चलै सुनै बिन काना' कर बिन करम करै विधि नाना' इत्यादि विशेषण विशिष्ट है। परंतु जिन्हें घर बार छोड़ के बन में जा बैठना और हस्त पदादि होते हुए निकम्मे बन बैठने की रुचि नहीं है उनके लिए वह उनकी मनोगति के अनुसार अनेक रूप संपन्न भी है।

योगियों के लिए परम् योगीश्वर, महान शोभामयी प्राणप्रिया को अर्द्धांग में धारण किये रहने पर भी अष्टप्रहर समाधि में तत्पर रहता है। वीरों के लिये महाधीर, धुरंधर; बीरबर, खड्ग, चक्र, त्रिशूलादि नाना शस्त्रास्त्र सज्जित रहने पर भी केवल हुंकार के द्वारा शत्रु निकर के निमित्त प्राण शोषक, भयंकर है। रसिकों के लिये रसिक शिरोमणि, कोटि काम सुंदर, महामनोहर है। कहाँ तक कहिए यह कहने सुनने की बातें ही नहीं हैं तौ भी कहने वाले कही गए हैं 'जिनके रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी', पर देखने के लिए आँखें चाहिए, सो भी अंतःकरण में और प्रेमांजन से अंजित। यों जीभ

की लपालप से मन की आँखों का काम नहीं निकलने का जबकि ऊपरी ही आँखों का काम निकलना असंभव है । इसी प्रकार वह सबसे पृथक रहने पर भी सबसे मिला रहता है ।

निवृत्त लोगों के लिये वह किसी का कोई नहीं है । मानों कबीर साहब के द्वारा उसी ने कहा है कि, 'ना हम काहू के कोई न हमारा' । पर प्रवृत्ति मार्ग में सारा संसार उसी का है और वह भी सबका सब कुछ है । कभी 2 ईसाई धर्मप्रचारक जब महात्मा मसीह को ईश्वर का पुत्र कहते हैं तो उनके धर्म विरोधी पूछ बैठते हैं कि ईश्वर के पुत्र हैं तो स्त्री और माता पितादि अन्यान्य कुटुंबी भी होने चाहिए, इस पर सार्वभौमिक धर्मावलंबियों को उत्तर देने का बहुत अच्छा अवसर मिल सकता है कि हाँ, बातों की हार जीत का व्यसन छोड़ के आप सच्चे जी से उसके बन जाइए तो देखिएगा कि साधारण रीति से समस्त संसार ही उसकी संतति है । क्योंकि उत्पत्तिकारक सबका वही है ।

रहा विशेष संबंध, सो० मसीह जानते थे कि मैं उसका पुत्र हूँ, कभी 2 स्नेह की उमंग में कह भी देते थे । पर यह कभी नहीं हुवा कि वह शास्त्रार्थ में अपने को खुदा का बेटा सिद्ध करते फिरे हों । क्योंकि शास्त्रार्थ से और आंतरिक सिद्धांत से बड़ा अंतर होता है । यदि आप को प्रेयशक्ति हो तो नंद बाबा और दशरथ महाराज इत्यादि की नाईं उसके पिता बन जाइए और देख लीजिए कि वह आप के मनोमंदिर में शिशु लीला संपादन करता है अथवा नहीं । अवश्य करेगा, क्योंकि वह अपने भक्तों का कोई मनोरथ सफल करने में कभी त्रुटि नहीं करता ।

पर होना चाहिए भक्त । केवल वक्ताओं के लिये वह शब्द मात्र से अधिक कुछ नहीं है । सो भी अनेक महावलंबियों के सिद्धांतानुसार पवित्र और न्यायपूर्ण शब्द जो अपवित्र मुख और अन्यायपूर्ण हृदय से निकलने पर उच्चारणकर्त्ता को उसके कुव्यवहार का फल अवश्य चखता है । अधिक नहीं तो ऐसे वंचकों का (जो अपने आंतरिक स्वार्थ एवं कपट को छिपा के संसार के संमुख अपनी धर्म्मनिष्ठता और ब्रह्मविज्ञता दिखलाते रहते हैं) चित्त ही ऐसा सदसद्विवेक वंचित बना देता है कि उन्हें कुछ दिन पीछे यह बोध भी नहीं रह जाता कि हम जो चाल चल रहे हैं वह वस्तुतः अच्छी है अथवा बुरी । इससे स्वयंसिद्ध है कि 'हरि जैसे को तैसा है' ।

अस्मात हमें उचित है कि उसे जिस रीति से जैसा कुछ मानते हैं माने जायँ । न किसी के बहकाने से बहकें न किसी को बहकाने का मानस करें । क्योंकि ऐसा करते ही हमारे ईश्वर के मानने में विक्षेप पड़ जायगा । और इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मानना सच्चे जी से, सरल भाव के साथ संबंध रखता है ।

यदि अंतःकरण उसके अस्तित्व की साक्षी न देता हो तो लोगों के दिखलाने को ईश्वर 2 करने का कोई काम नहीं है । झूठे बनावटी आस्तिक से नास्तिक कोटिगुणा उत्तम होता है क्योंकि वह किसी को धोखा नहीं देता । और कच्चा आस्तिक अपनी आत्मा के साथ आप ही अन्याय तथा प्रवंचना करता रहता है । इससे यदि मानिए तो सच्चाई के साथ दृढ़तापूर्वक मानिए । फिर इस बात का झगड़ा न रह जायगा कि कैसा मानें, क्यों कर मानें । जैसा मानिएगा वैसा फल आप पा जाइएगा क्योंकि 'हरि जैसे को तैसा है' ।

हमारी समझ में अभी भारत संतान के मध्य नास्तिकता बहुत नहीं फैली । अस्मात हम अपने पाठकों से पूछा चाहते हैं कि आप ईश्वर को अपना क्या मानते हैं ? यों कहने को तो माता, पिता, गुरू, स्वामी, अन्नदाता, सुखदाता, मुक्तिदाता, इत्यादि अगणित शब्द हैं, पर मानना वही है जो दृढ़ निश्चय के साथ

माना जाय । यों सहस्रनाम का पाठ करने से केवल समय का नष्ट करना है अथवा लोक परंपरा की गुलामी करना है । इसे छोड़िए, यदि मानना हो तो कैसा ही मानिए, कुछ ही मानिए, किसी प्रकार से मानिए पर सच्चाई के साथ । फिर देख लीजिए कि वह वास्तव में आप ही के मंतव्य की अनुकूलता का निर्वाह करता है कि नहीं । यदि कोई हम से इस विषय में सम्मति लिया चाहे तो साधारणतया तो हम यही कहेंगे कि अपनी दशा के अनुसार अपने जी से आप ही पूछ देखिए । जैसा वह बतलावे जैसा मानने लगिए और वही मानना ठीक होगा ।

रही हमारी विशेष अनुमति, वह यह है कि अपने गृह, कुटुंब, जाति देश की गिरी हुई दशा सुधारने पर कटिबद्ध हूजिए । यहाँ के धन, बल, विद्या, मान, मर्यादा को नष्ट होने से बचाने के लिए तन, मन, धन, वचन, कर्म से अहर्निश जुटे रहिए । क्योंकि ईश्वर जगत् में व्याप्त है, इससे जगत के साथ उत्तमाचरण करना ही ईश्वर के साथ सद्व्यवहार करना है । जिसने संसार को सुखित करने का उद्योग किया वह ईश्वर की प्रसन्नता संपादन कर चुका । जब कि संसारिक पिता और राजा अपने संतान तथा प्रजा के हितकारकों को अपना हितू समझते हैं तो जगत्पिता जगदीश्वर अपनी सृष्टि के शुभचिंतकों को अपना प्रीतिपात्र क्यों न समझेंगे । पर सारा संसार बहुत बड़ा है और इतने बड़े विश्व के साथ स्नेह संबंध रखना हमारे लिए अति कठिन है, इससे केवल अपने देश जाति की भलाई को जगत की भलाई समझ के उसका उद्योग कर चलिए और उसमें ईश्वर को अपना सच्चा सामर्थ्यवान सुदृढ़ सहायक समझिए ।

फिर देखिए उसकी सहायता से आप कितने शीघ्र कैसी उत्तमता से कृतकार्य होते हैं और बिघ्नकारणी बातें कैसे बात की बात में बतासा-सी बिलाती हैं । बरंच अपने भाव के विरुद्ध आपकी अनुकूलता संपादन करें तो बात है क्योंकि जिसे आप अपना सहायकारी मानेंगे वह 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थं' है । पर जब मानिए और स्नेहशास्त्र का यह वाक्य भी जानिए कि 'जहाँ तक हमारे किये होगा वहाँ तक अपने सहायक पर भार न डालेंगे' । बस यही सब प्रकार की समुन्नति का सोपान है जिसका अवलंबन करने से अभीष्ट का प्राप्त करना सहज हो जायगा । नहीं तो कोरी बातें बनाया कीजिए, कभी कोई बात न बनेगी ! अंतर्यामी परमेश्वर के साहाय्य की आशा निरी ऊपरी बातों से कदापि नहीं पूर्ण होने की, क्योंकि 'हरि जैसे को तैसा' है ।

खं० 7, सं० 11 (15 जून, ह० सं० 7)

दशावतार

जो केवल मुख से ईश्वर 2, ब्रह्म 2, वेद 2, धर्म 2 इत्यादि कहा करते हैं पर मानसिक नेत्रों से भी उसके दर्शन करने की चेष्टा नहीं करते, जिनके हृदय भूमि केवल संसारिक चिंता अथवा मतवाद के तर्क वितर्क

की विहारस्थली बनी रही है, भगवत्प्रेम लीला के योग्य न कभी थी न होने की संभावना है, जिन्हें आर्य कवीश्वरों की रसमयी वाणी का गूढ़ार्थ विदित होना दुर्घट है, वही लोग अवतारों के विषय में नाना संदेह उठाया करते हैं। पर जो जानते हैं कि परम स्वतंत्र अनन्त नाम रूप गुण स्वभाव विशिष्ट परमात्मा किसी बंधन में बद्ध नहीं हैं, केवल अपनी अप्रतर्क्य इच्छा से जब जैसा चाहता है कर उठाता है, उन्हें एतद्विषयक संदेह कभी नहीं उठने के।

जो प्रेमेश्वर अपने भक्तों की रुचि रखने मात्र के लिए उनके मनोमंदिर में उन्हीं की इच्छानुसार रूप धारण करके नाना प्रकार की लीला दिखलाया करता है उसका विशेष 2 समयों पर विशेष 2 कार्यों के लिए रूप विशेष धारण करना क्या आश्चर्य है ? मतवादी कहा करें कि वह दिक्कालाद्यनवच्छिन्न होने के कारण एक देश में एक काल पर क्यों कर आबिर्भाव कर सकता है ? पर बुद्धिमान जानते हैं कि सर्वशक्तिमान शब्द का अर्थ ही यही है कि जो बातें तार्किक ज्ञान के द्वारा असंभव हों उन्हें कर दिखावै। सर्वव्यापक भी बना रहना, निरवयव भी बना रहना और किसी स्थान पर किसी रूप में प्रकाशित भी हो जाना आपकी समझ में न आवे तो न सही पर आप यह कभी न सिद्ध कर सकेंगे कि ऐसा करना उसकी सामर्थ्य में नहीं है।

यदि आप कहें कि तुम उसे मछली, कछुआ इत्यादि बना के उसका उपहास करते हो, तो हम भी कहेंगे कि हमारे प्रेम सिद्धांत में उपहास करना दूषित नहीं है बरंच प्रेमिक और प्रेम पात्र दोनों के मनोविनोद का एक अंग है। पर आप उसके संमानकारक और मर्यादा रक्षक बनते हुए भी उसे सृष्टि स्थिति संहारक कह के पागल बनाते हैं। क्योंकि अपने हाथ से कोई वस्तु बनाना और आप ही उसे नष्ट भ्रष्ट कर देना बुद्धिमानी का काम नहीं है। पर यहाँ इन बातों से क्या, यह विषय तो पुराणों का है जो सर्वोत्कृष्ट श्रेणी के काव्य हैं, जिनके समझने के लिए कविता रसिकों की बुद्धि चाहिए, न कि शास्त्रार्थियों की। शास्त्रार्थों की दृष्टि केवल अपनी बात पुष्ट करने और दूसरे की काटने पर रहती है किंतु साहित्यवेत्ता यह देखते हैं कि अमुक की अमुक बात का उद्देश्य क्या है।

इस रीति से देखिए तो देख पड़ेगा कि जिन्होंने ईश्वर के रूप, कर्मादि का अलंकारिक वर्णन किया है उन्होंने अपनी बुद्धि के वैभव और उसके न्याय, दया, सामर्थ्य, सहिष्णुतादि अनेक गुणों का चित्र खींच दिखाया है। जिनके मन की आँखों में पक्षपात इत्यादि दोष हैं उन्हें दोष ही दृष्टि पड़ते हैं, पर जो सचमुच देख सकते हैं उनसे छिपा नहीं है कि मत्स्यावतार की कथा से यह प्रमाणित होता है कि जैसे जल में मछली की गति का कहीं अवरोध नहीं है, गहिराई, उथलाई, मंदता, तीव्रता, सरलता, तिर्यकता सब उसके विचरण करने के लिए समान हैं और उससे बड़ा वहाँ कोई प्राणी नहीं है। छोटे बड़े, दुःखी सुखी, भले बुरे सब उसकी दृष्टि में समान हैं तथा कोई उससे बड़ा क्या बराबर का भी नहीं है। अथच वेद अर्थात् आर्यों की परम प्राचीन सत्य विद्या को यदि कोई राक्षस लुप्त किया चाहे तो परमेश्वर के मारे वह पानी का डूबा भी नहीं बच सकता है। उसके आश्रितों को महाप्रलय में भी कोई खटका नहीं है। इसी प्रकार कच्छपावतार की लीला से यह निश्चित होता है कि जब देवता और राक्षस अर्थात् आर्य एवं अनार्य एकत्रित होकर संसार सागर का मंथन करके उसमें छिपे हुए रत्न प्रकट करने में कटिबद्ध होते हैं तो उनके उद्योग में सहारा देने के लिए भगवान की पीठ बड़ी मजबूत है। फिर उनके परिश्रम का फल उनके जाति के स्वभाव के अधीन है।

जिसे अमृत रुचे वह अमृत ले, जिसे मदिरा भावे वह बोतलें लुढ़कावे। बराह रूप का वर्णन यह

दर्शाता है कि हिरन्याक्ष अर्थात् सुवर्ण (धन) ही पर दृष्टि रखने वाले राक्षस या यों कहिये स्वार्थांध लालची जब पृथिवी को पाताल में ले जाने का उद्योग करते हैं अर्थात् सारा संसार रसातल को चला जाय इसकी चिंता नहीं करते, केवल अपना घर भरने में तत्पर रहते हैं, उनके दूरीकरणार्थ परम देव सब प्रकार प्रस्तुत हैं, चाहे तुच्छ से तुच्छ और भयंकर से भयंकर रूप एवं स्वभाव धारण करना पड़े। नृसिंह स्वरूप का आख्यान यह दिखलाता है कि जो प्रेम प्रमत्त भगवत् भजन के आगे न अपने जातीय सम्प्रदाय की चिंता करते हैं न सगे बाप का संकोच रखते हैं, न मरने जलने से डरते हैं उनके उद्धारार्थ प्रेम देव सब प्रकार प्रस्तुत रहते हैं।

प्रतिपक्षी चाहे जैसा समर्थी हो, चाहे जिसका बरदानी हो पर भगवान खंभा फाड़ के निकल आवैंगे और उसे मार गिरावैंगे। बामन बपुष का चरित्र इस बात का प्रकाशक है कि ईश्वर का स्वरूप देशकाल पात्रानुसार अत्यंत छोटा भी है एवं अतिशय बड़ा भी है। तथा देवताओं अर्थात् दिव्य गुण स्वभाव वालों के उपकारार्थ वे किसी बात में मंद नहीं हैं। यदि हम सजातियों की भलाई के लिए भीख माँगें अथवा छल करें तौ भी ईश्वर की दृष्टि में बुरे न ठहरेंगे बरंच उसके उदाहरण पर चलने वाले होंगे।

परशुराम जी का इतिहास इस आशय का प्रदर्शक है कि साहसी के लिए शस्त्र की आवश्यकता नहीं है। बड़ी से बड़ी सेना ने घुस जाने और सहस्रवाह ऐसे का सामना करने कों छोटी सी कुल्हाड़ी बहुत है। पर इस अवतार की न कहीं विशेष रूप से पूजा होती है न इन दिनों इनके गुणों का कोई प्रयोजन है। धर्मानुरागियों को शांति से बढ़ के कोई शस्त्र आवश्यक नहीं।

श्री रामचंद्र का तो कहना ही क्या है, उनके वृत्त में हम वह 2 लोक परलोक बनाने वाले उपदेश पा सकते हैं जिनका वर्णन करने को बड़ा ग्रंथ चाहिए। पर हाँ बालि को छिप के मारना और सीता जी का बिठूर भेज देना उनके पक्ष में कोई 2 लोग अनुचित समझते हैं। पर जब हम मन लगा के शरणागत की रक्षा और मित्र के उद्धार एवं प्रजा रंजन के कर्तव्य की महिमा का विचार करेंगे तो जान जायँगे कि भगवान् मर्यादा पुरुषोत्तम क़े यह दोनों काम राजधर्म एवं साधुनीति के विरुद्ध न थे। इसी रीति से भगवान श्रीकृष्ण परमात्मा का मानवचरित हमें धीरता, बीरता, गंभीरता, व्यवहारकुशलता, समयानुकूलता, ब्रह्मविज्ञतादि आर्योचित गुणश्रेणी की शिक्षा देता है। यद्यपि अनभिज्ञ लोगों ने उन्हें चोरी और जारी का कलंक लगाया है पर आज तक यह सिद्ध नहीं कर दिखाया कि किस वेद अथवा शास्त्र वा पुराण के किस स्थल पर तथा श्रीमद्भागवत वा महाभारतादि किस धर्म ग्रंथ में कहाँ पर लिखा है कि उन्होंने अमुक के घर में, अमुक समय, सेंध दे वा भीत फाँद के धन वस्त्रपात्रादि अपहरण किया। रहा मक्खन, सो बृज में (जहाँ 2 गोप के घर सहस्रावधि गऊ थीं वहाँ) कौन सी बहुमूल्य वस्तु समझी जा सकती थी। सो भी उन्होंने कै वर्ष की सँभली हुई अवस्था में कै मन अथवा कै सेर चुरा के, किसे हानि पहुँचाई।

यदि किसी स्नेही की प्रसन्नतार्थ बाललीला के अंतर्गत थोड़ा सा अल्पमूल्य पदार्थ उठा खाना वा फेंक देना चोरी समझा जाय तो समझने वालों की समझ की बलिहारी है। और सुनिए, सोलह वर्ष की अवस्था में तो वह मथुरा जी चले गए थे। इतने ही बीच में व्यभिचार भी कर लिया ! सो भी उन दिनों में जब भारत के मध्य भोजन वस्त्रादि के अभाव और नाना रोगों के प्रभाव से छोटी ही अवस्था में यौवन काल में बुढ़ापा न आ जाता था। भला इतनी कच्ची उमर में व्यभिचारी हो के कोई भी हाथी के दाँत उखाड़ने, बड़े 2 बलिष्ठ शत्रुओं को मारने के योग्य रह सकता है ? पर द्वेषियों को कौन समझावै कि भागवत भर में कोई शब्द या संकेत भी ऐसा नहीं पाया जाता जो जारकर्म का द्योतन करता हो।

हाँ, कवियों और प्रेमियों को अधिकार है कि चाहे जैसी पदावली में, चाहे जिस आशय को लिख दिखावैं। किंतु उनके गूढ़ाशय का समझना हर एक का काम नहीं है। अतः योगीश्वर कृष्णचन्द्र को कामुम समझना लोगों की समझ का फेर है। बुधदेव के जीवनचरित्र से हम यह सीख सकते हैं कि ईश्वर 2, वेद 2 चिल्लाना व्यर्थ है जब तक जीवरक्षा, परोपकार, धर्मप्रचार के निमित्त आत्मविसर्जन न कर दें। पर एतद्देशिक साधु समुदाय में प्रतिष्ठित बने रहने के लिए हमें मान्य ग्रंथों का मौखिक आदर भी करते रहना चाहिए।

कल्कि स्वरूप का कर्तव्य तो सब जानते ही हैं कि कलियुग का प्राबल्य दलन और धर्म का पालन करने को भगवान अवतीर्ण होंगे। क्योंकि जहाँ राजा प्रजा सभी स्वेच्छाचारी हों वहाँ धरती और धर्म परमेश्वर ही के रक्खे रह सकता है। अब बतलाइए अवतार मानने वाले ईश्वर को कौन गाली देते हैं और न मानने वाले कहाँ का राज्य सौंप देते हैं ? फिर किसी के सिद्धांत का खंडन करने की मनसा से अपना समय, दूसरे की शांति, आपस का सुख प्यार नष्ट करना निरा निष्प्रयोजन ही है कि और कुछ ?

खं० 7, सं० 11 (15 जून, ह० सं० 7)

निर्णयशतक

इस देश में सदा से सब बातों का निर्णय ब्राह्मण ही करते रहे हैं। धार्मिक व्यावहारिक और सामाजिक निर्णय आज भी ब्राह्मणों ही के हाथ में है। पर राजनीतिक निर्णय जब से मुसलमानों तथा अंग्रेजों का राज्य हुआ तब से प्रत्यक्ष रूप से इनके हाथ से जाता रहा है। किंतु बहुत सी बातों का निर्णय परम्परा द्वारा आज भी इन्हीं के हाथ में है। जब दाय भाग अथवा धर्म संबंधी मान हानि (तौहीने मजहबी) आदि के झगड़े आ पड़ते हैं तब हाकिम मिताक्षरा ही इत्यादि का अवलम्बन करके मुकद्दिमा फैसल करते हैं और अच्छे बादशाह भी इसी रीति पर चलते थे और ऐसी न्याय पद्धति के संस्थापक याज्ञवल्क्यादि ब्राह्मण ही थे तथा उनके तत्वप्रकाशक भी पंडित ही हैं और थे और हो सकते हैं। पर आजकल ब्राह्मणों ने यह झगड़े मुड़ियाना छोड़ सा दिया है वा यों कहो कि देश के अभाग्य अथवा काल कर्मादि की कुचाल से जन समुदाय ने ब्राह्मणों की यथोचित प्रतिष्ठा से मुँह मोड़ लिया है। अतः हम अपने पक्ष में उत्तम समझते हैं कि समय 2 पर ऐसे विषयों का श्रुति स्मृति पुराण तथा सज्जन सम्मति के अनुकूल निर्णय प्रकाशित कर दिया करें।

जिन विषयों में सनातन धर्मी कुछ का कुछ समझ के कभी 2 गड़बड़ कर उठाते हैं और देशी परदेशी विपक्षीगण के आक्षेपभाजन बनते हैं। यद्यपि हमारे पूर्वजों की दया से अद्यापि हमें यह अधिकार है कि यदि कोई सम्राट् आज्ञा करे कि अमुक स्थान पर अमुक समय अमुकामुक वाले इतने पुरुष एकत्र

हों और अमुक कार्य संपादन करें तो उस आदेश में चाहे हानि के स्थान पर लाभ और कष्ट के ठौर पर आनंद ही क्यों न हो पर सब लोग प्रसन्नतापूर्वक कदापि अंगीकार न करेंगे । बरंच "जबरदस्त का ठेंगा सिर पर" समझकर यथासंभव बचने का उद्योग करेंगे वा अनमनेपने से आज्ञा पालन में प्रवृत्त होंगे । किंतु यदि हम यह कह दें कि अमुक दिन अमुक समय अमुक स्थल पर लोगों को इकट्ठा होना चाहिए तथा यह देना और श्रम करना चाहिए तो देख लीजिए सौ की जगह हजारों बरंच लाखों लोग आते हैं कि नहीं और काल में भी एक 2 पल का ध्यान रखते हैं कि नहीं तथा दान में जी खोल के एक के ठौर देते हैं कि नहीं ? किन्तु इस युग में अपना इस प्रकार का महत्व हम तभी रक्षित कर सकेंगे जब यत्नपूर्वक आलस्य एवं उपेक्षा को छोड़ के अपने पूर्व पुरुषों के वचनों की उत्तमता अथच प्रयोजनीयता सर्वसाधारण में फैलाते रहें ।

हम इसी मानस से ऐसे प्रस्ताव प्रकाश करते रहना योग्य समझते हैं । यदि हमारे पंडितगण इस विषय में हमारा साथ देते रहें तो बड़ा उपकार होगा । इस शतक में कुछ भी संख्या का नियम नहीं है शत और सहस्र शब्द असंख्य के बाची हैं अस्मात् जितने अधिक निर्णीत विषय लिखे जा सकें उतना ही अच्छा है । नहीं सौ के लगभग तो हम सोच रक्खे हैं उन्हें धीरे 2 लिखते रहने का विचार है ही आगे हरि इच्छा अथवा विद्वान मित्रों की इच्छा । जो इस प्रकार के निर्णय लिखते रहेंगे उनको हम कृतज्ञता संमेत उन्हीं के नाम से प्रकाश करेंगे तथा जो सहृदय हम से यह कहते रहेंगे कि अब इस विषय का निर्णय लिखो—उनकी आज्ञा भी हम धन्यवाद सहित पालन करेंगे और यह भी लिखा करेंगे कि—यह निर्णय अमुक महाशय की रुचि से लिखा है—क्योंकि ऐसी बातों की देश के लिए आवश्यकता है और ब्राह्मण नाम की शोभा है । इससे हमारे पाठकों को इस शीर्षक के लेख ध्यान दे के देखते रहना और हमारा हाथ बँटाते तथा हमें स्मरण दिलाते रहना चाहिए ।

खं० 8, सं० 7 (फरवरी, ह० सं० 8)

प्रतिमा पूजन के द्वेषी देशहितैषी क्यों नहीं बनते हैं ?

यदि वे मौखिक शास्त्रार्थ में परम दक्ष बनना चाहें तो अयुक्त नहीं है । क्योंकि यह पदवी थोड़ा सा पढ़ लिखकर बुद्धि संचालन मात्र के अभ्यास से सबको मिल जा सकती है । यदि महाधुरन्धर पंडित बनना चाहें तौ भी परिश्रम करते 2 अथवा जगत की रीति देखते 2 हो जाना असंभव नहीं है । साक्षात ब्रह्म बनना चाहे तौ भी चाहे बन जायँ क्योंकि वह एक मान लेने की बात है जिसका अधिकार सभी मन वालों को स्वतः प्राप्त है । पर हितैषिता से और इन बातों से क्या संबंध । हित तौ एक अनिर्वचनीय मनोवृत्ति है । वह हृदय में आती है तब आँधी की भाँति चारों ओर के विघ्नों को उड़ाती हुई और चारों ओर अपना असर फैलाती हुई, कार्य कारणादि के झगड़े मिटाती हुई आ जाती है । उसके अस्तित्व का प्रमाण अनुभव है । सामने प्रत्यक्ष रूप से विद्यमान रहता है और बातों के आगे अपना प्रभाव दिखाने या न दिखाने की

परवाही नहीं रखता ।

इस सिद्धांत का जिन सहृदयों को थोड़ा सा भी ज्ञान है वे विचार सकते हैं कि जहाँ पर हितैषिता का तनिक भी संचार होगा वहाँ से द्वेषिता का नाम निशान भी कोसों दूर रहेगा । हम जिसका सच्चे जी से हित चाहते हैं उसे रुष्ट करने की सपने में भी इच्छा तक न कर सकेंगे । इस स्वयंसिद्ध परिभाषा को सामने रख कर सोचिए तो आपका अंतःकरण आप ही गवाही देगा कि जिस बात को एक देश सहस्रों वर्ष से, सहस्र भाँति, श्रद्धापूर्वक अपने जीवन का सर्वस्व, नहीं 2 जीवितेश्वर के मिलने का सर्वोत्तम, सीधा और सच्चा उपाय मान रहा है, उसी का विरोध करके जो अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देता है वह हितैषी कदापि नहीं कहा जा सकता । चिढ़ाने वाला कभी हित चाहने वाला हो सकता है ? हम जिसे चाहेंगे उसके नाम रूप गुण स्वभाव मित्र सेवक बरंच पालित पशु पक्षी तक को देख के हर्षित होंगे ।

इस बात को ईश्वर के अथवा संसार की किसी वस्तु को चाहने वाले ही जानते हैं, मुँह के बक्की बिचारे क्या जानेंगे, और न जानें सोई उनके लिए अच्छा है । इस रीति से राम कृष्णादि की प्रतिष्ठित मूर्तियों का तो कहना ही क्या है, हमें भगवती का नाम स्मरण कराने वाली चौराहे की ईंट को भी चाहना चाहिए और निष्कपटता के साथ ऐसा करने वाले रुक्ष, नीरस केवल मुख, मस्तिष्क और कलहप्रसारिणी बुद्धि से संबद्ध तर्कशास्त्र की रीति से चाहे जैसे अल्पज्ञ वा सदसद्विबेचनाशून्य सिद्ध कर दिए जा सकें किंतु प्रेमस्वरूप परमात्मा तथा उसके सरस, सुस्वादु, हृदयग्राही, अमृतमय, प्रत्यक्ष, मूकास्वाद नवानंदप्रद प्रेमशास्त्र की दृष्टि में अवश्यमेव कोमल चित्त और आर्द्र प्रकृति ही जँचेंगे । पर मूर्तिपूजा के द्वेषी उन्हें ऐसा न समझ के उन पर जड़बुद्धी इत्यादि मिथ्यावाद आरोपित करने में चेष्टावान रहते हैं ।

फिर भला जो कोई जिस पर झूठा बे सिर पैर का कलंक लगाया चाहे वह उसका हितैषी किस न्याय से कहा जा सकता है ? और सुनिए, आप तो अपने समूह के अग्रगामी जी का छः पैसे का फोटो तथा सड़ी सी चौपतिया तक अनादर की दृष्टि से देखना नापसंद करें पर हमसे कहें कि तुम्हारे लाखों रुपए की लागत के मंदिरों में विराजित, वेदमंत्र द्वारा पूजित देव प्रतिमा तथा एक से एक मधुर कोमलकांतपदावलीपूर्ण सहस्रावधि विद्वानों के वर्षों के परिश्रम से निर्गत धर्मग्रंथ मिथ्या हैं, त्याज्य हैं, पोपों का जाल हैं । छिः ! ऐसे पक्षपात के पुतलों और आत्मप्रशंसकों को हम अपने हितैषी समझ लें ऐसे हमारी समझ पर कहाँ के पत्थर पड़े हैं ? यदि इन सूक्ष्म बातों तक बुद्धि न दौड़ती हो तो एक मोटा उदाहरण सुन लीजिए । इन दिनों देश में चारों ओर निर्धनता छाई हुई है ।

न कोई शिल्पकारों को पूछता है न क्रयविक्रयोपजीवियों को । ऐसी दशा में अपने दीनताग्रस्त भाइयों को कुछ सहारा पहुँचाना उनका हितान्वेषण है अथवा उनकी रोटियों का हरण करने में सोद्योग रहना ? यदि दूसरी बात सत्य हो तौ तो प्रतिमाद्वेषी सचमुच भारतहितैषी हैं पर यदि पहिली बात ठीक है तो जब हम एक छोटी सी शिवलिया बनाने का मानस करते हैं उसी दिन से कम से कम दो एक रोज, दो चार मजदूर, जलवाहक, ईंटवाले, चूनावाले, रंगसाज, संगतराश, माली, ब्राह्मण, हलवाई, दरजी, ठठेरे इत्यादि कई भाइयों को बरसों नहीं तो महीनों तक अवश्य सहारा मिलना आरंभ हो जाता है । फिर क्यों मानिएगा कि इस रीति से देशभक्ति का मार्ग खुलता है जिसे मूर्तिविरोधी रोकने में लगे हैं । बरंच उनकी दृष्टि में यही देशहितैषिता है कि इस बहाने भी देशबंधुगण का निर्वाह न होने पावै । यदि यही देशवत्सलता है तो धन्य है, शाबास है, बलीहारी है समझ के अजीर्ण को !

खं० 8, सं० 8 (मार्च, ह० सं० 8)

भगवत्कृपा

यों तो संसार में सबके ऊपर सदा भगत्कृपा अनवच्छिन्न रूप से बनी ही रहती है, हमारा जन्म ग्रहण करना, हृष्ट पुष्टांग होकर चलना फिरना, अन्न वस्त्रादि के द्वारा उपभोग एवं रक्षा पाना, जगत्कौतुक देख 2 कर प्रसन्नता अथच शिक्षा का लाभ करना इत्यादि भगवान की दया ही के खेल हैं। नहीं तो यदि सचमुच न्याय किया जाय जो हम लोग क्षण भर जीने के योग्य नहीं हैं, उपकार के पात्र तो कहाँ से हो सकते हैं। जान बूझकर अंतःकरण का निरादर करके जितने अधिक दंड दिया जाए सब थोड़ा है। किंतु उसके पलटे में हमें एक से एक उत्तमोत्तम पदार्थ प्राप्त होते रहते हैं। यह निरौ भगत्कृपा नहीं तो क्या है ? पर इस प्रकार की कृपा साधारण तथा नित्यैंव देखने में आया करती है इससे हम लोग बहुधा ध्यान नहीं देते।

ध्यान देना कैसा बरंच कभी 2 अपनी करतूत का फल समझ के घमंड में आ जाते हैं। हाँ, जब किसी व्यक्ति विशेष का किसी कारण के बिना किसी प्रकार का उपकार विशेष होते हुए देखते हैं तब यदि हमारे हृदय में आस्तिकता के साथ कुछ भी जान पहिचान होती हैं तो भगवान की दया का बोध करते हैं। जिन्होंने हठपूर्वक नास्तिक्य का दृढ़ रूप से आश्रय ले रक्खा उनकी समझ में तो ईश्वर का अस्तित्व ही असंभव है उसकी कृपा कहाँ रहती है अथवा जिन्होंने ईश्वर को केवल निज कल्पित नियमों का बशवर्ती मान के अन्य मतावलंबियों को ईश्वर से नितांत बहिर्मुख समझ लिया है उनकी भी बात न्यारी है। जहाँ तक हो सकेगा प्रकृत वस्तु के विपरीत बुद्धि दौड़ावैंगे और कहीं कुछ भी पता ठिकाना न पावैंगे तो कह देंगे कि कुछ होगा, समझ में नहीं आता। पर ऐसा होना असंभव है और मानने वाले भ्रम में पड़ गए हैं अथवा छल करते हैं।

बस इन्हीं दोनों प्रकार वालों के अंतर्गत एक समुदाय ऐसा भी है जो समझता है कि जैसा कुछ हमारे समझाने वालों ने समझा दिया है और हमने समझ लिया वही सारे संसार का निचोड़ है। उसके अतिरिक्त विरुद्ध कभी कहीं भी कुछ भी न भूतो न भविष्यति। पर हाँ, इन तीनों को छोड़ के और जितने समझदार हैं, जिनकी संख्या सभों से अधिक है और उचित रीति से काम में लावैं तो सामर्थ्य भी सबसे अधिक है, वे सब जब कोई विलक्षण घटना देखते सुनते हैं तब सर्वेश्वर शक्तिमान की लीला का प्राकट्य मान लेते हैं। यदि उसका कारण अवगत हो गया तो कारण को भी लीला ही का एक अंग जानते हैं और इसी भाँति जब किसी का कोई इष्ट विशेष साधित होने का वृत्तांत सुनते हैं तब मन और बचन से कहते हैं कि भगवान ने उस पर दया की है।

गीतगोविंदकार जयदेव स्वामी के हाथ पाँव कट जाने पर फिर से हो जाना, मीरा महारानी का विषपान करने पर जीवित रहना इत्यादि तर्कियों की समझ में मिथ्या कथानक है पर यदि मिथ्यात्व सिद्ध न हो सके तो भगवत्कृपा के सिवा क्या कहिएगा ? यदि उन्हें बहुत दिन की बातें होने से कवियों की अत्युक्ति मानिए तो भी बहुत से ऐसे इतिहास विद्यमान हैं जिनके देखने वाले न मर गए हैं, न झूठे हैं, न कपट कथा सुना के आप से कुछ लेने की पर्वा रखते हैं।

शैव मनोरंजनी नाम्नी पुस्तिका के लिखने वाले श्री देवीसहाय बाजपेयी जी का वृत्तांत कानपुर और काशी के सहस्रों लोग जानते हैं कि कई वर्ष तक अंधे रहे थे और अंत में किसी औषधि का व्यवहार

किए बिना आँखें खुल गई थीं । उनके साथ नित्य साक्षात् करने वाले एक नहीं, दो नहीं, सैकड़ों प्रतिष्ठित और सुशिक्षित लोग विद्यमान हैं । उनसे पूछ के जिसका जी चाहे अपना जी भर ले । चौथी एप्रिल के 'बंगवासी' ने खजुहा, जिला फतेहपुर निवासिनी बतासा नाम की पूजनीया ब्राह्मणी का जो चरित्र लिखा कि उनके पाँव सूख जाने के कारण हिलने चलने की शक्ति से रहित हो गए थे और फिर अकस्मात क्षण ही भर में पूर्णरीत्या नीरोग हो गए ।

इसकी साक्षी के लिये आसाम देशान्तर्गत श्रीहट्ट प्रांत के एसिस्टेन्ट इंजीनियर श्री मातादीन जी शुक्ल एम०ए० तो हई हैं जिनकी सज्जनता से हम और हमारे कई मित्र भली भाँति परिचित हैं, किंतु इतने पर भी किसी को विश्वास न आवै सो हम पूर्ण रीति से निश्चय करा देने को प्रस्तुत हैं । क्योंकि खजुहा कानपुर से बहुत दूर नहीं हैं न उन सीधी सादी, भोली भाली ब्राह्मणी को असली हाल बतला देने में कोई इनकार है । और सुनिए बाँदा नामक नगर में एक बाबू प्रसाद साहब वकील हैं, साधुओं के आगत स्वागत में बड़ी रुचि है, अभी थोड़े दिन की बात है कि कुछ एक महात्मा आ गए पर उनकी सेवा के योग्य वकील साहब के पास धन न था अतः उन्होंने घर का गहना गहने धर उस समय काम तो निकाल लिया किंतु द्रव्य संकोच के कारण विशेषतः स्त्रियों को खिन्न देखकर, क्लेश भी हुवा पर पाँच सात दिन में जब महाजन के यहाँ से आभूषण लौटा लेने को कह गए तो उसने कहा, 'वाह साहब यह क्या बात है ? गहना तो आप उसी दिन ले गए थे और रुपया भी आप ही के हाथों मिल चुका है ।' इस पर घर में आकर पूछा तो महाजन की बात ठीक निकली ।

जिसे इस आख्यान में भी संदेह हो वह उक्त स्थान पर जा के निवारण कर सकता है । एक प्रतिष्ठित वकील को इस रीति के मिथ्या समाचार प्रचार करके अपनी महिमा बढ़ाना आवश्यक नहीं है । इस प्रकार के सैकड़ों सत्य समाचार हैं तो केवल आपके मिथ्या कहने से मिथ्या न हो जायँगे और कोई मिथ्यापन का प्रमाण आप नहीं दे सकते और हम सत्यता के लिये सैकड़ों शाक्षी दे देंगे । फिर भी यदि शास्त्रार्थ का साहस कीजिए तो जब तक आप यह न सिद्ध कर दें कि ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं है, सच्चे विश्वास में प्रभाव नहीं है अथवा ईश्वर के आराधना में प्रत्यक्ष कोई फल नहीं है तब तक यदि न्याय कोई पदार्थ है तो आपका कथन अप्रमाण रहेगा और भगवत् कृपा के अनुभवियों के पास प्रत्यक्ष प्रमाण बना रहेगा ।

हाँ यदि आप कहें कि ऐसा कोई दिखा क्यों नहीं सकता तो हम कहेंगे, ईश्वर और उसके भक्तजन बाजीगर नहीं हैं कि आपकी इच्छा होते ही तमाशा दिखा दिया करें । वह ईश्वर का और उसके भक्तों का निज व्यवहार है जिसके देखने की सामर्थ्य विवादियों को नहीं हो सकती । हो सके तो तर्क वितर्क छोड़ के विश्वास के साथ उसी के हो जाइए । फिर आप ही लेख लीजिएगा कि सारे मनोरथों की पूर्ति एवं सभी प्रकार के अभाव का निराकरण केवल उसी की कृपा से होता है अथवा नहीं । यों मन के स्नेह का काम बचन के द्वारा निकालना अभीष्ट हो तो त्रिकाल में असंभव है ।

जो कार्य जिस रीति से होता है वह उसी रीति का अवलम्बन करने से होगा । वह रीति सीखने समझने कहीं नहीं जाना, केवल अपने चित्त को उसका आश्रित बना लीजिए फिर उसका चाहे जैसा रूप गुण स्वभाव मान के उसके कोई बन जाइए और अवकाश के समय नित्य उसके सामने अपने मनोरथ प्रकाश करते रहिए । नित्य कहते रहिए—'तुम हमारे हो हम तुम्हारे हैं । जिन सांसारिक वस्तुओं के लिए मन को हाथ से खो देते हो, कुछ भी विचार न करके उन्हीं की प्राप्ति के स्मरण में मग्न हो जाते हो,

वैसे ही उसके लिए सतृष्ण हो जाओ तो फिर बस उसकी कृपा के अधिकारी हो जाओगे और जैसी घटनाओं को आज दूसरों की झूठी कहानियाँ समझते हो वैसी ही बरंच उनसे अधिक को अपने ऊपर बीती हुई बातें समझने लगोगे । क्योंकि दयामय परम ईश की महान शक्ति का कभी ह्रास नहीं होता, वह अपने भक्तों के लिए आज भी वही हैं जो ध्रुव प्रह्लादि के समय में थे । कमी केवल हमारी भक्ति में है कि उन्हें नाशमान जगत के पदार्थों के बराबर भी प्यार नहीं करते बरंच नाना भाँति के तर्क उठा के उनके कामों को झुठलाने और दूसरों का मन उनकी ओर से फिराने में सयत्न रहते हैं ।

इन लक्षणों से उनकी दया का लाभ करना तो कैसा उसका भेद समझना भी संभव नहीं है । हमारी प्रवृत्ति स्वभावतः सर्वभावेन उनके विपरीत हो गई है । इस दशा में केवल यही एक उपाय है कि हम उन्हें याद करते रहें तो वह भी हम पर दया करते रहेंगे । क्योंकि जैसे हमारी और सब बातें उलटी हैं वैसे ही हमारा यह काम भी उलटा ही होना सोहैगा । दया शब्द को उलटाइए तो याद का शब्द बन जाता है । इसी बनाव से उन्हें रिझाइए तो वे अवश्य इस विचार से रीझ जायँगे कि अपनी उलटी चाल का निर्वाह करने में यह पक्का है । और कुछ जाने चाहे न जाने सो सच भी है ।

जिनका भेद किसी के जानने का विषय हई नहीं उसको हम ही क्या जानेंगे और कितना जानेंगे ? अस्मात् जानने के लिए यत्न करना व्यर्थ अपनी बुद्धि को थकाना और समय बिताना है । केवल इतना जान लेना बहुत है कि वह सब कुछ कर सकते हैं और सबसे बड़े हैं तथा बड़ों की सभी बातें बड़ी होती हैं इससे उनकी दया भी बहुत बड़ी है । विशेषतः हमारे पक्ष में यह बहुत बड़ी दया है कि वे अपनी ओर हमारा मन खींच लें फिर बस हम पूरे कृपापात्र हो जायँगे । यह यद्यपि उन्हीं के हाथ हैं पर यदि हम उनसे नित्य इस विषय की छेड़ बनाए रहें, उन्हें सर्वव्यापी समझ के जहाँ कहीं उनकी चर्चा सुनें, जहाँ कोई उनका चिह्न देखें वहाँ उनके स्मरण में कुछ काल मग्न हो के दया जाचना करते रहें तो कोई संशय नहीं है कि वे हम पर दया करेंगे ।

खं० 8, सं० 10 (मई, ह० सं० 8)

अवतार

लेना वा आविर्भाव करना किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रकटित होने को कहते हैं । यथा 'मनुज रूप है अवतरथो हरि सुमिरन के हेत' और 'सोरह सौ अट्ठावना कातिक सुदि बुधवार । रामचन्द्र की चन्द्रिका तब लीन्हो अवतार' इत्यादि बहुत से वाक्य प्रसिद्ध हैं । पर इस देश के साधारण लोग बहुधा इस शब्द से मत्स्य कच्छपादि भगवदावतार ही का बोध करते हैं और देशी तथा विदेशी अन्य मत वाले जन कई एक युक्तियों से यह बात सिद्ध करना चाहते हैं कि ईश्वर का अवतार नहीं हो सकता । किंतु समझदार लोग हमारे इस लेख से विचार कर सकते हैं कि ईश्वर का अवतार लेना बुद्धि के अनुकूल है वा प्रतिकूल ? यहाँ पर हम उन छोटी 2 युंक्तियों पर लेखनी को कष्ट न देंगे जिनका उत्तर केवल इतना

कहने से हो सकता है कि वह सर्वशक्तिमान है अतः क्या नहीं कर सकता, परम स्वतंत्र है अस्मात् किसकी युक्तियों और नियमों में वह हो सकता है, इत्यादि ।

सर्वव्यापी बना रहने पर भी छोटी से छोटी वस्तुओं में प्रविष्ट होने की शक्ति तो आकाश तक में है फिर ईश्वर में क्यों न होगी ? सूर्य चन्द्रमादि के बिना भी तो वह संसार में प्रकाश और शीतोष्णता का प्रस्तार कर सकता था, फिर इन्हें क्यों बनाया ? ऐसी 2 छोटी बातों का विस्तार करना समय का खोना है । इससे वही बातें लिखते हैं जिनसे यह विदित हो सके कि ईश्वर अवतार लेता है वा नहीं ।

आप अवतार को न मानते हों किंतु इतना तो जानते ही हैं कि अवतार लेना वा न लेना उसके निज के करने के कामों में से है और किसी के निज कर्तव्यों का निश्चित ज्ञान केवल उन्हीं को होता है जो कर्ता के साथ निज का संबंध रखते हों । इस नियम के अनुसार यदि आपकी आस्तिकता का निचोड़ केवल एक वा अनेक पुस्तकों के पढ़ने अथवा पक्षी तथा विपक्षियों के व्याख्यान सुनने वा अपने समाज की प्रचलित रीतियों के पालने ही पर निर्भर हो तो इस विषय में निश्चय के साथ हाँ वा नहीं कहने का आपको अधिकार नहीं है । अतः आपका इस विषय में कुछ भी बोलना झख मारना है । इससे पहिले यह उचित है कि ईश्वर के साथ निज संबंध लाभ कीजिए अर्थात् उसे कच्चे और सरल चित्त से न्यूनान्यून इतना प्यार करने में तो अभ्यस्त हूजिए जितना धन जनादि को प्यार करते हैं, उसके स्मरण में इतना मत्त होना तो सीखिए जितना स्वार्थसाधन के उपायों में होते हैं ।

उस दशा में कोई संदेह नहीं है कि धीरे 2 आपके मनोमंदिर में उसका गमनागमन होने लगेगा और विचार की आँखों से उसकी लीला एवं अवतारों की झाँकी होने लगेगी । जिस समय कोई ऐसा कांड उपस्थित होगा जिसमें आपकी निज सामर्थ्य कुछ काम न दे सके उस समय देखिएगा कि वह विपत्ति पड़ने पर धैर्य के रूप भें, सम्पत्ति होने पर सहभोगी के बपुष में, सदिच्छा उत्पन्न होने पर सहायक एवं दुरिच्छा से निषेधक इत्यादि रूप में आविर्भाव करते हैं और समय 2 पर अपने शरीर धारण की साक्षी आप ही देते रहते हैं ।

जब आपको इस रीति का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जायगा तब अनुमान अवश्य ही कहेगा कि जो प्रभु एक साधारण व्यक्ति के हितार्थ नाना रूप धारण करते रहते हैं वे क्या समस्त संसार के हेतु दश अथवा चौबीस अवतार भी न लें । पर यह सामर्थ्य आपको तब तक कदापि नहीं हो सकती जब तक प्रेमनगर के तुच्छ निवासी और प्रेम शास्त्र के अक्षराभ्यासी बनने में धावमान न हूजिए । पर इसमें हमारा काम कही देना मात्र है उद्योग करना न करना आपके भाग्य की बात है । अतः दृश्यमान जगत् ही को आगे रखकर हम आपको अवतार का विषय अवगत कराते हैं ।

मानव मंडली सदा से सृष्टिकर्ता के गुण स्वभावादि हैं जिनका अनुमान सृष्टि की चाल ढाल के अनुसार करती आई है । जिन कामों को हम अपने अपनायत वालों के पक्ष में अच्छा देखते हैं उन्हीं को ईश्वर की इच्छा, ईश्वर की आज्ञा, ईश्वर की प्रकृति के अनुकूल समझते हैं, इतरों को प्रतिकूल । इस नियम के अनुसार सूक्ष्म विचार कीजिए तो विदित हो जायगा कि संसार में जितने जड़ वा चेतन पदार्थ हैं वह सभी यदि अपनी 2 आदिम दशा से अंतिम गति तक निर्विघ्नता के साथ पहुँच जायँ तो दश अवतारों में आविर्भूत हुए बिना नहीं रहते ! अर्थात् दश प्रकार की गति में प्रकाशित होना ही जगत् के यावत् पदार्थों का जातिस्वभाव है और जातिस्वभाव को सभी मत के लोग ईश्वर का अंश मानते हैं ! फिर आप क्योंकर सिद्ध कर सकेंगे कि ईश्वर का स्वभाव जगत् के स्वभाव से नितांत प्रतिकूल है ।

यह हम भी मानते हैं कि ईश्वर की सारी बातें पूर्णताविशिष्ट हैं और संसार की अपूर्ण पर इससे अवतार सिद्धि में कोई बाधा नहीं आती बरंच और पुष्टता होती है अर्थात् हमारे अवतार विघ्न और विक्षेप से दलित होने पर अधूरे अथवा एक के मध्य दूसरे से मिश्रित भी रह सकते हैं। ईश्वर के अवतार पूर्ण रूप से शुद्धता के साथ अपना महत्व दिखाते हैं, जैसा कि पुराणों से विदित होता है कि जब जो रूप धारण किया तब उसके संबंध में जितनी बातें थीं उतनी पूरी रीति से कर दिखाईं और जिस काम में बड़े 2 ऋषि मुनि देवताओं का साहस जाता रहा उसे ऐसी उत्तमता से पूरा किया कि त्रिकाल और त्रिलोक के पांडित्याभिमानियों की बुद्धि चक्कर खाया करती है।

सच पूछो तो उसकी सर्वोत्कृष्टता और अनिर्वचनीयता का लक्षण ही यही है कि जितनी बातें हों सभी सर्वोकृष्ट तथा बुद्धि को चकरा देने वाली हों जिनका समझाना तो कैसा, समझना ही कठिनतम है। इससे हम भी यहाँ पर उसके अवतारों का चरित्र वर्णन करके उसकी सृष्टि के शिरोमणि अर्थात् मनुष्य में जो अवतारों के निदर्शन पाए जाते हैं उन्हें दिखलाते हैं जिसमें बुद्धिमान समझ ले कि जिसकी कारीगरी के एक 2 अंश में अवतारीपन झलकता है वह स्वयं अवतारधारी कैसे नहीं है ? क्या उसका सहारा पाए बिना कोई गुण ठहर सकता है ? अथवा पुत्र का रंग ढंग देख के पिता के रंग ढंग का अनुमान नहीं होता ?

खं० 8, सं० 10 (15 मई, ह० सं० 8)

ईश्वर की मूर्ति

वास्तव में ईश्वर की मूर्ति प्रेम है पर वह अनिर्वचनीय, मूकास्वादनवत्, परमानंदमय होने के कारण लिखने वा कहने में नहीं आ सकता, केवल अनुभव का विषय है। अतः उसके वर्णन का अधिकार हमको क्या किसी को भी नहीं है। कह सकते हैं तो इतना ही कह सकते हैं कि हृदय मंदिर को शुद्ध करके उसकी स्थापना के योग्य बनाइए और प्रेमदृष्टि से दर्शन कीजिए तो आप ही बिदित हो जायगा कि वह कैसी सुंदर और मनोहर मूर्ति है। पर यतः यह कार्य सहज एवं शीघ्र प्राप्य नहीं है। इससे हमारे पूर्व पुरुषों ने ध्यान धारणा इत्यादि साधन नियत कर रक्खे हैं जिनका अभ्यास करते रहने से उसके दर्शन में सहारा मिलता है। किंतु है यह भी बड़े ही भारी मस्तिष्कमानों का साध्य।

साधारण लोगों से इसका होना भी कठिन है। विशेषतः जिन मतवादियों का मन भगवान् के स्मरण में अभ्यस्त नहीं है वे जब आँखें मूँद के बैठते हैं तब अंधकार के अतिरिक्त कुछ नहीं देख सकते और उस समय यदि घर गृहस्थी आदि का ध्यान न भी करें तौ भी अपनी श्रेष्ठता और अन्य पंथावलंबियों की तुच्छता का विचार करते होंगे अथवा अपनी रक्षा वा मनोरथ सिद्धि इत्यादि के मानस से परमात्मा का भी सुध करते हों तो करते हों, नहीं तो केवल मुख से कुछ नियत शब्दों का उच्चारण छोड़कर ईश्वर का वास्तविक भजन पूजन यदि एक मिनिट भी करते हों तो हमारा जिम्मा। कारण इसका यह है कि मनुष्य

का मन होता है चंचल। वह जब तक किसी बहुत ही सुंदर वा भयंकर वस्तु अथवा व्यक्ति वा सुख दुःखादि की ओर न चला जाय तब तक एकाग्र कदापि नहीं होता।

हाँ, बड़े 2 योगी अभ्यास करते 2 उसे स्वेच्छानुवर्ती बना सकते होंगे, पर अपने सहवर्तियों में तो हम किसी का सामर्थ्य नहीं देखते कि संगीत साहित्य सुरा सौंदर्य इत्यादि की सहायता के बिना कोई मन को एक ओर कर सकता हो, विशेषतः ईश्वर की ओर, जिसकी सभी बातें मन बुद्धि चित्त अहंकार से परे हैं। फिर हम क्यों न कहें कि प्रतिमा पूजन के विरोधी ईश्वर का पूजन तो क्या दर्शन भी नहीं कर सकते। विचार करके देखिए तो प्रतिमा पूजन के नास्तिकों के अतिरिक्त बचा कोई भी नहीं है। जो ईश्वर को मानेगा उसका निर्वाह किसी न किसी प्रकार की प्रतिमा के बिना नहीं हो सकता चाहे ध्यानमयी प्रतिमा हो चाहे शब्दमयी प्रतिमा हो, हैं सब हमारे ही मन और वचन का विकार और उस निराकार निर्विकार के महत्व का अभ्यास मात्र। पर क्या कीजिए ईश्वर को मानकर चुपचाप बैठे रहें अथवा मन में किसी भाँति विचार आने ही न दें तौ भी नहीं बनता। इसी से आस्तिक मात्र को उसकी प्रतिमा बनानी पड़ती है।

जहाँ हमने मन अथवा बचन से कहा—'हे प्रभु हम पर दया करो', वहीं हम उस निराकार की छाती के भीतर मन की कल्पना कर चुके। क्योंकि मन न होगा तो दया ठहरेगी कहाँ, और शरीर न होगा तो मन रहेगा कहाँ ? जिस समय हम कहते हैं कि 'हे नाथ ! हमारी रक्षा करो, हम तुम्हें प्रणाम करते हैं' उस समय उस अप्रतिम के अस्तित्व में हाथ और पाँव की कल्पना करते हैं क्योंकि रक्षा हाथों से की जाती है और प्रणाम चरणों पंर किया जाता है।

कारण के बिना कार्य का मान लेना तर्कशास्त्र के विरुद्ध है, फिर कौन निराकारवादी ईश्वर के मनःकल्पित हस्तपदादि रचना से बच गया ? पाषाण धात्वादि निर्मित मूर्ति के पूजने वालों में और इनमें केवल इतना ही अंतर है कि इनके यहाँ की ईश्वर प्रतिमा केवल मन के भाव से गढ़ी जाती है और उनके यहाँ की रजत कांचनादि से, तथा वह मन और वचन से ईश्वर के हाथ पाँव इत्यादि स्वीकार करते हुए भी देख नहीं सकते तथा सर्वसाधारण के आगे कहते हैं कि हमारा ईश्वर निरवयव है और वह जैसा मानते हैं वैसा सबके सामने कह भी देते हैं कि भाई, हमारा ईश्वर लँगड़ा लूला अंधा बहिरा नहीं है, उसके कर पद नयनादि कमल के समान कोमल और सुंदर हैं।

फिर मूर्तिपूजक लोग ईश्वर को कौन सी गाली देते हैं कि उनका आक्षेप किया जाय ? विचार के देखिए तो दूसरे पूजकों के देखे इनमें इतनी विशेषता है कि अन्य लोग केवल उसकी महिमा तथा अपने स्वार्थ साधनादि की प्रार्थना का केवल जबानी जमा खर्च रखते हैं। किंतु यह मन और वचन के अतिरिक्त चंदन पुष्पादि के द्वारा तन और राग भोगादि के द्वारा धन से भी उसकी सेवा करते हैं, अपने शयन भोजनादि में भी उसका स्वामित्व बनाए रहते हैं, बरंच उसकी प्रसन्नता के लिए तीर्थ व्रतादि में नाना कष्ट सहते हैं, काम पड़े तो उसके लिए प्राण तक उत्सर्ग कर देने को प्रस्तुत रहते हैं।

इनके प्रेम की सच्चाई में औरंगजेब के समय मसीह नामक फारसी कवि ने शाक्षी की भाँति कहा था कि अन्य धर्मियों में बहुत थोड़े लोग हैं, बरंच नहीं हैं, जो ईश्वर के नाम पर धन भी लुटा देते हों किंतु मूर्तिपूजकों का साहस सराहने योग्य है जो उसकी प्रतिमा पर शिर तक निछावर कर देते हैं।[1] एक

2. बनामे हक कसे कम जर फिशानद।
खुशा हिम्मत कि बरबुत सर फिशानद॥

ऐसे आर्यद्वेषी यवन सम्राट को यहाँ वाले विदेशी विद्वान की लेखनी से ऐसा बचन निकालना क्या इस बात की पक्की शाक्षी नहीं है कि प्रतिमापूजक ईश्वर के साथ बहुत बड़ा प्रेम संबंध रखते हैं ? इन्हीं के समुदाय में ऐसे ज्ञानियों और प्रेमियों की संख्या अधिक निकलेगी जो संसार के यावत् सजीव निर्जीव पदार्थों को ईश्वर ही की मूर्ति समझते हैं । "मैं सेवक सचराचर रूपरासि भगवन्त"—इसका अभिप्राय कुतर्की लोग न समझें तो कोई हानि नहीं है पर समझने वाले समझ सकते हैं कि जितनी मूर्तियाँ हैं वे सब ईश्वर से व्याप्त हैं और ईश्वर ही सबका एकमात्र स्वामी है ।

इन दोनों रीतियों से उन्हें ईश्वर की मूर्ति के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ? और जिस ईश्वर को हम अपना प्रेम पात्र समझते हैं उसके निवासस्थान वा अधिकृत पदार्थ तथा स्मारक चिह्नों की पूजा किए बिना क्योंकर रह सकते हैं ? इसके लिए बड़े 2 प्रमाण ढूँढ़ना भी मानो उसके सच्चे प्रेम से जी चुराना है । मजनू ने एक बार लैला के पालित कुत्ते को अपना बहुमूल्य दुशाला उढ़ा दिया था और बड़े आदर से आलिंगन किया था । इस कथानक पर केवल वही लोग हँसें तो हँसा करें जिनको मतवाद अधिक प्रिय है किंतु जिन्हें ईश्वर प्यारा है वे ऐसी कथाओं को बड़े आदर से सुनेंगे और मनावेंगे कि भगवान हमें भी ऐसा करे । पर जब तक हम ऐसे अधिकारी नहीं हुए तब तक यदि उन मूर्तियों का आदर करें जिनके देखने से हमें ईश्वर के रूप गुण स्वाभावादि स्मरण होता है, तो क्या बुरा करते हैं ?

इस पर यदि हमारे विपक्षी साहेब कहें कि—'ऐसा है तो फिर जूता``हाड़ इत्यादि को क्यों नहीं पूजते' ? तो हमारा यह उत्तर कहीं नहीं गया कि पूजा का अर्थ है सत्कार, और सत्कार उसका किया जाता है जिसे देख सुन के चित्त में प्रेम और प्रसन्नता आवै । अतः जिन्हें उक्त पदार्थों से प्रीति हो वे शौक से उन्हें पूजें पर हम तो अभी इस दर्जे को नहीं पहुँचे, हमें तो नीच प्रकृति के मनुष्यों तक से अश्रद्धा है, अस्मात् पाषाणादि मूर्तियों को पूजनीय मानेंगे, जो न कभी किसी से छल कपट करती हैं न कुछ माँगती हैं न कटु वाक्य निकालती हैं । बरंच सम्मुखस्था होते ही हमारे प्यारे मुरली मुकुट धनुर्वाण खड्गाकुंस त्रिशूलादिधारी हृदयविहारी का स्मरण कराती हैं जिसके साथ ही हमें वीरता निर्भयता रसिकता आदि की शिक्षा प्राप्त होती है और चंदन कपूरादि की सुगंध से घ्राणेंद्रिय तथा मस्तिष्क आमोदित हो जाता है, पंचामृत प्रसादादि से मुख मीठा होता है, नाना भाँति के गीत बाद्यादि से श्रवण पवित्र एवं प्रमुदित होते हैं, शृङ्गार की छटा तथा एक 2 अंग की शोभा से नेत्र कृतार्थ होते हैं, फिर ऐसी तत्क्षण फलदायिनी प्रतिमाओं को हम क्यों न ईश्वर की प्रतिमा मानें जिनके कारण इस गिरी दशा में भी हमारे सैकड़ों नगरों की शोभा और सहस्रों देशभाइयों का उपकार होता है ।

यदि नए मतवालों को ईश्वर इनके पूजन को अपना पूजन समझे तो हम समझते हैं वह उन लघुवयस्का निरक्षरा सुंदरियों से भी नासमझ है जिन्हें हम दूसरों पर ढालकर अपने मन का स्नेह समझा देते हैं और वे संकेत मात्र से सब बातें समझ जाती हैं । बरंच इतर लोगों की लज्जा से बोलने का अवसर न होने पर भी हमें संतोषदायक उत्तर दे देती हैं । पर ईश्वर महाराज इतना भी नहीं समझ सकते कि यह प्रतिमा को पूजता है अथवा हमको ? यदि ऐसा है तो हम ऐसे समझ के शत्रु को मानना कैसा ईश्वर ही कहना नहीं चाहते । हमारा ईश्वर तो बिना कहे भी हमारे हृदयगत भाव जान लेता है । तिस पर भी जब हम यह न कह के कि—'हे पाषाण, हमारी पूजा ग्रहण करो', यों कहते हैं कि—'हे परमेश्वर हमारी सेवा स्वीकार करो', तो ईश्वर क्योंकर हमें बुतपरस्त समझेगा ? जब कि हमारी मूर्तियाँ ही ऐसी सुडौल सिर से पैर तक ईश्वरीय भावपूर्ण होती हैं तो हम क्यों न अपने ईश्वर को उन्हीं के द्वारा रिझावें ?

इस पर जो लोग हमें हँसते हैं उन्हें पहिले अपने यहाँ की मूर्तियों को देख के लज्जित होना चाहिए जिनका वर्णन उनके मान्य ग्रंथों में ऐसा अधूरा किया गया है कि एक तो सब अंगों का बोध भी नहीं होता, केवल हाथ पाँव नेत्रादि दो चार अवयव बर्णित हैं, सो भी ऐसे अनगढ़ कि किसी पंच (हास्यजनक समाचार-पत्र) में दे दिए जायँ तो पाठकों को हँसाते 2 लुटा दें। यहाँ हम बाइबिल और कुरान में लिखे ईश्वर के अंगों का वर्णन नहीं करते, क्योंकि एक तो उनमें केवल दो एक अंगों को छोड़ के औरों का नाम भी नहीं है। दूसरे जहाँ पर लिखा है कि ईश्वर ने आदम को अपने स्वरूप में बनाया वहाँ यदि "अपने" शब्द का अर्थ आदमी की ओर न लगा के ईश्वर की ही ओर लगाएँ तो भी कोई हानि नहीं है क्योंकि आदम की सूरत सिर से पैर तक किसी भाँति अपूर्ण व अनमेल न थी। तीसरे हमारे मुहम्मदीय और मसीही भाई इन दिनों इस विषय में हमसे छेड़ के विवाद नहीं लेते अतः हमें तो उनसे झगड़ना अनुचित है। पर हमारे दयानंदी हिंदू भाई इस बात का बाना बाँधे फिरते हैं।

इससे हमें उनके यहाँ की मूर्तियाँ देखनी हैं। यदि च वे अपने स्वामीजी के चित्र का अनादर नहीं सह सकते जिसका मूल्य छः पैसे और अधिक से अधिक दो रुपया है, तथा सुंदरता भी ऐसी नहीं है जैसी हमारे रामकृष्णादि की तसवीरों में होती है, स्मरण भी उसके द्वारा केवल एक काठियावारी विद्वान् मात्र का होता है, और बस, किंतु हमारी स्वर्ण रजत हीरकादि की देव प्रतिमा पोप लीला है, उनका अनादर कोई बात नहीं, पर स्वामी जी का फोटो बड़े खूबसूरत चौकठे में बड़ी इज्जत के साथ रखना चाहिए। यों ही जहाँ वेदों में अक्षरार्थ के द्वारा कोई शंका उठावें तो छुटते ही यह उत्तर होगा कि उस रिचा का गूढ़ार्थ और है अथवा अलंकारिक बर्णन है किंतु पुराणों में जहाँ सहज में समझने योग्य विषय न हों वहाँ गूढ़ार्थ वा अलंकारिक अर्थ कुछ नहीं है, केवल गप्पम्बर्तते। और इस पर तुर्रा यह है कि किसी ऐसी ही समझ पर देशहित और ऐक्य प्रचार का भी दावा है।

हम पूछते हैं कि हठ का अवलंबन न करके कभी कोई भी देश वा जाति में एका फैला सका है कि आप ही अनोखे बन के आए हैं ? हमें श्री स्वामी दयानंद सरस्वती की प्रतिकृति अथवा वेद भगवान से बैर नहीं है पर साथ ही यह भी जिद नहीं है कि इनके सिवा और सब बुद्धिविरुद्ध हैं। नहीं, अपने पूर्वपुरुषों के साधारण चिह्न का भी हमें ममत्व स्वभावतः होना चाहिए यदि हम उनके संतान हैं। फिर प्रतिमा और पुराण तो उनके वर्षों के परिश्रिम के फल हैं, उनका उपहास करके हम जगत एवं जगदीश्वर को क्या मुँह दिखावैंगे ? और यों तो कुतर्क के लिए सभी राहें खुली हैं। प्रतिमा और पुराण का क्या कहना है, ईश्वर और वेद पर भी आक्षेप हो सकता है। और केवल मुँह के आस्तिकों को उसका उत्तर सूझना कठिन पड़ेगा। न मानिए तो सुन लीजिए, पर उन्हीं कानों से जिनसे आप हमें पुराणों की गड़बड़ाध्यायी सुनाया चाहते हैं। शब्दार्थ और अक्षरार्थ से अलग कोई बात कहिएगा तो हम पुराणों के मंडन में धर धमकेंगे।

यह भी स्मरण रखिए कि अलंकार का नाम न लीजिएगा नहीं तो स्वामी जी के भाष्य में केवल चार ही पाँच मिलेंगे, जिनके द्वारा वेद भगवान की सीधी सादी लेख प्रणाली में बनावट झलकने लगेगी। किंतु हम एक सौ आठ नाम और लक्षण ले बैठेंगे जिनका वेदों में पता भी न लगेगा किंतु पुराणों में अध्याय के अध्याय मिलेंगे। और उस दशा में आप तर्कशास्त्र का अवलंबन करके न बच सकिएगा, केवल काव्यशास्त्र का आश्रय लेना पड़ेगा, जो आपके यहाँ यदि हैं भी तो नहीं के बराबर। पर इन बातों में हमें क्या, बिना जाने हुए विषय में जो कूदेगा वह आप हास्यास्पद होगा। अतः हम अपने प्रस्ताव

में क्यों विलंब करें ।

हम पर यह दोष लगाया जाता है कि सर्वव्यापी असीम परमात्मा को बित्ता दो बित्ता की मूर्ति ठहराते हैं । पर वेदों में जहाँ विराट स्वरूप का वर्णन है वहाँ भूमि उसके चरण और सूर्य उसके नेत्र माने गए हैं । असीमता इसमें भी नष्ट हो जाती है क्योंकि पृथ्वी और सूर्य के बीच की दूरी स्कूल के बालक तक जानते हैं, वुह असीमता के आगे कुछ भी नहीं है । और सुनिए, नेत्र तो हुए सूर्य पर नेत्र के ऊपर वाले अंगों (मस्तक, कपाल आदि) का नाम ही नदारद ।

यदि खगोल विद्या के अनुसार मान लें कि नेत्र के ऊपर वाले अंगों के स्थानापन्न वह ग्रह नक्षत्रादि हैं जो सूर्य के ऊपर हैं तो बड़ा ही मजा हो । सूर्य के ऊपर हैं शनिश्चर, वह ईश्वर की खोपड़ी में जा बैठेंगे ! कौन जाने इसी से उनका रंग काला वर्णन किया गया हो और इसी से मतवादियों के ईश्वर की अक्किल डावाँडोल रहती हो ! इसके सिवा 'यस्यभूमिः प्रभांतरिक्षमुतोदरम्' तथा 'यस्य सूर्यश्चक्षुः' इत्यादि रिचाओं से भूगोल विद्या के अनुसार और भी बड़े तमाशे की बात निकलती है । अर्थात् सूर्य धरती से लाखोंगुणा बड़ा है सो तो हुवा नेत्र और धरती हुई चरण जिसका वृत्त केवल पचीस सहस्र मील के लगभग है ।

इस लेखे से ईश्वर का स्वरूप 'राई भरे के बिटिया भाँटा की बराबर आँख' का उदाहरण बना जाता है । इसके साथ ही जब यह लिखा देखिएगा कि एक आँख सूर्य है दूसरी चंद्रमा, जो पृथिवी से भी कहीं छोटा है, तो हँसी रोकना मुश्किल पड़ेगा । वाह ! एक आँख गज भर की, दूसरी आलपीन की नोंक भर की भी नहीं ! चरणारविंद ऐसे विचित्र कि एक आँख की अपेक्षा लाखोंगुना छोटे और दूसरी आँख से बड़े । जिस पर भी तुर्रा यह कि आँखें भी गोल और पाँव भी गोल । भला ऐसी विचित्र मूर्ति को कौन न कहेगा कि पंच की तसवीर है । आँख की छुटाई बड़ाई का दोष 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' वाले मंत्र में निकाल डाला गया है । पर वह दोष निकल जाने पर भी ईश्वर को मंगलमय कहते ही डरेगा क्योंकि जब सहस्र शिर हुए तो आँखें दो सहस्र चाहिए, पर यहाँ वे भी सहस्र ही हैं अतः मंगल स्वरूप के बदले शुक्र स्वरूप हुए जाते हैं, जो 'नमस्ते'[1] ही भाइयों के मध्य राज्य करने के काम के हैं न कि भक्तों के समुदाय में ।

इस प्रकार के कुतर्क वेदों में बहुत जगह निकल सकते हैं जिनकी अपेक्षा ईश्वर का न मानना ही भला है । पर आस्तिकों को उसके माने बिना शांति नहीं होती । इसी से पुराणों में जहाँ कहीं भी उसके स्वरूप की कल्पना की गई है वहाँ तदनुरूप यथातथ्य रीति से की गई है पर जिन्हें हार जीत का व्यसन है उन्हें पराए दोष ही ढूँढ़ने में संतोष होता है । पर हमारी दृष्टि में दूसरों को कुछ कहना अपने ही ऊपर दोष लगवाना है । इससे ईश्वर के विषय में केवल ऐसे वाक्य का अनुसरण करना श्रेयस्कर है कि 'अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे ।' इसके अनुसार चौराहे की ईंट, मट्टी का ढेला और मोती की प्रतिमा सब ईश्वर ही की मूर्ति हैं और उन्हें जो जिस भाव से सच्चे मन के साथ पूजेगा वही अपने मनोरथ को प्राप्त करेगा । क्योंकि ईश्वर किसी रीति विशेष के हाथ बिक नहीं गया न भक्तों की मनसा के अनुकूल रूप धारण में अक्षम है । उसमें किसी शक्ति का अभाव नहीं है । पर हममें भक्ति होनी चाहिए और यों मौखिक वाद के आगे ईश्वर ही कुछ नहीं है उसकी मूर्ति तो कहाँ से आवेगी ।

जब आप हमारी मूर्तियों को वैदिक प्रमाणों से पाषाण बनावैंगे तब हम भी कह देंगे कि आप प्रेममय

2 न = नहीं है; मस्ते = मस्तक पर (आँखें) जिसके !

परमात्मा को तो मानते ही नहीं, न उसका प्रेमानंद लाभ करने में यत्नवान होते हैं, केवल शास्त्रार्थ नाधने के लिए 'परमेश्वर' नामक शब्द ठहरा रक्खा है जो परमेश्वर अक्षरों का विकार मात्र है, तथा जिसके विषय में श्री मार्कण्डेय पुराण में लिखा है कि 'देवि दैत्येश्वरः शुंभस्त्रैलोक्ये परमेश्वरः' पर भइया, हम तो उसकी संहारिणी आदिशक्ति को मानेंगे, आपके लिए आपकी इच्छा रही ।

यदि इस उत्तर से आपको क्रोध आवे तो अपने निराकार निर्विकार से हमें दंड दिलवाइए और हम अपने साकार दृश्यमान भगवत्स्वरूप से सहायता लेकर उन्हीं के द्वारा कपालभंजन करके तत्क्षण अपने ईश्वर की महिमा दिखा देंगे । पर यह बातें तो उस समय के लिए हैं जब झगड़ा खड़ा हो । नहीं तो कल्याण केवल इसमें है कि धर्म के विषय में न आप हमसे बोलें न हम आपसे । क्योंकि वह हमारा आपका ईश्वर के साथ निज संबंध है और दो जनों के निज संबंध में अनधिकार हस्तक्षेप करना नीचता है । इससे ईश्वर को चाहे जैसे आप मानिए चाहे जैसे हम मानें पर अन्य सब विषयों में हम आपको और आप हमको सतचित से सहोदर मान के साथ दीजिए ।

उस दशा में यह भी संभव है कि आपका रंग हमें लगाया जाय अथवा हमारा रंग आपको लग जाय और इस रीति से मत की भी एकता हो जाय, वा न हो तो भी परस्पर का स्नेह सुभीता तो बना ही रहेगा, जो ईश्वर का प्रत्यक्ष स्वरूप है, जिसके द्वारा हम ईश्वर प्राप्ति विषयक भी अनेक विघ्नों से बच सकते हैं और प्रेमानुभाव का अभ्यास करते 2 स्वयं ईश्वर की मूर्ति को देख सकते हैं ।

खं० 8, सं० 11 (जून, ह० सं० 8)

पुराण समझने को समझ चाहिए

इस शताब्दी के लोगों की समझ में यह बड़ा भारी रोग लग गया है कि जिन विषयों का उन्हें तनिक भी ज्ञान नहीं है उनमें भी स्वतंत्रता और निर्लज्जतापूर्वक राय देने में संकोच नहीं करते । विशेषतः जिन्होंने थोड़ी बहुत अँगरेजी पढ़ी है अथवा पढ़ने वालों के साथ हेलमेल रखते हैं वा किसी नए मत की सभा में आते जाते रहते हैं उनमें यह धृष्टता का रोग इतना बढ़ा हुवा दिखाई देता है कि जहाँ किसी अपनी सी तबीयत वाले की शह पाई वहीं जो बात नहीं जानते उसमें भी चायँ 2 मचाना आरंभ कर देते हैं । बरंच भली प्रकार जानने वालों से भी विरुद्ध वाद ठानने में आगा पीछा नहीं करते, यह हमने माना कि पढ़ने से और पढ़े लिखों की संगति से मनुष्य की बुद्धि तीव्र होती है किंतु इसके साथ यह नियम नहीं है कि एक भाषा वा एक विद्या सीखने से सभी भाषाओं और विद्याओं का पूर्ण बोध हो जाता हो ।

देखने से इसके विरुद्ध यहाँ तक देख पड़ता है कि एक ही विषय का यदि एक अंग आता हो तो दूसरा अंग सीखे बिना नहीं आता । साहित्य में जो लोग गद्य बहुत अच्छा बोलते हैं उन्हें भी पद्य रचना सीखनी पड़ती है और जिन्हें छंदोनिर्माण में बहुत अच्छा अभ्यास होता है वे भी गद्य लिखना चाहें

तो बिना परिश्रम नहीं लिख सकते । दृश्यकाव्य के सुलेखक श्रव्यकाव्य में और श्रव्यकाव्य के सुलेखक दृश्यकाव्य में सहसा प्रवेश कभी नहीं करते यद्यपि सब साहित्य के ही अंग हैं । फिर हम नहीं जानते हमारे नौसिखिया बाबू लोग क्यों बिन जानी बातों में टँगड़ी अड़ा के हास्यास्पद बनने में धावमान रहा करते हैं ।

उनके इस साहस का फल सिवा इसके और क्या हो सकता है कि जिस विषय में वे ऐसी बैलच्छि करते हैं उसके तत्ववेत्ता लोग उन्हें हँसैं थूकैं वा अपने जी में कुढ़ के रह जायँ और इतर जन धोखा खा के सूच झूठ का निर्णय न कर सकें । विचार कर देखिए तो यह भी देश का बड़ा भारी दुर्भाग्य है कि पढ़े लिखे लोग ऐसा अनर्थ कर रहे हैं जिससे आगे होने वाली पीढ़ी के पक्ष में भ्रमग्रस्त होकर बड़े भारी अनिष्ट की संभावना है । सर्कार ने हमें स्वतंत्रता क्या इसलिए दी है कि हम ढिठाई सहित अपनी मूर्खता का पक्ष करके देशभाइयों की बुद्धि को भ्रष्ट करें ? हमारे संस्कृत एवं भाषा के प्रसिद्ध विद्वानों को उचित है कि इस प्रकार के निरंकुश लोगों को रोकने का यत्न करें जिसका उपाय हमारी समझ में यह उत्तम होगा कि इस प्रकार के अनगढ़ स्वतंत्राचारियों को अपने 2 नगरों में किसी प्रतिष्ठित सज्जन वा राजपुरुष की सहायता लेकर और सर्वसाधारण को समुझा कर लेक्चर न देने दिया करें और ऐसों के पत्र पुस्तकादि का प्रचार रोकने के लिए अपने हेती व्यवहारियों को समय 2 पर समझाते रहा करें ।

यदि संभव हो तो जाति के मुखियों को इन्हें जातीय दंड देने में भी उत्तेजित करते रहैं नहीं तो यह मनमुखी लोग धर्म और देशभक्ति की आड़ में भारत को गारत करने में कसर न करेंगे । इन्हें हम यह तो नहीं कह सकते कि देश और जाति के आंतरिक बैर रखते हैं पर इतना अवश्य कहेंगे कि कोई सामाजिक भय न देखकर स्वतंत्रचित्तता की उमंग में आकर, नामवरी आदि के लालच से, बिना समझे बूझे केवल अपनी थोड़ी सी बुद्धि और विद्या का सहारा ले के हमारे पूर्वजों की उत्तमोत्तम रीति, नीति, विद्या, सभ्यतादि को दूषित ठहरा के सर्वसाधारण के मन में भ्रमोत्पादन करते रहते हैं । अतः यह निरक्षर स्त्रियों और अपठित ग्रामवासियों से भी अधिक मूर्ख हैं क्योंकि हमारी स्त्रियाँ और गँवार भाई और कुछ समझें वा न समझें पर इतना अवश्य समझते हैं कि हमारे पुरखे मूर्ख न थे ।

हमारी समझ उनकी बातें आवैं वा न आवैं किंतु हमारा भला उन्हीं की चाल चलने में हैं । इस पवित्र समझ की बदौलत यदि अधिक नहीं तो इतना देश का हिंत अवश्य हो रहा है कि ग्रामों में और घरों के भीतर हमारी सनातनी मर्यादा आज भी बहुत कुछ बनी हुई है । किंतु बाबू साहबों को सभाओं, लेक्चरों, पुस्तकों और पत्रों में जहाँ ईश्वर, धर्म और देश हितैषितादि ही के गीत बहुतायत से गाए जाते हैं वहाँ भी आर्यत्व की सूरत कोट ही बूट पहिने हुए देख पड़ती है । फिर क्यों न कहिए कि इन देशोद्धारकों को पूर्ण प्रयत्न के साथ रोकना चाहिए जो पढ़ लिखकर भी इतना नहीं समझते कि सहस्त्रों रिषियों की, सहस्त्रों वर्ष के परिश्रमोपरांत स्थित की हुई, पुस्तकें तथा मर्यादा, जिन्हें सहस्त्रों विद्वान् मानते चले आए हैं, वह केवल थोड़े विदेशियों तथा विदेशीय ढर्रे पर चलने वाले स्वदेशियों की समझ में न आने से क्योंकर दूषणीय और त्याज्य हो सकती है ।

जब हम देखते हैं कि दूसरे देश वाले कैसे ही क्यों न हो जायँ किंतु अपनी भाषा, भोजन, भेष, भाव, भ्रातृत्व को हानि और कष्ट सहने पर भी नहीं छोड़ते और हमारे नई खेप के हिंदुस्तानी साहब इनकी जड़ काटने ही में अपनी प्रतिष्ठा और देश की भलाई समझते हैं, तब यही कहना पड़ता है कि यदि यह लोग रोके न जायँगे तो एक दिन बड़ा ही अनर्थ करेंगे, जातित्व का नाश कर देंगे और देश का

सत्यानाश । क्योंकि हमारे देश की राजनैतिक, सामाजिक, शारीरिक, लौकिक, पारलौकिक भलाई का मूल हमारा धर्म है और धर्म के परमाश्रय वेद शास्त्र पुराण इतिहास तथा काव्य हैं । किंतु बाबू साहबों की छुरी इन्हीं वेदादि पर अधिक तेज रहा करती है और मंडन खंडन में चाहे कुछ संकोच भी आ जाय किंतु धर्मदेव की निंदा स्तुति में तनिक भी नहीं हिचकते । इनसे तो मौलवी साहब के विद्यार्थियों को हम अच्छा कहेंगे । बड़े भाई, पिता, गुरु आदि मान्य पुरुषों का दोष सिद्ध हो जाने पर भी उनके लिए अप्रतिष्ठा का शब्द मुँह से कभी नहीं निकालते बरंच ऐसे अवसर पर 'खताए बुजुर्गा गिरफ्तन् खतास्त' वाले वाक्य से सभ्यता का संरक्षण करते रहते हैं । किंतु हमारे सुसभ्य सुपठित महाशय वा दादों के बाप दादों की बड़ी 2 और बड़े 2 भावों से भरी हुई पुस्तकों को तुच्छ कह जरा भी नहीं शर्माते । परमेश्वर यदि नितांत दयालु हों तो उन जिह्वाओं और हाथों को भस्म कर दें जिनके द्वारा सभाओं में बका और कागजों पर लिखा जाता है कि वेद जंगलियों के गीत हैं, पुराण पोपों के जाल हैं, इतिहास का कोई ठिकाना ही नहीं है, काव्य में निरी झूठ और असभ्यता ही होती है इत्यादि ।

यदि हमारा सा सिद्धांत रखने वाले सहस्र दो सहस्र लोग भी होते तो ऐसों की बात 2 का दंतत्रोटक उत्तर प्रतिदिन देते रहते । पर यतः अभी ऐसा नहीं है इससे जो थोड़े से सनातन धर्म के प्रेमी हैं उनसे हमारा निवेदन है कि यथासंभव ऐसों का साहस भंग करने में कभी उपेक्षा न किया करें । जिस विषय को भली भाँति जानते हों उसकी उत्तमता सर्वसाधारण पर विदित करते रहना और उससे विरोधियों का मान मर्दन करते रहना अपने मुख्य कर्तव्यों में से समझें । तभी कल्याण होगा नहीं तो जमाने की हवा बिगड़ ही रही है, इसके द्वारा महा भयंकर रोगों की उत्पत्ति क्या आश्चर्य है । इतना भार हम अपने ऊपर लिए रखते हैं कि पुराणों की श्रेष्ठता समय 2 पर दिखाते रहेंगे और यदि भलमंसी के साथ कोई शंका करेगा तो उसका समाधान भी संतोषदायक रूप से करते रहेंगे । हमारे सहकारी हमारा हाथ बँटाने में प्रस्तुत हों और विरुद्धाचारी इस अखंडनीय वाक्य को सुन रक्खें कि पुराण अत्युच्च श्रेणी के साहित्य का भंडार है और भारतवासियों के पक्ष में लोक परलोक के वास्तविक कल्याण का आधार हैं । उनके समझने को समझ चाहिए । सो भी ऐसी कि भारतीय सुकवियों की लेख प्रणाली और भारतीय धर्म्म कर्म, रीति नीति, आचार व्यवहार के तत्व को समझ सकती हो तथा इस बात पर दृढ़ विश्वास रखती हो कि हमारे पूर्वपुरुष त्रिकाल एवं त्रिलोक के विद्वानों बुद्धिमानों के आदि गुरु और शिरोमणि थे ।

उनकी स्थापना की हुई प्रत्येक बात सदा सब प्रकार से सर्वोत्तम और अचल है । उनकी प्रतिष्ठा सच्चे मन और निष्कपट बचन से यों तो जो न करेगा वही अपनी बुद्धि की तुच्छता का परिचय देगा किंतु आर्य कहलाकर जो ऐसा न करे वह निस्संदेह उनसे उत्पन्न नहीं है, नहीं तो ऐसा किस देश का कौन सा श्रेष्ठ वंशज है जो बाप की इज्जत न करता हो और बाप से अधिक प्रतिष्ठित बाबा को न समझता हो तथा यों ही उत्तरोत्तर पुरुषों की अधिकाधिक महिमा न करता हो । इस नियम के अनुसार पुराणकर्ता हमारे सैकड़ों सहस्रों पुरखों के पुरखा होते हैं । उनकी वेअदबी करना कहाँ की सुवंशजता है ?

बस इतनी समझ होगी तो पुराणों की महिमा आप से आप समझ जाइएगा । यदि कुछ कसर रहेगी तो हमारे भविष्यत लेखों से जाती रहेगी नहीं तो संस्कृत पढ़े बिना अथवा पढ़ के भी साहित्य समझने योग्य समझ के बिना जब पुराणों के खंडन का मानस कीजिएगा तभी अपनी प्रतिष्ठा खंडित कर बैठिएगा, किमधिकं ।

खं० 8, सं० 12 (जुलाई, ह० सं० 8)

सर्वसंग्रह कर्तव्यं कः काले फलदायकः

संसार में यदि सुख और सुविधा के साथ निर्वाह करने की इच्छा हो तो इस वाक्य का पूर्ण रूप से अनुसरण करै और विश्वास कर रक्खे कि वेद में जितना गौरव गायत्री का है उतना ही लोकाचार में इस महामंत्र का है । जो लोग कर्तव्याकर्तव्य के झगड़े में रहकर इधर ध्यान नहीं देते वे अपने मन में चाहे जैसे बने बैठे रहें पर अतिरिक्त कुछ भी लाभ नहीं कर सकते । किंतु इस वचन के मानने वाले सौ विश्वा तो अकृतकार्य होते ही नहीं हैं और यदि दैवयोग से कभी यथेच्छित सफलता न भी हुई तो "यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः" का विचार करके मन को अवश्य समझा सकते हैं । इससे बुद्धिमान को चाहिए कि किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा कार्य को तुच्छ, त्याज्य व निंद्य न समझकर यह समझ ले कि सबका स्वामी जगदीश्वर है और वह सब मतों के अनुसार सर्वशक्तिमान है ।

यदि वह सचमुच किसी समुदाय को बुरा समझता होता तो एक क्षण में उसे नास्ति नामूत की दशा को पहुँचा देता । पर कभी कहीं ऐसा देखने सुनने में नहीं आया इससे निश्चय होता है कि उसकी इच्छा ही है कि जगत का पचड़ा यों ही चले । फिर भला यदि हम किसी वस्तु को वस्तुतः बुरा समझ के छोड़ दें तो उसकी इच्छा का विरोध ही करते हैं कि और कुछ ? और ऐसा करने वाले दुःख के भागी न होंगे तो क्या होंगे ? यदि ईश्वर का अस्तित्व आपकी समझ में न आता हो तौ भी यह समझने में कोई आपत्ति नहीं है कि दुनिया में कुछ भी ऐसा नहीं है जिससे कुछ न कुछ काम न निकले और जिससे कुछ काम निकलता हो उसे काम में न लाकर बेकाम समझ बैठना निरी नासमझी है । इस रीति से आस्तिक और नास्तिक दोनों मतों से यही सिद्ध होता है कि 'सर्वसंग्रहकर्तव्यं' ।

यदि आँखें खोल के देखिए तो वास्तव में बुरा कुछ भी नहीं है और कोई भी नहीं है । संखिया को लोग सबसे बुरा विष समझते हैं पर कई एक भयंकर रोगों के पक्ष में वही अमृत का काम देती है । झूठ बोलना, छल करना बड़ा पाप समझा जाता है पर अनेक स्थल पर जीवन, धन और प्रतिष्ठादि की रक्षा उसी से होती है जिनके बिना सुकर्म और सुगति का होना असंभव है । आप कहिएगा जुवारी बहुत बुरा होता है । हम कहेंगे निर्लोभ तौ भी होता है । लाख रुपए दे दीजिए तौ भी एक ही दाँव पर धर देगा और सब हार जाने पर भी दूसरों की तरह हाव 2 न करेगा ।

आप आज्ञा कीजिएगा, नशेबाज अच्छा नहीं होता । हम निवेदन करेंगे, निर्द्वंद वह भी होता है अपनी धुन में हाथी के सवार को भुनगा ही सा समझता है । आप समझते होंगे कामी बड़ा बुरा होता है पर हमारी समझ में निर्बलता के कारण सहनशील वह भी होता है । यों ही क्रोधी किसी की प्रवंचना नहीं करता, लोभी मरने के पीछे दूसरों के लिये अच्छी खासी जमा छोड़ जाता है, मोही अपनायत वालों का सच्चे जी से शुभचिंतक होता है, निंदक दोष त्यागने के लिए उत्तेजना देता है । फिर कोई कैसे कह सकता है कि अमुक कार्य व पदार्थ वा पुरुष नितांत बुरा ही है । और यों तो हम अच्छे से अच्छों को बुरा बना सकते हैं ! घी दूध इत्यादि को सभी जानते हैं कि अमृत है किंतु बहुत सा खा जाइए तो उसी दिन अनपच का कोई रूप शिर पर आ चढ़ेगा जो समस्त रोगों का मूल है । भगवद्भजन और देशभक्ति इत्यादि अत्युत्तम काम है । इसके लिये प्रमाण की आवयकता नहीं है । पर और सब छोड़कर इन्हीं में लग रहिए तो देख लीजिएगा कि दुनिया के किसी अर्थ का न रक्खेंगे ।

बड़े 2 ऋषि मुनि देवतादि तक जब हमारे आचरण से असंतुष्ट होंगे तो बीसों बिश्वा अनिष्ट कर डालेंगे। ऐसे 2 अनेक उदाहरण हैं जिनसे भली भाँति विदित होता है कि भला और बुरा कुछ भी नहीं है, केवल हमारी विज्ञता और अज्ञता से बुराई का परिणाम भला और भलाई का बुरा हो जाता है। यदि हम नियम के साथ देश काल पात्रादि का विचार करके प्रत्येक काम किया करें तो हत्या तक यज्ञ का अंग होकर अनेकों की रक्षा का हेतु और हमारी सुकीर्ति अथच सुगति का कारण हो सकती है और बिना बिचारे नियमविरुद्ध करने से यज्ञ भी संसार के अनिष्ट तथा कर्ता के सर्वनाश की जड़ हो जाती है।

इसी से बुद्धिमान को उचित है कि यह न सोचे कि अमुक बात, काम अथवा पुरुष बुरा है। इससे उससे सदा दूर रहना चाहिए। नहीं, सब कुछ सीखना, सभी कुछ संचय करना और काम आ पड़ने पर किसी प्रकार कुछ भी करने में मंद न रहकर इष्टसाधन में पूर्ण दक्षता का परिचय देना ही परम कर्तव्य है और इसके विरुद्ध चलना मानो अपने हाथ से अपने पाँव में कुल्हाड़ी मार लेना है! हमारा शास्त्र हमें आज्ञा देता है कि "बिषादप्यमृतंग्राह्यम्" पर इसका पालन हम तभी कर सकते हैं जब उस विष के रूप, गुणादि से भली भाँति परिचय रखते हों और उसका अमृतांश निकालकर व्यवहार में ला सकते हों। यदि हम उसे विष समझ कर फेंक देंगे तो उसमें जो छिपा हुवा अमृत है वह भी हमारे हाथ से जाता रहेगा। अतः हमें चाहिए कि उसे विष न समझकर यह समझने में सयत्न रहें कि उससे क्योंकर अपना उपकार और अपने विरोधियों का अपकार हो सकता है।

पुराण और नवीन इतिहासों से प्रगट होता है कि जितने बड़े 2 लोग हो गए हैं उनमें से बहुतों की उन्नति का कारण वही काम थे जिन्हें शास्त्र और लोक समुदाय अच्छा नहीं कहता। यहाँ तक कि भगवान भी निराकार होने पर नाना रूप धारण करते हैं और सत्य स्वरूप कहलाने पर राक्षसों को धोखा देकर मार डालते हैं, त्रैलोक्यनाथ होकर भक्तों की अधीनता स्वीकार करते हैं। फिर हम तुच्छ जीवों का क्या अधिकार है कि यह हठ करें कि यही करेंगे, यह कभी न करेंगे।

यदि ऐसा करें तो हम अपनी हानि करते हैं। इससे सच झूठ, सरलता बक्रता, नम्रता कठोरता, जिससे काम निकलता देखें उसी को कर उठावैं। अमृत विष, गंगाजल मदिरा, सुदृश्य कुदृश्य जैसी वस्तु को अपने काम की देखें उसी की व्यवहत करने में संलग्न हों और भले बुरे, ऊँच नीच, चतुर मूर्ख जैसे पुरुष अथवा पशु से स्वार्थसिद्ध की आशा हो उसी का आश्रय ग्रहण करें। दुनिया भर हँसे तो हँसा करे, बिगड़े तो बिगड़ती रहे, पर हमें अपने काम से काम रखना चाहिए। जब काम बन जाएगा तब निन्दक लोग प्रशंसा और बिरोधीजन खुशामद करेंगे। अथवा न करैं तौ भी हमारा क्या लेते हैं। समझदार लोग हमें नीतिज्ञ ही कहेंगे और हम तथा हमारे लोग आनन्द से रहेंगे। और यही जन्म लेने का फल है जिसकी प्राप्ति के लिए सभी सब कुछ करते हैं। फिर हमीं अपने नीत्याचार्यों का यह कहना क्यों न मानें कि 'सर्वसंग्रहकर्तव्यं'।

हमने माना कि सर्वथा पूर्णकाम और सर्वज्ञ अकेला सर्वेश्वर है तथापि बहुसुविधा सम्पन्न एवं बहुज्ञ भी एक से एक इक्कीस विद्यमान हैं। और उनकी श्रेणी में सम्मिलित होना सभी का अभीष्ट एवं कर्तव्य है जिसके साधन का एकमात्र मूल मंत्र यही है जो आज हम वर्षारंभ के आनन्द में अपने प्रिय पाठकों को स्मरण दिलाते हैं और सम्मति देते हैं कि पाप पुन्य, निंदा स्तुति, नर्क स्वर्गादि के बखेड़े छोड़िए, केवल इस बात पर ध्यान रखिए कि "येन केन प्रकारेण स्वकार्य साधयेत् सुधीः" और यह तभी हो सकता है

जब सदा, सब ठौर, सब दशा में चित्त का झुकाव इसी ओर बना रहे कि "सर्वसंग्रह कर्तव्यं कः काले फलदायकः" ।

खं० 9, सं० 1 (अगस्त, ह० सं० 8)

प्रह्लादचरित्र

(पुराण समझने के लिए समझ चाहिए)

भगवद्भक्तशिरोमणि प्रह्लाद जी की कथा कई पुराणों में वर्णित है जिसे पढ़ अथवा सुनकर भगवान के सच्चे प्रेमियों को तो अपूर्व आनन्द आता ही है, किंतु जो हमारी भाँति सिद्धांत प्रेम ही क़ा मानते हैं पर संसार के मायाजाल को तोड़ भागने की सामर्थ्य नहीं रखते, उन्हें भी विश्वास की दृढ़ता और उत्साह की अधिकता में बड़ा भारी सहारा मिलता है । बरंच कुछ काल के लिए तो चित्त में एक प्रकार की मस्ती आ जाती है । रहे वे लोग जिन्होंने प्रेमनगर का मार्ग तो नहीं जाना किंतु अपने पिता पितामहादि के धर्म की मनोहारिणी मूर्ति को देखकर उसमें छिद्र ही ढूँढ़ने का दुर्व्यसन नहीं रखते उन्हें भी साधारणतया उक्त कथा सुनकर परलोक के सुख और लोक में धर्मनिर्वाह की आशा होती है । और यदि विशेषतया बुद्धि से काम लें तो प्रेमशास्त्र की आरंभिक शिक्षा लाभ कर सकते हैं पर जिनकी आँखें अपने यहाँ के रजतकांचन पात्रों को तुच्छ और विलायती चीनी पियालों को बड़े आदर की दृष्टि से देखती हैं अथवा जिनके गुरू जी ने यह मोहन मंत्र सिखा दिया है कि जो कुछ हम कहैं वह तो ठीक है और सब कुछ 'गप्पम्बर्तति, बुद्धिविरुद्धः', उन्हें उपर्युक्त सत्यकथा से ईश्वर में भक्ति, धर्म्म में श्रद्धा और मन में दृढ़ता तो क्यों उत्पन्न होने लगी, हाँ खीसें बाने के लिए ऐसे 2 कुतर्क अवश्य उपजते हैं कि आग से न जलना, विष से न मरना, पर्वत पर से गिर के अक्षत बना रहना इत्यादि सृष्टिक्रम के विरुद्ध है ।

ऐसे लोग यदि शपथ कर चुके हों कि हम अपनी हारिल की लकड़ी मरने पर भी न छोड़ेंगे तो हम क्या हैं ब्रह्मा जी भी उन्हें नहीं समझा सकते, बरंच हमारी समझ में ऐसों को समझाना भी व्यर्थ है । उनके साथ केवल 'बहते को बहि जाने दे, दे धक्के दुइ और' का बर्ताव करके उन्हें उन्हीं के भाग्य को सौंप देना चाहिए । किंतु यदि वे अपनी बुद्धि को हठ और पक्षपात से कलुषित न रखकर विचारशक्ति से कुछ काम लेना चाहते हों तो हमारी बातों को जी लगाकर सुन लें, वह यह हैं कि—

जो विषय अनिर्वचनीय है वह मौखिक शास्त्रार्थ के द्वारा कदापि समझे समझाए नहीं जा सकते किंतु अभ्यस्त होने पर अपना पूर्ण प्रभाव प्रत्यक्षतया दिखला देते हैं । यदि हमारे इस वाक्य के विरुद्ध आपको अपनी पंडिताई दिखाने की सामर्थ्य हो तो कृपा करके ईश्वर के समस्त रूप गुण स्वभावों को अब से लेकर सौ वर्ष तक पूरी रीति से वर्णन करके समझा दीजिए । नहीं तो हमारा यही कथन मान लेना पड़ेगा कि भक्ति भक्त और भगवान की बातें बातों का विषय नहीं है कि आपके चाँय 2 करने से खंडित हो

सकें। दूसरी बात यह है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, वह कुछ भी करने में असमर्थ नहीं है और सृष्टि के नियम यद्यपि अत्यंत दृढ़ हैं किंतु ऐसे दृढ़ कदापि नहीं हो सकते कि सर्वशक्तिमान् के द्वारा विशेष कार्यों के निमित्त समय विशेष पर भी परिवर्तित न हो सकें।

यदि हमारे इस वचन पर भी आपको शंका समाधान का शौक चर्राय तो पहिले सृष्टि के समस्त नियम बतला दीजिए फिर हम यह सिद्ध कर देंगे कि अमुकामुक नियम अमुकामुक रीति से भग्न हो सकते हैं। हमें आशा नहीं विश्वास है कि आप क्या आपके गुरुदेव भी सारे नियमों का भेद कैसा नाम तक न जानते होंगे। फिर हमारे इस अचल सिद्धांत का खंडन किस बिरते पर कीजिएगा कि "प्रेम में नेम नहीं होता"। उस पर किसी का वश नहीं चलता। जिसके प्रभाव से हम साक्षात सृष्टिकर्ता को अपना वशवर्ती बना सकते हैं उसके द्वारा सृष्टि के नियमों को फेर देना क्या आश्चर्य है। यदि इसमें आपको संदेह हो तो सत् चित् से हमारे प्रेमदेव के दीन दास बन जाइए फिर प्रत्यक्ष देख लीजिएगा कि वह आपके लिए क्या कुछ नहीं करते। पर आपके भाग्य में यह महत्व बदा होता तो अपने पूर्वज महर्षियों के सद्ग्रंथों और भगवज्जन के सच्चरित्रों पर दाँत निकालने वाली बुद्धि ही क्यों उत्पन्न होती।

अतः हमारा यह कहना तो ब्यर्थ होगा कि जिस परम पवित्र मदिरा में प्रह्लाद जी अष्टप्रहर प्रमत्त रहा करते थे उसका एक कणशीकर भी पान कर देखिए तो प्रत्यक्ष बोध हो जायगा कि सच्चे भक्तों के लिए अग्नि का शीतल और विष का अमृत इत्यादि हो जाना सृष्टिक्रम के विरुद्ध नहीं है। क्योंकि जब सज्जन मनुष्य अपने आश्रितों की रक्षा के लिये अपनी पूरी सामर्थ्य से काम लेकर सताने वाले का मान मर्दन करने में कोई नियम वा अनियम उठा नहीं रखते तो भक्तवत्सल भगवान ऐसा क्यों न करेंगे ? जो बात प्राणी मात्र के जाति स्वभाव का अंग है वह यदि प्राणपति परमेश्वर करें तो सृष्टिक्रम के विरुद्ध कैसे कही जा सकती है। सृष्टि के नियमों को जिन्होंने स्थापित किया है वे उत्थापित करने में क्या असमर्थ हैं ? पर हाँ, साधारण व्यक्ति के लिये वे ऐसा नहीं करते। वे और उनके भक्त बाजीगर नहीं हैं कि आपके संतोषार्थ अपने निज कृत्य दिखलाया करें। जब उनके निज के लोगों का काम पड़ता है तब सब कुछ करते हैं। सो इसमें कोई भी संदेह नहीं है कि प्रह्लाद जी पूरे और सच्चे दृढ़भक्त थे।

भगवान के साथ उनका जीवित गंभीर निज संबंध था। फिर ऐसे निज संबंधियों के हितार्थ भगवान क्या कुछ न कर सकते थे, क्या कुछ नहीं करते, क्या कुछ करने को प्रस्तुत नहीं हैं ? किसी नियम की रक्षा के अर्थ निज मित्रों की उपेक्षा करना साधु प्रकृति के मनुष्य भी उचित नहीं समझते फिर परमेश्वर क्योंकर अपने अनन्य जन के लिये आपके कल्पित सृष्टिक्रम को लिए बैठे रहते ? परमेश्वर और प्रह्लाद जी के मध्य जो पारस्परिक व्यवहार था उसके रक्षणार्थ दोनों का परम कर्तव्य ही यही था कि किसी नियमोपनियम की चिंता न करके केवल मित्रता का संरक्षण और मित्र का हितान्वेषण करते रहे। यह रीति संसारी मित्रों में भी हुआ करती है और जो कोई उनके इस प्रकार के बर्ताव को हँसने योग्य समझता है वह स्वयं हास्यास्पद होता है फिर उपर्युक्त परम अलौकिक मित्र आपस में जो कुछ करते थे उस पर आक्षेप करने वाले निंदनीय न होंगे ?

आपके भाग्य में भारत की प्रेम फिलासफी समझना नहीं बदा इससे यह विषय आपको हम पूरी रीति से नहीं समझा सकते। पर यदि आपको यूरप के इहकालिक बड़े 2 डॉक्टरों के निर्णीत सिद्धांत का भी ज्ञान हो तो उसके द्वारा भी प्रह्लाद जी की कथा का विचार करके आप इतना जान सकते हैं कि प्रेम प्रह्लाद जी का स्वाभाविक गुण था जिसका अनुकरण भी संसारी जीवों के पक्ष में महा दुर्लभ है। फिर ऐसे भक्त

के लिये परमात्मा क्या कुछ न करता ?

सुसभ्य यूरोपीय डॉक्टर राजों ने बड़े परिश्रम और अनुभव के उपरांत इस बात को आज जाना है किंतु हम हाफ सिविलाइज्ड इंडियन पोपो[1] के बनवासी फोरफादर्स (पुरखा) अर्थात् पुराणाचार्य सहस्रों वर्ष पहिले से जानते थे ।

जिस समय हमारे बाबुओं के बाबा आदम शायद पैदा भी न हुए होंगे उस समय से हमारे पुराण बनाने वाले बाबा जानते थे कि गर्भ धारण के समय माता के चित्त में जैसे पुरुष का विशेष ध्यान होता है वैसे ही रूप रंग की संतति उत्पन्न होती है और गर्भधारण से नौ मास तक अर्थात् संतानोत्पत्ति के समय तक जिस प्रकार के भोजन और भाव माता को प्राप्त होते हैं वैसे ही स्वास्थ्य और स्वभाव बालक के होते हैं । इसके प्रमाण और उदाहरण डॉक्टरों के ग्रंथों में बहुत से पाए जाते हैं और संसार की रीति है कि जिसके साथ बहुत दिन से प्रीति होती है वा जिसे देख के चित्त आकृष्ट हो जाता है उसका चित्र मन में बन जाया करता है ।

हमारे पाठकों ने देखा होगा कि बहुत से हिंदू संतान का रंग और आकृति ठीक अँगरेजों की सी है यद्यपि पता लगाने से जान पड़ा है कि उनकी माता दुश्चरित्रा न थीं । और यदि ऐसा होता भी तो शुद्ध यूरोपीय रंग के बालक न उपजा सकती क्योंकि यूरेशियन लोगों के रंग में प्रथकता होती है । फिर इसका कारण क्या है ? यही कि सन् 1857 वाले उपद्रव के इधर उधर गोरे लोगों का भय और प्रीति बहुतों के हृदय में विशेष रूप से खचित हो रही थी । उस अवसर में जिस माता के चित्त में जिस दशा वाले इंग्लिस्तानी का रूप कुछ काल के लिये बस गया था वैसे ही रूप रंग की संतति उत्पन्न हो गई । अब लोगों के मन में वह बात नहीं रही इससे बहुधा ऐसे लड़के भी नहीं उपजते ।

इसी प्रकार माता को जैसे स्वभाव के लोगों में रहने का अवसर मिलता है वैसे ही जाति स्वभाव की संतान उत्पन्न होती है और यह जाति स्वभाव किसी प्रकार पूरी रीति से बदल नहीं सकता । यह बात प्रह्लाद जी की जन्म कथा में पूर्ण रूप से पाई जाती है । किसी ग्रंथ के लेख में वा कहीं किसी मूर्ति अथवा चित्रपट में आपने न देखा सुना होगा कि उनका स्वरूप राक्षसों का सा भयानक था । यह क्यों ? कारण यही है कि उनका पिता राक्षसेंद्र पत्नी सहवास के उपरांत ही वन में तपस्या करने चला गया था और उसी दिन देवराज इंद्र ने दैत्यराज का राजपाट हस्तगत करके उसकी रानी अर्थात् प्रह्लाद जी की माता कयाधु को बंदी बना लिया था और अपने लोक में ले गए थे ।

जिस समय पति पास नहीं है और प्रबल शत्रु सर्वस्व हरण करने के पश्चात् सामने उपस्थित है उस समय अबला बाला चित्त को कैसे सावधान रख सकती है ? ऐसी अकस्मात् आई हुई घोर विपत्ति के समय दूरस्थ प्राणनाथ की मूर्ति विकल चित्त में कैसे स्थिर रह सकती है ? बस इसी से कयाधु के मन में शचीपति का चित्र खिंच गया और वही प्रह्लाद जी का स्वरूप बन गया । अब उनके स्वभाव की ओर ध्यान दीजिए तो जान जाइएगा कि महापराक्रमी राक्षसनाथ की प्राणप्रिया महारानी जब सब कुछ खोकर परवश होकर कारावासिनी की दशा में पड़ेगी तो उस अवस्था में परले सिरे का विराग उत्पन्न होना तो एक स्वाभाविक बात थी, ऊपर से सोने में सुगंध यह हुई कि देवर्षि भगवान् नारद जो परमानुरागी ही नहीं बरंच प्रेमशास्त्र के आचार्य भी हैं, जिनका भक्ति सूत्र न पढ़ने से पशु और पाषाण सदृश्य प्रकृति

1. पोप शब्द का अर्थ पिता है फिर नए मत वाले न जाने कौन सपूती समझकर इसे ठठ्ठे की भाँति व्यवहृत करते हैं ।

वालों को छोड़ के मनुष्य तो कुछ न कुछ प्रेमशिक्षा अवश्य ही प्राप्त कर सकता है, वह परमात्मा से अभिन्न मित्र महात्मा नित्य उसे अपने अमृतमय उपदेशों से शांति दान करने आया करते थे।

फिर भला ऐसी दशा में जो बालक उत्पन्न होगा वह क्योंकर जगत्रष्णा से पूर्ण विरागी औ श्री भगवच्चरण का परमानुरागी न होगा ? डॉक्टरों के मत से विराग और अनुराग प्रह्लाद जी के नेचर में भरे हुए थे और ऐसे प्रेमी के ईश्वरीय संबंध में तर्क वितर्क करना पाप ही नहीं बज्रमूर्खता भी है। यदि ऐसों के संरक्षार्थ भी ईश्वर सृष्टि के नियमों को लिए बैठा रहे तो उसके अलौकिक और आश्चर्यमय कार्य क्या उन लोगों के लिए प्रगट होंगे जिनका धर्म केवल मतवाद है ? जब प्रह्लाद ऐसे गर्भजात भक्त Born Lover को ऐसी विपत्ति घेरे के 'माता यदि विषंदद्यात् पित्रा विक्रीयतेसुतः राजा हरति सर्वस्वं शरणं कस्य जायते।' से भी अधिक दुर्गति का सामना नित्य ही बना रहता हो तो परमात्मा कहाँ तक शास्त्रार्थी मतवालों के आक्षेपों का भय करके अपने भक्त की यम से उपेक्षा करेगा ? विष का विषत्व और अग्नि का दाहकत्व इत्यादि तो हम लोग साधारण औषधियों के योग से दूर कर सकते हैं। फिर क्या सर्वशक्तिमान परमेश्वर हमसे भी अल्पसामर्थी है कि उसे दूर न कर सके ?

रहा नृसिंहावतार विषयक शंका समाधान, उसके हठी और दुराग्रही सामने तो हम क्या हैं ईश्वर को भी चुप रहना चाहिए। पर जिन्हें कुछ समझ हो वे इतने से समझ सकते हैं कि हिरन्यकशिपु ने तपस्या के उपरांत बरदान माँगने में जब अपनी रक्षा का कोई मार्ग रोक ही न रक्खा था और 'नमे भक्तः प्रणस्यति' का प्रण रखने वाले परमात्मा की दृष्टि में बधदंड का पात्र भी था तो उसके विनाशार्थ विचित्र रीति के उद्‌घाटन के अतिरिक्त और उपाय ही क्या था ? जो माँग चुका था कि न दिन को मरूँ न रात को मरूँ उसके मारने को संध्या के अतिरिक्त कौन समय उपयुक्त होगा ? जिसकी प्रार्थना थी कि न धरती पर मरूँ न आकाश पर मरूँ उसके मारने को खंबे के अतिरिक्त कौन स्थान था ? ऐसी 2 युक्तियों से समझदार लोग तो पुराणकर्ताओं की सूक्ष्म बुद्धि की प्रशंसा ही करेंगे कि वे तपस्या के फल को भी तुच्छ नहीं ठहराते और भगवद्विरोध का फल भी निश्चित रखते हैं तथा सच्ची घटनाओं को वर्णन भी इस रीति से करते हैं कि पढ़ने वाले केवल कहानी ही का सा स्वादु ना पाकर यदि साहित्य से कुछ परिचय रखते हों तो काव्यानंद भी लाभ करें।

विशेषतः यह कथा विचारशील, सारग्राही और तत्वदर्शी सज्जनों को सिखलाती है कि यदि अपने संतान को सुरूपवान बनाया चाहो तो स्त्रियों के हृदय में देव तुल्य श्रद्धास्पद पुरुषों का ध्यान जमाने में यत्न करो। उनके सुदृश्य छायाचित्र का दर्शन करा के अथवा रूप का विवरण सुनाके उनकी प्रतिमा गृहदेवियों के मनोमंदिर में स्थापित कर दो। नहीं तो सबसे उत्तम यह है कि उनके साथ इतनी प्रीति बढ़ाओ कि प्रति क्षण तुम्हारा प्रतिबिंब उनके मन में बसता रहे। इस प्रकार से तुम्हारे लड़के बालों का रूप रंग तुम्हारी इच्छा के अनुकूल होगा। यदि चाहते हो कि बालक सुशील, सुमार्गी, हरिभक्त, देशभक्त, सद्‌गुणानुरक्त इत्यादि हों तो अपनी अर्धांगियों को गर्भधारण के समय सत्पुरुषों के जीवनचरित्र तथा उनके सद्‌ग्रंथ नित्यमेव सुनाते समझाते अथवा पढ़ाते रहो और साथ ही उत्तमोत्तम वस्तु भोजनादि से गृहेश्वरी का पूजन भी करते रहो। इस रीति से तुम्हारी संतति की अचला प्रकृति भी जैसी तुम चाहते हो वैसी ही होगी।

इसके अतिरिक्त यह भी विश्वास रक्खो कि भगवान के सच्चे प्रेमी को संसार की कोई विपत्ति बाधा नहीं कर सकती अथच उनका विरोधी कैसा ही धनी बली सुशिक्षित देवरक्षित क्यों न हो किंतु अपने

किए का फल अवश्यमेव पाता है। यदि इतना समझकर भी आपका हृदय प्रेमामृत पान के लिए तृषित न हो और ऐसी कथा से आप उपदेश लाभ करने के स्थान पर खंडन मंडन के ही लती बने रहें तो पुराण तो पुस्तक ही मात्र हैं, पुराणपुरुष परमेश्वर भी आप से हार जायँगे बरंच गंदी दलीलों से घृणा करके दुनिया से भाग जायँ तौ भी आश्चर्य नहीं है। राक्षस तक के लड़कों को इतना दुदकारना तुम्हें शोभा नहीं देता। अतः इनकी चाल ढाल की ओर न देखकर अपनी दशा की ओर देखो।

खं० 9, सं० 1 (अगस्त, ह० सं० 8)

गोरक्षा

गोरक्षा हिंदुओं का परम धर्म है और हिंदुस्थान के धन संपत्ति का वृहदांश उसी पर निर्भर करता है। इस बात के लिए प्रमाणों की अब आवश्यकता नहीं रही। प्राचीन सदग्रंथ और नवीन सुलेखक तथा सुवक्तागण भली भाँति सिद्ध कर चुके हैं कि इसके बिना हिंदू जाति और हिंद देश का वास्तविक कल्याण सर्वथा असंभव है। पर यह बात केवल जान लेने अथवा प्रमाणित कर देने मात्र से कुछ नहीं हो सकता जब तक देश काल की गति के अनुसार उद्योग न किया जाय। इतिहास में कई आर्य नरेशों की कथा इस प्रकार की देखी जाती है कि जब उनके विधर्मी शत्रुओं ने अन्य उपायों से अपनी जय न देखी तो दोनों दल के मध्य कुछ गौएँ बाँध दीं इस पर हिंदू वीरों ने गोरक्षा के बिचार से शत्रु संचालन का परित्याग करके हार मान ली अथवा प्राण और पृथिवी से हाथ धो बैठे।

इस रीति की कार्यवाही धर्मजाड्य की दृष्टि से चाहे जैसी समझी जाय पर नीतिशास्त्र के अनुसार समयविरुद्ध होने के कारण उचित नहीं कही जा सकती। थोड़ी सी गउओं के प्राण बचा कर धरती से गँवा बैठने और अन्य धर्मियों को अधिक गोवध का सुभीता देने से यह उत्तम होता कि जहाँ धरती माता के उद्धारार्थ युद्धक्षेत्र में बहुत से ब्राह्मण क्षत्रिय मरने को सन्नद्ध थे वहाँ उन थोड़ी सी गउओं से भी यह प्रार्थना करके शत्रु समुदाय पर शस्त्र वर्षा कर दी जाती कि 'मातः ! धरती देवी की रक्षा के बिना न हमारी रक्षा संभव है न तुम्हारी, अस्मात् उनके लिए जैसे हम लोग अपना रक्त बहाने में उपस्थित हैं वैसे ही तुम भी प्राण विसर्जन करने से मुँह न मोड़ो।' इस प्रकार से जय लाभ करने में थोड़ी सी गौओं का नाश हो जाता पर आगे के लिए धरित्री गोरक्षकों के हाथ में बनी रहती तो बहुत सी गौओं की रक्षा होती रहती। पर भारत के अभाग्य से भारतीयगण कुछ दिन से यह महामंत्र भूल गए हैं कि 'बहुत से लाभ की संभावना हो तो थोड़ी सी हानि को हानि न समझना चाहिए'।

इसके अतिरिक्त बुद्धिमानों को यह भी समझना उचित है कि सच्चाई के साथ केवल अपनी सामर्थ्य भर काम करने से जो फल होता है वह झूठ मूठ का आडंबर फैला के 'धाय चलने और अमिट गिरने' का उदाहरण बनने से कदापि नहीं हो सकता। यदि हमारी सी समझ रखने वाले थोड़े से लोग

इन बातों पर भली भाँति ध्यान देकर यथासंभव दूसरों को समझाते रहने का विचार रक्खें तो गोरक्षा कोई ऐसा काम नहीं है जो आर्य देश में संतोषदायक रूप से न हो सके।

पर ऐसा न करके जो लोग व्यर्थ गोरक्षा 2 चिल्लाते फिरते हैं उनके द्वारा सिवाय गोवध में सहायता पहुँचने के और कुछ नहीं हो सकता। करने और कहने में होता है अंतर। यदि सच्चे जी से काम करने वाले प्रत्येक नगर और ग्राम में एक 2 भी हों—हम समझते हैं अवश्य होंगे—तो अपने 2 हिंदू मित्रों को अनुरोध सहित एक 2 गाय पाल लेने की रुचि दिलावें तथा जिन पर मित्रता का दबाव न पड़ सकता हो उन्हें गोपालन के प्रत्यक्ष लाभ समझाते रहें! अर्थात् जितना उसे घर में रखने से व्यय और परिश्रम पड़ता है उससे अधिक शुद्ध, स्वादिष्ट, बलकारक, घृत इंधनादि के द्वारा हित भी होता है एवं उसकी संतति से खेती बारी आदि में यदि सहायता लेने की शक्ति न हो तौ भी रुपया मिल ही रहता है—ऐसी 2 बातें यदि उचित रीति से समझाई जायँ तो हिंदुओं में फी सैकड़ा अस्सी लोग इस कार्य को बड़े चाव से उठा सकते हैं।

इसके साथ ही प्रत्येक जाति के लोगों में इसकी चर्चा फैलाते रहना भी उचित है कि बूढ़ी और बेकाम गाय ब्राह्मणों को दान करना पाप है तथा बिन जाने मनुष्य के हाथ बेचना जातीय दंड का हेतु है। मुसलमान भाइयों के साथ भी मतवाद न बढ़ाकर उन्हें यह समझाना चाहिए कि हमारा आपका सैकड़ों वर्ष से मेल मिलाप है और अब इस देश को छोड़ के कहीं आप निर्वाह नहीं कर सकते अतः यहाँ की जलवायु के अनुकूल और वृहत् समुदाय वालों की रीति नीति का सहगमन ही शारीरिक और सामाजिक सुख अथच सुविधा का मूल समझिए।

इस रीति से समझाने पर आशा नहीं विश्वास है कि हिंदू मुसलमानों के द्वारा गऊओं का एक पुष्कल समूह सहज में संरक्षित रह सकता है और उससे हमारे भोजन वस्त्र की वर्तमान अनुविहित का बड़ा भारी अंश दूर हो सकता है। एवं इस काल में इतनी ही हमारी सामर्थ्य भी है, उसका अवलंबन न करके जो लोग बड़े 2 झगड़ों में पाँव अड़ाते हैं वे चाहे अपने जी से सच्चे भी हों पर अपनी करतूतों के द्वारा देश का अनिष्ट ही करते हैं। क्योंकि सर्कार से इस विषय में आशा करना दुराशा मात्र है जब तक सस्ते दामों में इतर धर्मियों को गाय मिलने का मार्ग हम स्वयं न रोकें। और इसका प्रबंध जाति 2 के मुखियों को शिष्टता के साथ उपदेश देने के बिना कभी नहीं हो सकता।

रहा गोशालास्थापन का प्रबंध, वह यदि राजाओं और बड़े धनाढ्यों को उत्साहित करके उन्हीं के अधीन कर दिया जाय तौ तो कदाचित कुछ हो भी सके नहीं तो जैसा अभी तक कई स्थान पर देखा गया है वैसा ही बहुधा देखने में आवैगा कि चंदा उगाहने वाले गौओं का नाम ले 2 कर लोगों से रुपया लेते और अपने चैन की बंशी बजाते हैं। बरंच गोभक्षिणी जाति की दुराचारिणी स्त्रियों ही की सेवा सुश्रूषा में अधिकतः व्यय करते हैं और गऊ माता उनके जनम को झींका करती हैं। कोई 2 इस विषय के उपदेशक बन 2 कर राजनीतिक चर्चा छेड़ के राजकर्मचारियों को चिढ़ाकर देश का रुपया परदेश फेंकने का ठान ठानते हैं अथवा प्रत्येक धर्म पर आक्षेप कर 2 हिंदुओं की श्रद्धा हटा देते हैं और अन्य धर्मियों को अधिक गोबध के लिए भड़का के सर्वसाधारण की शांति में विघ्न डालते हैं।

ऐसे लहू लगा के शहीदों में शामिल होने वालों से तो वे हजार दस हजार अच्छे हैं जिनसे कभी धोखे में कोई बछिया बछड़ा मर जाता है तो हत्याहरण नीमक तीर्थ में स्नान दान किए बिना किसी को मुँह नहीं दिखाते बरंच लोग समुदाय के सामने अपने मुँह अपना पाप स्वीकार करते रहते हैं। सच पूछो

तो यह लोग धर्म की मर्यादा का आदर और भय हृदय में स्थिर रखने वाले हैं किंतु कलियुगी गोरक्षक और उपदेशक तथा रोजगार के बहाने से बधिकों औ गोभक्षकों के साथ व्यवहार करने वाले एवं जातिभाइयों से छिपा के भक्ष्याभक्ष्य भक्षने वाले विचारे धर्म रूपी वृषभ का कलियुग के हाथ से बचा बचाया एक चरण रहा है वह भी अपने कुकर्म के हाथों से काटकर उसके प्राण लेने वाले हैं। हमने माना कि सब ऐसे न हों पर जो ऐसे हैं उनके कोई बाहिरी चिह्न नहीं होती बरंच ऐसों की बोली बानी और ऊपरी चाल ढाल सच्चे गोहितैषियों की अपेक्षा अधिक सुहावनी होती है। क्योंकि लोगों को धोखा देकर अपना काम बनाना ही उनका अभीष्ट होता है और धोखा देने वालों से दो एक बार ठगाए बिना बचे रहना प्रत्येक के पक्ष में सहज नहीं हुवा करता। इससे हम अपने पाठको को सल्लाह देते हैं कि यदि गोरक्षा में सचमुच रुचि हो तो अपनी पहुँच भर दो चार अथवा एक गाय का पालन तो अवश्य करते रहें।

यदि सामर्थ्य न हो तो किसी धनहीन भाई की गाय को थोड़ा बहुत भोजन दे दिया करें अथवा हो सके तो बहुत ही शिष्टता और मिष्टता के साथ अपने हेती व्यवहारियों को इस विषय में उत्साह देते रहें। बस इस काल में हमारा किया इतना ही हो सक्ता है कि और इसी से बहुत कुछ लाभ होने की संभावना है। इसके अतिरिक्त धर्म्म की गति बड़ी सूक्ष्म हुवा करती है। उसमें बिना भली भाँति निश्चय किए टँगड़ी अड़ाना श्रेयस्कर नहीं है। यों नामवरी के लिए सैकड़ों राहें खुली हुई हैं और सच्चे जी से जिसी सच्चे धर्म कार्य में कुछ हाथ पाँव हिलाए जायँ उसी में सच्चा नाम प्राप्त हो सक्ता है किंतु जिस काम में धोखा खाने का डर हो उसमें भली प्रकार सोचे बिचारे बिना हाथ डालना ठीक नहीं।

इस काल में गोरक्षा के मध्य धोखा खाना असंभव नहीं है। इससे उसमें उतना ही अग्रसर होना उचित है जितना अपने बूते हो सके वा कुछ भी करने की शक्ति न हो, तन धन बचन कुछ भी किसी काम के न हों तो चुपचाप बैठा रहना भी कोई बुराई नहीं है। स्मरण रखिए हमारे लिए आँखें मींच के चलने योग्य केवल वही मार्ग है जिसमें बाप दादे चलते आए हैं। बाकी जितनी राहें नई खुलती हैं उन सबमें धोखा रहता है अतः उनका अवलंबन बहुत ही सोच समझ के कर्तव्य है। आगे इच्छा आपकी, हमारा काम तो सजग ही कर देना मात्र है।

खं० 9, सं० 5 (दिसंबर, ह० सं० 9)

नवपंथी और सनातनाचारी

नवपंथी—नमस्ते साहब !

सनातनाचारी—नमस्ते और साहब तुम होगे जी ! बीस बार समझा दिया कि हम साहब नहीं हैं, हम ब्राह्मण हैं, मानते ही नहीं !

नवपंथी—अच्छा बाबा, भूल गए माफ करो। नमस्ते महाशय कहा करें ?

सनातनाचारी—यद्यपि हम महाशय भी नहीं हैं, न ऋषि हैं, न राजा हैं फिर इतना बड़ा प्रतिष्ठित शब्द भी हमारे पक्ष में उपहासबोधक है क्योंकि वास्तवतः हम साधारणाशय भी नहीं हैं । इससे यदि हम अपने मन से अपने को महाशय समझें तो झूठा गर्व करके महा पापी बनते हैं और दूसरे लोग यदि हमें जी से ऐसा मानें तो धोखा खाते हैं सो केवल मुख से इस शब्द का प्रयोग करें तो हमें झूठमूठ झंडे पर चढ़ाते हैं । पर यतः साधारण समुदाय के अधिकांश ने इस शब्द को साधारण बोलचाल में साधारण ही अर्थ का द्योतक मान लिया है और शब्द भी अपने देश का है इससे आप चाहे जिसके लिये प्रयोग कर लें, पर नमस्ते क्या बला है ? बाबा ! नमस्ते तुम होगे हम नहीं हैं ।

नव०—वाह साहब ! नमस्ते भी कोई गाली है ?

सन०—गाली उन्हीं शब्दों को कहते हैं जिन्हें सुन के श्रोता का चित्त बिगड़ जाय । और यह लक्षण इस शब्द में भी विद्यमान है । थोड़े से आपके समाजियों को छोड़ के देश का तृतीयांश से अधिक समुदाय इसे सुनते ही कहने वाले को अपने आचार विचार का बिद्रूपकारक समझ के चौंक उठता है । फिर ऐसे शब्द के प्रयोग को क्या आवश्यकता है जिसके द्वारा हमारे अधिकांश भ्रातृगण के शांतिप्रवाह में बिक्षेप हो ?

नव०—अजी वाह ! यह भी कोई बात है कि जिस अच्छी बात को मूर्ख लोग नापंसद करें तो उसे समझदार भी छोड़ बैठें ? भला बतलाइए तो इसमें क्या बुराई है ? संस्कृत का शब्द है नमः, और ते मिल के बना है जिसका अर्थ है कि मैं तुम्हारा मान्य करता हूँ । यदि हमने ऐसा कहा तो क्या अपराध हुवा ?

सना०—किसी की रुचि के बिरुद्ध कोई काम करना ही अपराध कहलाता है, विशेषतः जब आप शिष्टाचारसूचक कई एक सर्वप्रिय शब्दों के होते हुए केवल अपनी बिलक्षणता दिखलाने और अपने तई बृहत समुदाय से पृथक जतलाने की मनसा से उक्त शब्द को काम में लाते हैं तो क्योंकर अपराध से अलग रह सकेंगे ? अपराध ही नहीं बरंच यह पाप भी है कि मुख से कहते हो—मैं तुम्हारा मान्य करता हूँ—पर मन से उन्हें मूर्ख समझते हो । क्या दूसरों को मूर्ख समझना कोई बुद्धिमानी है ? नमस्कार का अर्थ भी तो यह नहीं है कि मैं तुम्हें गाली देता हूँ, पालागन का अर्थ भी तो यह नहीं है कि मैं तुम्हें लातें मारता हूँ, राम राम का अर्थ भी यह नहीं है कि मैं तुम्हारा शत्रु हूँ, फिर इन सबको छोड़कर एक बात ही को हारिल की लकड़ी बनाना कहाँ की भलमंसी है ?

नव०—यह तो आप जबरदस्ती करते हैं । भला व्याकरण की रीति से नमस्कार मात्र कहने में यह अर्थ कहाँ से निकालिएगा कि—मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ ।

सना०—यदि सामाजिक व्यवहार में आप व्याकरण छाँटेंगे तो बात 2 में दाँताकिलकिल उठ सकती है । व्यवहारशास्त्र के अनुसार तो एक शब्द बोलने से तत्संबंधी अन्य शब्द भी समझ लिए जाते हैं । यह सब देश की भाषाओं का नियम है । पर व्याकरण की रीति से आपकी नमस्ते का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि जिसके मस्तक पर न हो, अर्थात् मस्तक में होने वाले अवयव नेत्र, बुद्धि वा शृङ्ग जिसके न हों ।

नव०—हहहः शायद यही अर्थ समझ के आप नमस्ते कहने से जलते हैं ।

सना०—मैं जलता तो किसी बात में नहीं हूँ पर जो बातें पंच को अप्रिय हैं उन्हें परमेश्वर की अप्रिय अवश्व समझता हूँ और आपको व्यसन है कि उन्हीं बातों को अपने धर्म का झंडा समझते हो

जिसके द्वारा दूसरों का जी अपने वर्तमान भाव से बिचल जाय। नहीं तो शब्दों के पीछे झगड़ा उठा के किसी को कुंठित करना धर्म, सभ्यता, बुद्धिमत्ता सभी के विरुद्ध है। अतः बुद्धिमान को चाहिए कि जिस समूह से बातचीत करे उससे उसी के अनुकूल शिष्टाचार का बर्ताव करे।

नव०—इस रीति से तो सलाम, बंदगी, गुडमार्निङ्ग आदि का प्रयोग भी आपके कथनानुसार उचित ही ठहरेगा।

सना०—हई है! मुसलमानों और क्रिस्तानों से कौन हिंदू पालागन आशीर्वाद करने जाता है।

नव०—वह लोग अन्यधर्मी और अन्यजातीय हैं। उनके साथ उन्हीं का सा शिष्टाचार न करें तो काम न चले। यदि वे रूठ जायँ तो बहुत से कामों में विघ्न पड़ने का भय है।

सना०—धन्य है इस समझ को कि जो सब बातों में पार्थक्य रखते हों उनके साथ तो आप अनुकूल आचरण रक्खें और भय करें पर अपनों को चिढ़ाने में तत्पर रहें। इससे तो जान पड़ता है कि आपके से चित्त वाले डर के कारण बिना सबके प्रतिकूल ही बर्ताव रखने की प्रकृति रखते हैं। पर स्मरण रखिए ऐसा आचार शिष्ट पुरुषों का नहीं होता, अस्मात् शिष्टाचार नहीं कहा जा सकता।

नव०—अच्छा दीनबन्धु दयासिन्धु, फिर हम आपसे क्या कहा करें जिसमें आप हमें शिष्ट समझें?

सना०—आज आपको क्या हो गया है कि जो बात कहते हैं निंदा व्यंजक ही कहते हैं। भला बिचारिए तो दीन का बन्धु भी दीन के अतिरिक्त कौन हो सकता है? जब तक परमेश्वर चलने फिरने की शक्ति और खाने पहिनने की सामर्थ्य तथा बन्धुवर्ग में सुख प्यार बनाए है तब हम दोनों का बन्धु अथवा हमारे बन्धुगण को दीन कहना अशुभ चिंतन है! योंही हम हिंदुओं में "दया धर्म को मूल है नर्कमूल अभिमान" की कहावत सब छोटे बड़ों के मन और बचन में बिराजती रहती है। फिर हम दया के डूबो देने वाले वा बहा देने वाले अथवा समुद्र के जल की भाँति दूसरों की तृषा शांत करने में अयोग्य दया रखने वाले क्योंकर कहे जा सकते हैं।

नव०—भला इन सब शब्दों का अर्थ जैसा आप व्याकरण की रीति से कर गए वैसा ही सच्चे अंतकरण से मानते हैं?

सना०—आप हमारे पास यदि कभी सच्चे अंतःकरण से मित्रतापूर्वक कथोपकथन करके किसी विषय का निर्णय करने आए होते तो हम भी तदनुकूल व्यवहार करते।

नव०—यह आपने कैसे जाना कि हम शुद्ध मानस से मिलने नहीं आते?

सना०—भैया रे! 'हित अनहित पसु पच्छिउ जाना। मानुसतन गुन ज्ञान निधाना॥' विशेषतः दो चार बार के बार्तालाप से कभी आंतरिक भाव खुले बिना नहीं रहता! ऊपरवाला प्रश्न आप ही अपने जी से क्यों न कर देखिए। अंतःकरण होगा तो आप उत्तर देगा कि सच्ची हितैषी और मौखिकवाद के द्वारा परास्त करने की चेष्टा में इतना अंतर होता है। आज तक आपके यहाँ जितने शास्त्र देखने सुनने में आए हैं उनमें आप ही धर्म को साक्षी दे के कहिए कि सत्य का उचित सन्मान किया गया है कि पालिसीवाजी से काम? फिर क्या आप जानते हैं कि दूसरों को 'शाठ्यं कुर्यात शठं प्रति' की चाल आती ही नहीं है?

नव०—(मुसकिरा कर) अच्छा भाई अब आगे से हमारी बातों को सचमुच सत्य ही के निर्णयार्थ समझिएगा।

सना०—यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है—'करतूतिहि कहि देत आप नहिं कहिए साईं'। यदि इस प्रतिज्ञा पर भी उचित बर्ताव हुवा तो यहाँ भी 'ईंट के जवाब पत्थर' की कमी नहीं है।

नव०—सो तो आप ही खुल जायगा। अच्छा अब मतलब की बातें हों।

सना०—जय गणेश।

खं० 9, सं० 12 (जुलाई, ह० सं० 9)

गोरक्षा

गौ माता की महिमा इससे अधिक क्या वर्णन की जाय कि देवता, पितर, मनुष्य, स्त्री, लड़के, बूढ़े सभी उनके अमृत समान दूध से तृप्त होते हैं। माननीया ऐसी हैं कि देश भर माता कहता हैं, जगत् पूज्य ब्राह्मण नाम के भी पहले स्मरण की जाती हैं—'गऊ ब्राह्मण'। भगवान का नाम भी उन्हीं के नाते गोपाल कहाता है। पवित्रता यह है कि उनका मल मूत्र तलक खाया जाता है। उपकार उनके अनंत हैं, स्वयं तथा संतान द्वारा मरते जीते, लोक परलोक सबमें हित ही करती हैं। ऐसी 2 बातें एक लड़का भी जानता है। फिर हम भी कई बार लिख ही चुके हैं, बार 2 पिष्टपेषण मात्र है।

यह बात भी पूर्णतया विदित है कि बीस वर्ष भी नहीं भए, घी, दूध कैसा सस्ता था, और उसके खाने से अब भी जो लोग पचास वर्ष के कुछ इधर उधर हैं कैसे बली और रोगरहित हैं। वे अपनी जवानी की कथा कैसे अहंकार से कहते हैं कि आजकल के लड़के एवं नाजुकबदन रोगसदन जवान लोक सपने में भी उस प्रकार के सुख भोग के योग्य नहीं हो सकते ! जहाँ स्वादिष्ट और बलकारक भोजन तक स्वेच्छापूर्वक न मिले वहाँ और सुखों की क्या कथा है !

यह भी अच्छी तरह सब जानते हैं कि प्रजावत्सल सर्कार इस विषय में अपनी ओर से क्या हमारी विनय सुन के भी सहाय करती नहीं दीखती। बाजे 2 हठी मुसलमान कुरान और हदीस के वचन सुने अनसुने करके अपनी जिद का निबाह करेंगे, इस मामले में हमारा साथ न देंगे। फिर यदि हम भी कुछ न करें तो दश ही पाँच वर्ष में हमारी क्या दशा होगी ? यही विचार कर कई नगरों में चंदा, गोशाला, सभा, लेख, लेकचर इत्यादि हो भी चले। बरंच बाजे 2 भाग्यशाली शहरों में धर्मिष्ट मुसलमान भी शरीक हैं ! परमेश्वर उनका सहायक हो। पर बड़े खेद और लज्जा का विषय है कि इस कानपुर में, जहाँ हिंदू ही अधिक हैं, विशेषतः ब्राह्मण ही क्षत्री धन, विद्या, प्रतिष्ठा आदि सामर्थ्य विशिष्ट हैं, परंतु इस बात में यदि दूसरे चौथे वर्ष किसी के हुलियाए 2 कुछ मन भी करते हैं तो बस कुछ दिन टाँय 2 पीछे फिस्स।

जहाँ कोई झूठ मूठ का बे सिर पैर का बहाना मिल गया वहीं बैठ रहे। यदि किया चाहे तो केवल दो चार लोग मिल के सब कुछ कर सकते हैं, पर हौसिला नहीं है ! हजारों रुपया व्यर्थ उठाते हैं, पर इस विषय में मुँह चुराते हैं। इन शहर वालों से तो हम अपने सुहृद अकबरपुरवासियों की धर्मनिष्ठता,

ऐक्यता, उद्योग, उत्साह और साहस की सराहना करेंगे जहाँ श्रीयुत् पंडितवर बद्रीदीन जी सुकुल, श्रीयुत् बाबू तुलसीराम जी अग्रवाल और श्रीयुत् लाला टेकचंद्र महोदयादिक थोड़े से सज्जनों के आंदोलन से दो ही महीना के भीतर अनुमान छः सौ के रुपया भी एकत्र हो गया, सभा भी चिरस्थायिनी स्थापित हुई है, व्याख्यान भी प्रति सप्ताह मनोहर होते हैं और सबने कमर भी मजबूत से बाँध रक्खी है ।

क्यों भाई नगरवासियों ! अधिक न करो तो अपने जिले के लोगों को कुछ तो सहाय दोगे ? जहाँ सैकड़ों की आतशबाजी फूँक देते हो, हजारों दिवालियों को दे बैठते हो, अदालत में उड़ाते हो, वहाँ गऊमाता के नाम पर कुछ भी न निकलेगा ? धर्म, नामवरी, लोक परलोक का सुख सब हैं, पर हौसिला चाहिए ![1]

खं० ? ख़ं० ?

शैव सर्वस्व

उपक्रम

आजकल श्रावण का महीना है, वर्षारितु के कारण भूमंडल एवं गगनमंडल एक अपूर्व शोभा धारण कर रहे हैं, जिसे देख के पशु पक्षी, नर नारी सभी आनंदित होते हैं । काम धंधा बहुत अल्प होने के कारण सब ढंग के लोग अपनी 2 रुचि के अनुसार मन बहलाने में लगे हैं । कोई बागों में झूला डाले मित्रों सहित चंद्रमुखियों के साथ मदमाती आँखों से हरियाली देखने में मग्न है, कोई लंगोट कसे भंग छाने व्यायाम में संलग्न है, कोई भोर सांझ नगर के बाहर की वायु सेवन ही को सुख जानता है, कोई स्वयं तथा ब्राह्मण द्वारा भगवान भूतनाथ के दर्शन पूजनादि में लौकिक और पारलौकिक कल्याण मानता है ! संसार में भाँति 2 के लोग हैं, उनकी रुचि भी न्यारी 2 है । भक्त भी एक प्रकार के नहीं होते । कोई बगुला भक्त है अर्थात् दिखाने मात्र के भक्त, पर मन जैसा का तैसा !

कोई पेटहुल भक्त हैं, अर्थात् यजमान से दक्षिणा मिलनी चाहिए, और काम न किया पूजा ही सही ! कोई व्यवहारी भक्त हैं, अर्थात् 'या महादेव बाबा ! भेजना तो छप्पन करोड़ की चौथाई ।' इन्हीं में वह भी हैं जो संसारी पदार्थ तो नहीं चाहते पर मुक्ति अथवा कैलाश-बास पर मरे धरे हैं ! कोई भगत जी हैं जो रास्ते में औ मंदिर में आँखें सेंकने ही को पूजा की आड़ पकड़ते हैं ! पर हम इन भक्ताभासों की कथा न कह के श्री विश्वनाथ विश्वंभर के सच्चे प्रेमियों के मनोविनोदार्थ कुछ शिवमूर्ति और उनकी पूजा पर अपना विचार प्रगट करते हैं ।

ईश्वर का नाम शिव है, यह बात वेद[2] से ले के ग्राम्य गीतों[3] तक में प्रसिद्ध है । और मूर्ति पूजन

1. 'निबंध-नवनीत' से उद्धृत ।
2. 'त्र्यम्बकं यजामहे सुगंधमुष्टिवर्धनं' इत्यादि ।
3. 'संकर महादेव सेवक सुर जाके' इत्यादि ।

हमारे यहाँ उस काल से चला आता है जिसका ठीक 2 पता भी कोई नहीं लगा सकता ! जिस देश में शिल्प विद्या का प्रचार और जहाँ लोगों के जी में स्नेह एवं सहृदयता का उद्‌गार होगा वहाँ मूर्तिपूजा किसी के हटाए नहीं हट सकती । मुहम्मदीय मत जब तक अरब के अशिक्षितों में रहा तभी तक प्रतिमापूजन बचा रहा, जहाँ फारस के रसिकों में फैला झट 'शीया' संप्रदाय नियत हो गई ।

इसी प्रकार खष्टीय मत जब तक तुरकिस्तान में रहा, जहाँ के प्रेम की यह दशा कि खुद हज़रत ईसा को उनके चुने हुए बारह शिष्यों में से एक शिष्य यहूदाह इस्करोती ने केवल तीस रुपये के लोभ में प्राण ग्राहक शत्रुओं के हाथ सौंप दिया, ऐसे देश में मूर्तिपूजा क्या होती जहाँ साक्षात् ही पूजा के लाले पड़े थे । परंतु रूम में मसीही धर्म को आते देर न हुई कि परमात्मा मसीह की प्रतिकृति पुजने लगी, रोम्यन कैथोलिक मत फैल गया । जब नये मतों की यह दशा है तो हमारे सनातन धर्म में मूर्तिपूजा क्यों न हो जहाँ प्रेम की उमंग में स्त्रियाँ तक जीती जल जाती रही हैं और शिल्प विद्या धर्मग्रंथ (अथर्ववेद) में भरी है । जहाँ राजाओं और बीर पुरुषों तक की मूर्ति का आदर है वहाँ देवाधिदेव महादेव की मूर्ति क्यों न पुजे ? यद्यपि आजकल अविद्या के प्रभाव से सब बातों के तत्व के साथ प्रतिमा पूजन का भी तत्व लोग भूल गए हैं पर जिन्हें कुछ भी इधर श्रद्धा है वे इस लेख पर कुछ भी ध्यान देंगे तो कुछ भेद तो अवश्य ही पावैंगे ।

यह सब लोग मानते हैं कि ईश्वर निराकार है पर मनुष्य अपनी रुचि और दशा के अनुसार उसके विषय में कल्पना कर लिया करते हैं । जिन मतों में प्रतिमा पूजन का महा 2 निषेध है उनके धर्मग्रंथों[1] में भी ईश्वर के हाथ पाँव नेत्रादि का वर्णन है, फिर हमारे पूर्वजों के लेखों का तो कहना ही क्या है जिनकी कल्पनाशक्ति के विषय में हम सच्चे अभिमान से कह सकते हैं कि दूसरे देश वालों को वैसी 2 बातें समझानी ही कठिन हैं, सूझने की तो क्या कथा । उनकी छोटी 2 बातों में बड़े 2 आशय हैं (यह विषय दूसरी पुस्तक में लिखा गया है) फिर यह तो धर्म का अंग है, इसका क्या कहना !

तनिक ध्यान दे के देखिए तो निश्चय कह उठिएगा कि हाँ जिन्होंने पहिले पहिल यह बातें निकाली थीं वे ब्रह्मविद्या, लोकहितैषिता और सहृदयता में निस्संदेह जगत् भर के बुद्धिमानों के शिरोमणि थे । शिवालय, शिवमूर्ति अथच शिर्वाचन में सामाजिक, शारीरिक एवं आत्मिक उपदेश इतने भरे हुए हैं कि बड़े 2 बुद्धिमान बड़े 2 ग्रंथ लिख के भी इतिश्री नहीं कर सकते, हमारी छोटी सी बुद्धि द्वारा यह छोटी सी पुस्तिका तो समुद्र में के जल कण के सदृश भी नहीं है ।

शिवालय की बनावट देखिए तो ऊपर का गुम्बद गोल होता है जिससे चाहे जितना जल बरसे कुछ क्षति नहीं कर सकता, इधर बूँद गिरी उधर भूमि पर आई । वर्षा में बड़े 2 घर गिर जाते हैं पर कोई छोटी सी शिवलिया कदाचित बहुत ही कम सुना होगा कि गिर पड़ी । इसके अतिरिक्त भूगोल खगोल गृह नक्षत्र सब गोल हैं और परमात्मा सबका स्वामी सब में व्याप्त है, यह बात भी शिवमंदिर में उपदिष्ट होते हैं । उसमें चारों ओर द्वार होते हैं जिनसे सदा स्वच्छ वायु का गमनागमन रहने से रोगोत्पत्ति की संभावना नहीं रहती ।

ऊपर से यह भी ज्ञात होता है कि परमेश्वर के पास जाने की किसी ओर से रोक नहीं है, सब मार्गों से वह हमें मिल सकते हैं । हिंदू धर्म, जयन धर्म, क्रिस्तानी धर्म, मुसलमानी धर्म सबके द्वारा हमारा प्रभु

---

1. इंजील तथा कुरआन आदि ।

हमें मिल सकता है—"रुचिनाम्बैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यैस्त्वमसि पर्यसामर्णव इव"—केवल मिलने की इच्छा चाहिए । आगे चलिए तो पहिले बिना धार का धातु अथवा पाषाण निर्मित त्रिशूल देख पड़ेगा जिसके कारण शिवालय पर बिजली गिरने का कभी भय नहीं रहता । बड़े 2 तत्त्ववेत्ता (फिलासफर) कहते हैं कि जिस मकान के पास लोहे काँसे आदि की लंबी छड़ गड़ी होगी उस पर बिजली नहीं गिर सकती क्योंकि धातुओं की आकर्षणशक्ति से वह सीधी धरती में समा जाती है, इससे घर की रक्षा रहती है । पाषाण के त्रिशूल बहुत थोड़े मंदिरों में होते हैं । उसमें यह गुण तो नहीं हैं पर यह उपदेश दोनों प्रकार के त्रिशूल देते हैं कि मनुष्य के शारीरिक, सामाजिक एवं मानसिक दौर्बल्यजनित भय सदा डराया करते हैं कि देखो शिव के शरण जाओगे तो तुम्हारे संसारी मित्र तुम्हें पागल समझेंगे । तुम्हारा शरीर और मन विषयों से बंचित रह के दुख पावैगा । अथवा कायिक, वाचिक, मानसिक, कुबासना बड़े 2 लालच दिखाया करती हैं कि हमारे साथ रहने में जीवन का साफल्य है, नहीं तो और संसार में हई क्या ? पर यदि तुम इन संकल्प विकल्प, जनित भय लालच शंकादि की कुछ भटक न करके आगे ही पाँव उठाए जाव तो निश्चय हो जायगा कि यह त्रिशूल देखने ही मात्र को हैं, तुम्हें कुछ बाधा नहीं कर सकते !

तुम जब तक शिव के सम्मुख होने को कटिबद्ध न थे तभी तक भ्रमोत्पादन करने मात्र की शक्ति इनमें थी ! आगे बढ़िए तो कीर्तिमुख नामक गण की झाँकी होगी, (बहुधा शिवालयों में अरघा के पास वा कुछ दूर पर मनुष्य का सा सिर बना रहता है, वही कीर्तिमुख है) । इनके विषय में पुराणों में लिखा है कि एक बार क्षुधित हुए, शिव जी से खाने को माँगा तो उन्होंने कहा कि यहाँ क्या कर रखा है, अपने ही हाथ पाँव खा डालो । इस पर इन्होंने ऐसा ही किया ! तब से यह भोलानाथ को अत्यंत प्यारे हैं !! इस कथा का मूलोद्देश्य यह है कि प्रियतम की आज्ञा से यहाँ तक मुँह न मोड़ो तो निस्संदेह वह कल्याणमय तुम्हें अतिशय प्यार करेगा !!!

कीर्तिमुख जी के दर्शन करके श्री 108 नागरीदास जी के इस प्रेममय बचन का स्मरण करो तो एक अनिर्वचनीय स्वादु पावोगे, मानो स्वयं कीर्तिमुख ही आज्ञा कर रहे हैं कि "सीस काटि आगे धरौ तापर राखै पाँव । इश्क चमन के बीच में ऐसा हो तो आव ।।1।।" और कुछ चल के नंदिकेश्वर जी के दर्शन होंगे, जिन्हें लड़के बूढ़े सभी जानते हैं कि महेश्वर जी के वाहन हैं, मुख्य गण हैं, उन्हें बहुत प्रिय हैं, बरंच वे वही हैं ! यह इस बात का रूपक है कि यदि हम परमेश्वर के अभिन्न मित्र हुवा चाहें तो हमें चाहिए कि अपने मनुष्यत्व का अभिमान यहाँ तक छोड़ दें कि मानो हम बैल हैं ! पर स्मरण रक्खो, बैल बनना सहज नहीं है !

अपना पेट घास ही भूसे से भरना पर लोकोपकारार्थ सदा सब रीति से प्रस्तुत रहना ! विशेषतः कृषि विद्या तो एक समय भारतसंपत्ति का मूल थी, 'उत्तम खेती मध्यम बान' आज तक प्रसिद्ध है, पर समय के फेर से इन दिनों लुप्त सी हो गई है, उसके लिए जीवन भर बिता देना बैल ही का काम है । या यों कहो, शंकर स्वामी के परम मित्र का धर्म है कठिन परिश्रम करके दूसरों के लिए अन्न वस्त्र उपजाना—कैसा ही बोझ उठाना हो, कैसे ही शीत उष्ण बरषा सह के बन बीहड़ में जाना हो, कभी हिम्मत न हारना—मर जाने पर भी पृथ्वी सींचने को पुर, लोगों की पदरक्षा के लिए जूती, वस्त्राभरण धरने को संदूक, कठिन वस्तु जोड़ने को सरेस वृषभ ही से प्राप्त होता है । यदि हम भी ऐसे ही बन जायँ कि अपने दुख सुख की चिंता न करके संसार के उपकार में धैर्य के साथ श्रम करते रहें, जगत् के हितार्थ कहीं जाना हो,

कुछ ही करना हो, कभी हिचिर मिचिर न करें, वह आचरण रक्खें कि हमारे मरणानंतर भी हमारे किए हुए कामों तथा लिखे हुए वचनों से पृथ्वी के लोगों के हृदय में प्रेमजल से सिंचित हों, लोग स्वदेशोन्नति के पथावलंबन में सहारा पावैं, देशभाई अपनी श्रद्धा रूपी पूँजी का आधार बनावैं तथा पाषाण सदृश चित्त वाले भी आपस का मेल सीखैं, बस तभी हम विश्वनाथ को प्यारे होंगे । तभी वह प्रेमदेव हृदय में आरूढ़ होगा । जिसे यह सब बातें स्वीकृत हैं उसे शिवदर्शन दुरलभ नहीं है ।

यद्यपि शिवमंदिर में गणेश, सूर्य, भैरवादि की प्रतिमा भो कहीं 2 देख पड़ती हैं पर उनके मुख्य पार्षद यही हैं । दूसरे देवताओं के मंदिर अलग भी बनते हैं अतः उनका वर्णन यहाँ पर विशेष रूप से आवश्यक नहीं है, इससे हमारे पाठकों को शिवदर्शन की ओर झुकना चाहिए । पर यदि केवल बुद्धि के नेत्रों से देखिएगा तो पत्थर देखिएगा । हाँ, यदि प्रेम की आँखैं हों तो उस अप्रतिम की प्रतिमा तुम्हारे आगे विद्यमान है !

शिवमूर्ति—इसको प्रेम लगा के देखिए, यह हमारे प्रेमदेव भगवान भूतनाथ सब प्रकार से अकथ्य अप्रतर्क्य एवं अचिंत्य हैं तौ भी भक्तजन अपनी रुचि के अनुसार उनका रूप, गुण, स्वभाव कल्पित कर लेते हैं । उनकी सभी बातें सत्य हैं अतः उनके विषय में जो कुछ कहा जाय सब सत्य हैं । मनुष्य की भाँति वे नाड़ी आदि बंधन से बद्ध नहीं हैं, इससे हम उन्हें निराकार कह सकते हैं और प्रेमचक्षु से अपने मनोमंदिर में दर्शन करके साकार भी कह सकते हैं । उनका यथातथ्य वर्णन कोई नहीं कर सकता तौ भी जितना जो कुछ अभी तक कहा गया है और आगे के मननशील कहेंगे वह सब शास्त्रार्थ के आगे निरी बकबक है और विश्वास के आगे मनः शांतिकारक सत्य है । महात्मा कबीर ने इस विषय में सच कहा है कि जैसे कई अंधों के आगे हाथी आवै और कोई उसका नाम बता दे तो सब उसे टटोलेंगे—यह तो संभव ही नहीं है कि मनुष्य के बालक की भाँति उसे गोद में ले सब जने उसके सब अवयव का ठीक 2 बोध कर लें । एक 2 जन केवल एक 2 अंग टटोल सकता है और दाँत टटोलने वाला हाथी को खूँटी के समान, कान छूने वाला सूप क़े सदृश, पाँव स्पर्श करने वाला खम्भे की नाईं कहेगा । यद्यपि हाथी न खूँटे के समान है न खम्भे के समान पर कहने वाले की बात झूठ भी नहीं है । उसने भली भाँति निश्चय किया है और वास्तव में हाथी का एक 2 अंग वैसा ही है भी ।

ईश्वर के विषय में मानवी बुद्धि की भी ठीक यही दशा है । हम पूरा 2 वर्णन कर लें तो वुह अनंत कैसे ? और यदि निरा अनंत मान के हम अपने मन वचन को उनकी ओर से फेर लें तो हम आस्तिक कैसे ? सिद्धांत यह कि हमारी बुद्धि जहाँ तक है वहाँ तक उनकी स्तुति प्रार्थना, ध्यान उपासना कर सकते हैं और इसी से हम शांति लाभ करेंगे । उनके साथ जिस प्रकार से जितना संबंध रख सकें उतना ही हमारे मन, बुद्धि, आत्मा संसार, परमार्थ के लिए मंगल है । जो लोग केवल जगत् के दिखाने तथा सामाजिक नियम निभाने को इस विषय में कुछ करते हैं वे व्यर्थ समय न बितावैं, जितनी देर पूजा पाठ करते हैं उतनी देर कमाने खाने, पढ़ने, गुनने में रहें तो उत्तम हैं और जो केवल शास्त्रार्थी आस्तिक हैं वे भी व्यर्थ ईश्वर को पिता बना के माता को कलंक लगाते हैं । माता कह के बिचारे बाप को दोषी ठहराते हैं, साकार कल्पना करके व्यापकता और निराकार कह के अस्तित्व का लोप करते हैं । हमारा यह लेख केवल उनके लिए है जो अपनी विचारशक्ति को काम में लाते हैं और जगदीश्वर के साथ जीवित संबंध रख के हृदय में आनंद पाते हैं तथा आप लाभकारक बातों को समझ के दूसरों को समझाते भी हैं ।

प्रियवर ! उसकी सब बातें अनंत हैं अतः मूर्तियाँ भी अनंत प्रकार की बन सकती हैं । पर हमारी

बुद्धि अनंत नहीं है इससे कुछ रीति की प्रतिमाओं का वर्णन करते हैं। यह भी सब जानते हैं कि अनंत की एक 2 प्रतिकृति का एक 2 अंग भी अनंत भाव, अनंत भलाई, अनंत सुख से भरा होना चाहिए पर हम अनंत नहीं हैं इससे थोड़ी ही सी बातों पर लेख का अंत करेंगे।

मूर्ति बहुधा पाषाण की होती है। इसका यह भाव है कि उनसे हमारा दृढ़ संबंध है। पदार्थों की उपमा पाषाण से दी जाती है। हमारे विश्वास की नेंव पत्थर पर है। हमारा धर्म पत्थर का है। ऐसा नहीं है कि सहज में और का और हो जाय। बड़ा सुभीता यह भी है कि एक बेर प्रतिमा पथराय दी, कई पीढ़ियों को छुट्टी हुई, चाहे जैसे असावधान पूजक आवैं कुछ हानि नहीं हो सकती।

धातु विग्रह का यह तात्पर्य है कि हमारा प्रभु द्रवणशील अर्थात् दयामय है। जहाँ हमारे हृदय में प्रेमाग्नि धधकी वहीं वुह हम पर पिघल उठे। यदि हम सच्चे तदीय हैं तो वुह हमारी दशा के अनुसार हमारे साथ बर्ताव करेंगे। यह नहीं कि ईश्वर अपने नियम पालन से काम रखता है, कोई मरे चाहै जिए।

रतनमयी प्रतिकृति का यह अर्थ है कि हमारा ईश्वरीय संबंध अमूल्य है। जैसे पन्ना पुखराज आदि की मूर्ति बिना एक गृहस्थी भर का धन लगाए हाथ नहीं आती, यह बड़े अमीर का साध्य है, वैसे ही प्रेमस्वरूप परमात्मा ही हमको तभी मिलेंगे जब हम ज्ञानाज्ञान का सारा अभिमान खो दें। यह भी बड़े ही मनुष्य का काम है।

मृत्तिकामयी प्रतिमा का प्रयोजन है कि उनकी सेवा हम सब ठौर कर सकते हैं। जैसे मट्टी और जल का अभाव कहीं नहीं है ऐसे ही उनका वियोग भी कहीं नहीं है। धन और गुण का भी उनके मिलने में काम नहीं है। वे निरधनों के धन हैं। जिसे जीवनयात्रा का कोई सहारा नहीं वुह मट्टी बेंच के पेट पाल सकता है। यों ही जिसे कहीं गति नहीं उसके सहायक कैलाशवासी हैं। सब पदार्थ का आदि मध्यावसान ईश्वर के सहारे है। इस बात का दृष्टांत भी मृत्तिका ही पर खूब घटता है। इसके अतिरिक्त पार्थिवेश्वर का बनना भी बहुत सहज है। लड़के भी माटी सान के निर्मान कर लेते हैं। यह इस बात की सूचना है 'हुनरमंदों से पूछे जाते हैं वां बेहुनर पहिले।'

गोबर का स्वरूप यह प्रकट करता है कि ईश्वर आत्मिक रोगों का नाशक है। हृदय मंदिर की कुवासना रूपी दुर्गंध वही दूर करता है।

पारदेश्वर (पारे की मूर्ति) यह प्रकाश करते हैं कि परमेश्वर हमारे पुष्टिकारक हैं— 'सुगंधम्पुष्टिवर्द्धनं' वेद वाक्य है।

यदि मूर्ति बनाने बनवाने की सामर्थ्य न हो तो पृथिवी, जल आदि अष्टमूर्ति बनी बनाई विद्यमान है। वास्तविक प्रेममूर्ति मन के मंदिर में ही है पर तौ यह दृश्य मूर्तियाँ भी निरर्थक नहीं हैं। इनके कल्पना करने वालों की विद्या और बुद्धि प्रतिमानिंदकों से अधिक ही थी। मूर्तियों के रंग भी यद्यपि अनेक होते हैं पर मुख्य रंग तीन ही हैं 1—श्वेत, 2—रक्त, 3—श्याम। और सब इन्हीं का विकार है इससे इन्हीं का वर्णन आवश्यक है। उसमें—

पहिले श्वेत रंग की प्रतिमा से यह सूचित होता है कि परमेश्वर शुद्ध एवं स्वच्छ है— 'शुद्धमपापविद्धं'। उसकी किसी बात में किसी का कुछ मेल नहीं है। वुह 'वहेदहूलाशरीक' है पर सभी उसके आश्रित हैं। जैसे उजला रंग सब रंगों का आश्रय है वैसे ही सबका आश्रय परब्रह्म है। सर्वेरसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ। उत्पद्यंते विलीयंते यत्र सः प्रेमसंज्ञकः'। वह त्रिगुणातीत तो हई पर

त्रिगुणालय भी उसके बिना कोई नहीं है औ यदि उसे सतोगुणमय भी कहें (सतोगुण श्वेत है) तो कोई बेअदबी नहीं है ।

दूसरा लाल रंग रजोगुण का द्योतक है । यह कौन कह सकता है कि यह संसार भर का ऐश्वर्य किसी अन्य का है । कविता के आचार्यों के अनुराग का भी अरुणवरण वर्णन किया है । फिर अनुरागदेव का रंग और क्या होगा ? काले रंग का तात्पर्य सभी सोच सकते हैं कि सबसे पक्का यही है । इस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता । यों ही प्रेमदेव सबसे अधिक पक्के हैं । उन पर दूसरे का रंग क्या जमेगा ? इसके सिवा दृश्यमान जगत् के प्रदर्शक नेत्र हैं । उनकी पुतली काली होती है । भीतर का प्रकाशक प्रज्ञान है । उसकी प्रकाशिनी विद्या है जिसकी सारी पुस्तकें काली ही स्याही से लिखी जाती हैं । फिर कहिए जिसे भीतर बाहर का प्रकाश है, जो प्रेमियों को आँख की पुतली से भी प्यारा है, जो अनंत विद्यामय है– 'सर्वेवेदायत्रचैकीभवंति'–उसका और कौन रंग मानें ? हमारे रसिक पाठक जानते हैं किसी सुंदर व्यक्ति के नयन में काजल और गोरे गालों पर तिल कैसा भला लगता है कि कवियों की पूरी शक्ति और रसज्ञों का सर्वस्व एक बार उस छबि पर निछाबर हो जाता है । फिर कहिए सर्वशोभामय परम सुंदर का कौन रंग कल्पना कीजिएगा ?

समस्त शरीर में सर्वोपरि शिर है । उस पर केश कैसे होते हैं ? फिर सर्वोत्कृष्ट महेश्वर का और क्या रंग होगा ? यदि कोई लाखों योजन का बहुत बड़ा मैदान हो और रात को उसका अंत लिया चाहो तो सौ दो सौ दीपक जलाओगे । पर क्या उनमें उस स्थल का छोर देख लोगे ? नहीं, जहाँ तक दीपों का प्रकाश है वहीं तक कुछ सूझेगा, फिर बस 'तमसा गूढ़मग्रे' । ऐसे ही हमारे बड़े 2 महर्षियों की बुद्धि जिसका भेद नहीं प्रकाश कर सकती उसे अप्रकाशवत् न मानें तो क्या मानें ? श्री रामचंद्र कृष्णचंद्रादि को यदि अँगरेजी जमाने वाले ईश्वर न भी मानें तौ भी यह मानना पड़ेगा कि हमारी अपेक्षा उनसे और ईश्वर से अधिक संबंध था । फिर हम क्यों न कहें कि यदि उस परात्पर का कुछ अस्तित्व है तो रंग यही होगा क्योंकि उसके निज के लोग कई एक इसी रंग ढंग के हैं । अब आकारों का विचार कीजिए तो अधिकतः शिवमूर्ति लिंगाकार होती है जिसमें हाथ पाँव मुख नेत्र कुछ नहीं होते । सब मूर्तिपूजक कहते हैं कि हम प्रतिमा को स्वयं ब्रह्म नहीं मानते, न यही मानते हैं कि यह उसकी यथातथ्य प्रतिकृति है । केवल परमदेव की सेवा करने तथा अपना मन लगाने के लिए यह संकेत तथा चिह्न नियत कर लेते हैं । यह बात आदि में शैवों के ही घर से निकली है । क्योंकि लिंग शब्द का अर्थ ही चिह्न है और सच भी यही है । जो वस्तु बाहरी नेत्रों से देखी नहीं जाती उसकी ठीक 2 मूर्ति ही क्या ? आनंद की कैसी मूर्ति, दुःख की कैसी मूर्ति, राग रागिनियों की कैसी मूर्ति ? केवल मनः कल्पना द्वारा उसके गुणों का कुछ 2 द्योतन करने के योग्य कोई संकेत । बस ठीक इसी प्रकार ज्योतिर्लिंग है । सृष्टिकर्तृत्व, अचिंत्यत्व, अप्रतिमत्वादि कई बातें लिंगाकार मूर्ति से ज्ञात होती हैं ।

ईश्वर कैसा है, यह बात पूर्ण रूप से कोई नहीं कह सकता । अर्थात् उसकी सभी बातें गोलमाल हैं । बस यही बात गोल-मठोल ठीक मूर्ति भी सूचित करती है । यदि 'न तस्य प्रतिमास्ति' इस वेद वचन का यही अर्थ है कि ईश्वर के प्रतिमा नहीं है तो इसका ठीक रूपक शिवलिंग ही है क्योंकि जिस्में हस्तपादादि कुछ नहीं है उसे प्रतिमा कौन कहेगा ! पर यदि कोई मोटी बुद्धि वाला कहे कि यदि कुछ अवयव ही नहीं है तो यही क्यों नहीं कहते कि कुछ नहीं ही है । तो हम उत्तर दे सकते हैं कि आँखें हों तो देखो, फिर धर्म से कहना कि कुछ है अथवा नहीं है ।

तात्पर्य यह है कि 'कुछ है' एवं 'कुछ नहीं है' यह दोनों बातें ईश्वर के विषय में न हाँ कहीं जा सकें न नहीं कहते बने, और हाँ कहना भी ठीक है तथा नहीं कहना भी ठीक है– 'का कहिए कहते न बने कछु है कि नहीं कछु है न नहीं है' । क्योंकि ईश्वर तो मन वचनादि का विषय ही नहीं है । वहाँ केवल अनुभव का काम है । इसी भाँति शिवमूर्ति भी समझ लीजिए । कुछ नहीं है तौ भी सभी कुछ है ! वास्तव में यह विषय ऐसा है कि जितना सोचा समझा कहा जाय उतना ही बढ़ता जायगा, बकने वाला जन्म भर बके पर सुनने वाला यही जानेगा कि अभी श्रीगणेशाय नमः हुई है । इसी से महात्मा लोग कह गए हैं कि 'ईश्वर को वाद में न ढूँढ़ो बरंच विश्वास में' । इसलिये हम भी उत्तम समझते हैं कि सावयव मूर्तियों के वर्णन की ओर झुकें । क्योंकि यदि पाठकगण विश्वास के साथ भजन करेंगे तो आप उस अरूप का रूप समझने लगेंगे । हम रूपवान के उपासक हैं, हमें अरूप से क्या । हमारे लिए तो उन्हें भी रूप धारण करना पड़ता है ।

जानना चाहिए कि जो जैसा होता है उसकी कल्पना भी वैसी ही होती है । यह संसार का स्वाभाविक धर्म है । जो वस्तु हमारे आसपास हैं उन्हीं पर हमारी बुद्धि दौड़ती है । फारस अरब और इङ्गलिस्तान के कवि जब संसार की अनित्यता का वर्णन करने लगेंगे तब कबरिस्तान का नकशा खींचेंगे क्योंकि उनके यहाँ श्मशान होते ही नहीं हैं । वे यह न कहें तो क्या कहें कि 'बड़े 2 बादशाह खाक में दबे पड़े हैं' । यदि कब्र का तख्ता उठाकर देखा जाय तो शायद दो चार हड्डियाँ निकलेंगी जिन पर यह नहीं लिखा कि यह सिकंदर की हड्डी है, यह दारा की इत्यादि । हमारे यहाँ उक्त विषय में श्मशान का वर्णन होगा–शिर पीड़ा जिनकी नहिं हेरी । करत कपाल क्रिया तिन केरी ॥ फूल बोझहू जिन न संभारे । तिन पर बोझ काठ बहु डारे । इत्यादि । क्योंकि कब्रों की चाल यहाँ विदेशियों की चलाई है ।

यूरोप में सुंदरता वर्णन करेंगे तो अलकावली का रंग काला कभी न कहेंगे और हिंदुस्तान में ताम्र वर्ण के केश सुंदर न समझे जायँगे । ऐसे ही सब बातों में समझ लीजिए तब जान जाइएगा कि ईश्वर के विषय में बुद्धि दौड़ाने वाले सदा सब ठौर मनुष्य ही हैं । अतः सब कहीं उसके स्वरूप की कल्पना मनुष्य के स्वरूप के समान की गई है । क्रिस्तानों और मुसलमानों के यहाँ भी कहीं 2 खुदा के दाहिने तथा बाएँ हाथ का वर्णन है ! बरंच यह खुला हुवा लिखा है कि उसने आदम को अपनी सूरत में बनाया । पादरी साहब तथा मौलवी साहब चाहे जैसी उलट फेर की बातें कहें पर इसका यह भाव कहीं न जायगा कि अगर खुदा की कोई शक्ल है तो आदम ही की सी शक्ल होगी ।

हो चाहे जैसा पर हम यदि ईश्वर को अपना आत्मीय मानेंगे तो अवश्य ऐसा ही मानना पड़ेगा जैसों से प्रत्यक्ष में हमारा संबंध है । हमारे माता पिता, भाई बहिन, राजा रानी, गुरु गुरुपत्नी इत्यादि, जिनको हम अपने प्रेम प्रतिष्ठा का आधार मानते हैं, उन सबके हमारी ही भाँति हाथ पाँव इत्यादि है तो हमारा सर्वोत्कृष्ट बंधु कैसा होगा ? बस इसी मूल पर सब सावयव मूर्तियाँ मनुष्य के से रूप की बनाई जाती हैं ! विष्णुदेव की सुंदर सौम्य प्रतिमा प्रेमोत्पादनार्थ है क्योंकि खूबसूरती पर चित्त अधिक लगता है । भैरवादि की भयानक प्रतिकृति इस बचना के अर्थ है कि हमारा प्रभु हमारे शत्रुओं के भयकारक है अथवा हम उसकी मंगलमयी सृष्टि में विघ्न करेंगे तो वुह कभी उपेक्षा न करेगा, क्योंकि वुह क्रोधी है । इसी प्रकार शिवमूर्तियों में भी कई विशेषता हैं जिनके द्वारा हम यह उपकार लाभ कर सकते हैं ।

शिर पर गंगा होने का यह भाव है कि गंगा हमारे देश की संसार परमार्थ की सर्वस्व हैं । पापी पुण्यात्मा सबकी सुखदायिनी हैं । भारत के सब संप्रदायों में माननीया हैं । (गंगाजी की महिमा अनेक ग्रंथों

में वर्णित है। जल तथा बालुका अनेक रोग नाश करती है । अनेक नगरों की शोभा, अनेक जीवों की पालना इन्हीं पर निर्भर है । मरने पर माता पिता सब छोड़ देंगे पर गंगा माई अपने में मिला लेंगी इत्यादि अनेक बातें परम प्रसिद्ध हैं । अतः इस विषय को यहाँ बहुत न बढ़ा के आगे चलते हैं ।) और भगवान भवानी भावन विश्वव्यापी हैं तो विश्वव्यापक की मूर्ति कल्पना में जगत् का सर्वोपरि पदार्थ ही शिरस्थानी कहा जा सकता है । पुराणों में गंगा जी की उत्पत्ति विष्णु भगवान के चरणारविंद से मानी गई है और शिव जी को परम वैष्णव लिखा है । उस परम वैष्णवता की पुष्टि इससे उत्तम और क्या हो सकती है कि यह उनके चरणोदक को शिर पर धारण करें । यों ही विष्णुदेव को परम शैव कहा है । कथा है कि लक्ष्मीपति सदा सहस्र कमल ले के पार्वतीपति की पूजा किया करते हैं । एक दिन एक कमल घट गया तो उन्होंने यह विचार के कि हमारा नाम पुंडरीकाक्ष है, एक नेत्ररूपी पुंडरीक अपने इष्टदेव के पाद पद्म पर अर्पण कर दिया !

सच है इससे अधिक शैवता और क्या होगी । शास्त्रार्थ के लती ऐसे उपाख्यानों पर अनेक कुतर्क कर सकते हैं पर उनका उत्तर हम कभी पुराण प्रतिपादन में देंगे, इस स्थल पर केवल इतना ही कहेंगे कि कविता पढ़े बिना ऐसे लेख समझना कोटि जन्म असंभव है । हाँ इतना कह सकते हैं कि यह भगवान बैकुंठनाथ की शैवता और कैलाशनाथ की वैशनवता का अलंकारिक वर्णन है । वास्तव में विष्णु अर्थात् व्यापक एवं शिव अर्थात् कल्याणमय यह दोनों एक ही प्रेम स्वरूप के नाम हैं पर उसका वर्णन पूर्णतया असंभव होने के कारण कुछ 2 गुण एकत्र करके दो रूप कल्पना कर लिए गए हैं जिसमें कवियों की वाणी को सहारा मिलै ।

हमारा प्रस्तुत विषय शिवमूर्ति है और यह शैव समाज का आधार है अतः इन अप्रतर्क्य विषयों का दिग्दर्शन मात्र करके अपने शैव भाइयों से पूछा चाहते हैं कि आप भगवान गंगाधर के पूजक हो के वैष्णवों के साथ किस बिरते पर द्वेष रख सकते हैं ? यदि धर्म से मतवाद प्रिय हो तो अपने प्रेमाधार को गंगाधर अथच परम भागवत कहना छोड़ दीजिए । नहीं तो सच्चा शैव हो सकता है जो वैष्णवमात्र को अपना देवता समझे । जब परम महादेव जी हैं तो साधारण वैष्णव देव क्यों न होंगे ? इसी प्रकार यह भी समझने की बात है कि गंगा जी परम शक्ति हैं । इससे शाक्तों के साथ विरोध रखना भी अनुचित है । यद्यपि हमारी समझ में तो आस्तिक मात्र को किसी से द्वेष रखना पाप है, क्योंकि सब हमारे जगदीश ही की प्रजा हैं । इस नाते सभी हमारे बांधव हैं ।

विशेषतः शैव समूह को वैष्णव और शाक्त लोगों से विशेष संबंध ठहरा । अतः इन्हें तो परस्पर महा मित्रता से रहना चाहिए । और सुनिए गाणपत्य हमारे प्रभु के पुत्र को ही पूजते हैं अतः इनके लिए भी सदा शिव से यही प्रार्थना करनी चाहिए कि 'करहु कृपा शिशु सेवक जानी' । सूर्यनारायण शिवशंकर का नेत्र ही हैं— 'वंदे सूर्यशशांकवह्निनयनं' । फिर क्या नयन शरीर से अलग हैं जो तुम सूर्योपासकों को अपने से भिन्न समझते हो ? भारत का क्या ही सौभाग्य था यदि यह पाँचों मत एकता धारण करके पंच परमेश्वर बनते ! अस्तु अपने 2 मत का तत्व समझेंगे तभी सही ! शिवमूर्ति में अकेली गंगा कितनी हितकारिणी हैं इस पर जितना सोचिएगा उतना ही कल्याण है । अब दूसरी छवि देखिए ।

बहुत सी मूर्तियों के पाँच मुख होते हैं जिससे यह जान पड़ता है कि यावत् संसार और परमार्थ का तत्व तो आप चार वेदों में पाइएगा पर यह मत समझिएगा कि वेद विद्या ही से भी उनका रूप गुण अधिक है । वेद उनकी वाणी है पर चार पुस्तकों ही पर उनकी वाणी समाप्त नहीं हो गई ! एक मुख

और है एवं वुह सबके ऊपर है जिसकी मधुर वाणी केवल प्रेमी सुनते हैं। विद्याभिमानी जन बहुत होगा चार वेद द्वारा चार फल (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) प्राप्त कर लेंगे। पर वुह पंचम मुख संबंधी सुख औरों के लिए है। जिसने चारों ओर से अपना मुख फेर लिया है वही प्रेममय मुख का दर्शन पाता है।

तीन नेत्र से यह अभिप्राय है कि वह त्रैलोक्य एवं त्रिकाल के लोगों के त्रिगुणात्मक (सात्विक, राजस, तामस) तीनों प्रकार के (कायिक, वाचिक, मानसिक) भावों को देखते हैं। सूर्य, चंद्रमा, अग्नि उनके नेत्र हैं अर्थात् उनका विचार करने वाले के हृदय में प्रकाश होता है। उनकी आँखें देखने वाले (सर्वथा उन्हीं के आश्रित) को आनंद मिलता है। शीतलता प्राप्त होती है। उनके विमुख जला करते हैं। या यों समझ लो कि वे आँख उठते ही हमारे पाप ताप शाप दुःख दुर्गुण दुराश सबको भस्म कर देते हैं।

उनके मस्तक पर दुइज का चंद्रमा है अर्थात् जो कोई अपने को महाक्षीण, अति दीन समझता है, 'पापपीनस्य दीनस्य कृष्ण एवं गतिर्मम्' जिसके मन बचन से सदा निकला करता है वही भगवान को शिरोधार्य है—'बंदौं सीताराम पद जिन्हें परम प्रिय खिन्न' !

यही भाव कपाल माला से भी है ! जो जीते हुए मृतकवत रहते हैं अर्थात् अपने जीवन को कुछ समझते ही नहीं, पराए लिए निज प्राण तृणवत् समझते हैं, वही लोग उनके गले का हार हैं।

चिता भस्म सदृश अपने को निरा निकम्मा महा अपावन समझो तो वुह तुम्हें अपना भूषण समझेंगे। जब तुम सच्चे जी से अपने पापों को स्वीकार कर लोगे, गदगद स्वर से कहोगे कि 'हे प्रभो ! हम सर्प हैं। संसार के देखने मात्र को ऊपर से चिकने 2 कोमल 2 बने रहते हैं पर भीतर (हृदय में) विष (कुवासना) ही भरा है, 'मो सम कौन कुटिल खल कामी। तुमसे काह छिपी करुनानिधि सबके अंतरजामी ।।' इत्यादि कहने ही से वुह तुम्हें अपनावैंगे। यदि हमको यह अभिमान हो कि हम पूरे नक्षत्र नायक के समान कीर्तिमान हैं तो संसार को चाहै जैसी चमक दमक दिखा लें पर हैं वास्तव में कलंकी !

हमारा अस्तित्व दिन 2 क्षीण होने वाला है। ऐसे अहंकारी को भोलानाथ कभी अंगीकार न करेंगे, उसी को निष्कलंक बनावेंगे, जो शशि सम होने पर भी दीनता स्वीकार करे। चंद्रशेखर नाम का यह भी भय भाव है कि 'चद् आह्लादने' धातु से चंद्र शब्द बनता है और सब सुख प्रेम ही में होता है। एवं नित्य वर्द्धमान, निष्कलंक, अमृतमय होने से द्वितीया के चंद्रमा से प्रेम का सादृश्य भी है इससे यह अर्थ हुआ कि जिसके गुणों का सर्वोपरि भूषण प्रेम है वही चंद्रमौलि है ! शिव चिताभस्मधारी हैं इससे उनके उपासक भी भस्म लगाया करते हैं जिससे बहुतेरे डॉक्टरों के मतानुसार शरीर के अनेक रोग नाश होते हैं और बिजली शक्ति बढ़ती है। आत्मा को भी लाभ हो सकता है कि जब 2 अपने शरीर को देखेंगे तब 2 प्रभु के चिता भस्म लेपन की सुध होगी और चिता का ध्यान होते ही संसार की अनित्यता का स्मरण बना रहेगा। अगले बुद्धिमानों का बचन है कि 'ईश्वर और मृत्यु को सदा याद रखना चाहिए।' इससे बहुतेरी बुराइयाँ छुटी रहती हैं। इसी भाँति रुद्राक्ष एवं बड़े 2 बाल भी स्वास्थ्य के लिए उपयोगी हैं पर यह विषय अन्य है अतः केवल वर्णनीय विषय लिखा जाता है।

शिवमूर्ति के गले में विष की श्यामता का चिह्न होता है। जब समुद्र के मथने के समय महा तीक्ष्ण हलाहल निकला और कोई उसकी मार सह न सका तो आप उसे पान कर गए। तभी से गरलकंठ कहलाते हैं। इस पर श्री पुष्पदंताचार्य ने कितना अच्छा सिद्धांत निकाला है कि 'विकारोपिश्लाध्यो भुवन भयभंग व्यसनिनः'। यहाँ हम शिवभक्तों से प्रश्न करेंगे कि जब हमारे प्रभु ने जगत् की रक्षा के हेतु विष

तक पी लिया है तो हमें निज देश के हितार्थ क्या कुछ भी कष्ट अथवा हानि न सहना चाहिए ?

उनके एक हाथ में त्रिशुल है अर्थात् दैहिक दैविक भौतिक दुःख उनकी मुट्ठी में है । फिर उनके भक्त संसार से क्यों न निर्भय रहें । उस सर्वशक्तिमान के पंजे से छूटेंगे तब हम पर चोट करेंगे । भला यह कब संभव है ? हमारा प्रभु हमारी रक्षा के अर्थ सदा शस्त्र धारण किए रहता है फिर हम क्यों डरें । हमारे विश्वनाथ त्रिशूल प्रहारक हैं अतः हमें कोई निष्कारण सतावैगा तो वुह कहाँ बच के जायगा ? हमारा या यों कहो कि संसार के शुभचिंतकों का शत्रु पृथिवी स्वर्ग पाताल कहीं न बचेगा । भगवान का नाम ही त्रिपुरारि है अर्थात् त्रैलोक्य के असुर प्रकृति वालों का शत्रु ! हाँ, प्रिय शैव गण ! यदि तुममें कोई भी आसुरी प्रकृति हो, स्वार्थ के आगे देश की चिंता न हो, देशी भाइयों से द्वेष हो, आलस्य हो, दंभ हो, पर संताप हो तो डरो सृष्टि संहारक के त्रिशूल से ! और यदि सरलता के साथ उनके चरण और सदाचरण में श्रद्धा है तो समस्त सूल को वे स्वयं प्रहार कर डालेंगे । कभी 2 कालचक्र की गति से सच्चे शैव को भी रोग वियोगादि शूल दुख देते हैं पर उसे संसारी लोगों की भाँति कष्ट नहीं होता । क्योंकि निश्चय रहता है कि यह प्रेमपात्र का चोंचला मात्र है, न जाने किस उमंग में आके त्रिशूल दिखला दिया है पर अब हम चोट कदापि न करेंगे ।

दूसरे हाथ में डमरू है । पंडित लोग जानते हैं कि व्याकरणादि कई विद्याओं के अइउणऋलृकादि मूल सूत्र इसी डमरू के शब्द से निकले हैं । इस बात का इशारा है कि सब विद्या उनकी मूठी में हैं । पर हमारी समझ में एक बात आती है कि यदि वे केवल त्रिशूलधारी ही होते तो हम निर्बलों को केवल उनका भय होता इसीलिए एक बाजा भी पास रखते हैं जिसमें हमें निश्चय रहे कि निरे न्यायी, निरे दुष्टदलन, निरे युद्धप्रिय ही नहीं हैं बरंच अपने लोगों के लिए गानरसिक भी हैं । मनुष्य की मनोवृत्ति गाने बजाने की ओर आप ही खिंच जाती है । फिर भला जिसकी ओर चित्त लगाना हमें परमावश्यक है वुह प्रभु हमारे चित्त को अपनी ओर खींचने के अर्थ गानप्रिय क्यों न हो ! सैकड़ों बार देखा गया है कि कभी 2 किसी कारण के बिना भी हमारा मन उनके निकट जा रहता है इसका कारण यही है कि उनका रूप गुण स्वभाव हृदयग्राही है । धन्य है उस पुरुषरत्न का जीवन जिसके मन की आँखों में सदा उनकी छबि बसती है और अंतःकरण के करण में नित्य प्रेम डमरू की ध्वनि पूरी रहती है । संसार में जितने सुहावने शब्द सुनाई देते हैं सब उसी डमरू के शब्द हैं, क्योंकि सबको उन्हीं के हाथ का सहारा है ।

कोई 2 मूर्ति अर्द्धांगी होती है, अर्थात् एक ही मूर्ति में एक ओर शिव और एक ओर पार्वती देवी । ऐसी झाँकी से यह अकथ्य महिमा विदित होती है कि वुह अष्ट प्रहर अपनी प्यारी को बामांक में धारण करने पर भी योगीश्वर एवं मदनांतक हैं । क्या यह सामर्थ्य किसी दूसरे को हो सकती है ? हाँ, जिस पर उन्हीं की विशेष दया हो । धन्य प्रभो ! यह दूध और खटाई की एकत्र स्थिति तुम्हीं कर सकते हो । हमारी कवि समाज के मुकुटमणि गोस्वामी तुलसीदास जी ने जनक महाराज की प्रशंसा में कहा है कि 'योग भोग महँ राखेउ गोई । राम बिलोकत प्रगटेउँ सोई !'

यदि गोस्वामी महाराज को हमसे दैहिक संबंध होता तो उनसे एक ऐसी चौपाई अनुरोधपूर्वक बनवाते कि 'योग भोग दोऊ प्रगट दिखाई । सूचत अति अतर्क्य प्रभुताई ।' हमारे कान्यकुब्ज भाई अधिकतर शैव ही हैं पर देश के दुर्भाग्य से ऐसी प्रतिमा देख के यह उपदेश नहीं सीखते कि 'जो हरि सोई राधिका, जो शिव सोई शक्ति । जो नारी सोई पुरुष है, यामे कतृ न विभक्ति ।' नहीं तो शैवों का यह परम कर्तव्य है कि अपनी गृह देवी से इतना स्नेह करें कि 'एक जान दो कालिब' बन जायँ और

व्यभिचार के समय यह ध्यान रक्खें कि हमारे भोला बाबा ने जिस कामदेव को भस्म कर दिया है यदि हम उसी भस्मावशिष्ट मन्मथ के हरायल बन जायँगे तौ हम भगवान् को क्या मुँह दिखावैंगे !

कोई 2 प्रतिमा वृषभारूढ़ होती है, पर वृभष का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं, यहाँ केवल इतना और कहेंगे कि नन्दिकेश्वर ही की प्रीति के वश वे पशुपति अर्थात् पशुओं के पालने वाले कहाते हैं अतः पशुओं का पालन विशेषतः वृषभ तथा उसकी अर्धांगिनी का पोषण शैवों का परम धर्म है ।

शिवमूर्ति क्या है और कैसी है यह तो बड़े 2 ऋषि भी नहीं कह सकते पर जैसी बहुत सी प्रतिकृति देखने में आती हैं उनका कुछ 2 वर्णन किया गया । यद्यपि कोई बड़े बुद्धिमान इस विषय में लिखते तो बहुत सी उत्तमोत्तम बातें निकलतीं पर इतना लिखना भी कुछ तो किसी का हित करेहीगा । मरने के पीछे कैलाशवास तो विश्वास की बात है, हमने न कभी कैलाश देखा है न देखने वाले से भेंट तथा पत्रालाप किया है । हाँ, यदि होगा तो प्रत्येक मूर्तिपूजक को हो रहेगा । पर हमारी इस अक्षरमयी मूर्ति के सच्चे सेवकों को संसार ही में कैलाश का सुख प्राप्त होगा इसमें संदेह नहीं है । क्योंकि जहाँ शिव हैं वहीं कैलाश है । तो हमारे हृदय में शिव होंगे तो हृदय नगर कैलाश क्यों न होगा ! हे विश्वपते ! कभी इस मनोमंदिर में बिराजोगे ? कभी वुह दिन दिखाओगे कि भारतवासी मात्र तुम्हारे हो जायँ और यह पवित्र भूमि कैलाश बने !

जिस प्रकार अन्य धातु पाषाणादि मूर्तियों का नाम श्री रामनाथ, वैद्यनाथ, आनंदेश्वर, खेरेश्वरादि होता है वैसे ही इस अक्षरमयी मूर्ति के भी कई नाम हैं—हृदयेश्वर, मंगलेश्वर, भारतेश्वर इत्यादि, पर मुख्य नाम प्रेमेश्वर है अर्थात् प्रेममय ईश्वर ! इनका दर्शन भी प्रेमचक्षु के बिना दुर्लभ है । जब अपनी अकर्मण्यता और उनके उपकारों का ध्यान जमेगा तब अवश्य हृदय उमड़ेगा और नेत्रों से अश्रुधारा बह चलेगी उसी धारा का नाम प्रेम गंगा है । इन्हीं प्रेम गंगा के जल से स्नान कराने का महात्म्य है, हृदय कमल चढ़ाने का अक्षय पुण्य है । यह तो इस मूर्ति की पूजा है जो प्रेम के बिना नहीं हो सकती । पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जब मन में प्रेम होगा तभी संसार के यावत् मूर्तिमान तथा अमूर्तिमान पदार्थ शिवमूर्ति अर्थात् कल्याण का रूप निश्चित होंगे । नहीं तो सोने और हीरे की भी मूर्ति तुच्छ है । यदि उससे स्त्री का गहना बनवाते तो उसकी शोभा होती, तुम्हें सुख होता, विपत्ति में काम होता, पर मूर्ति से तो कुछ भी न होगा । फिर मृत्तिकादि का क्या कहना है, वह तो तुच्छ हई हैं । केवल प्रेम ही के नाते ईश्वर हैं नहीं तो घर की चक्की से भी गए-बीते !

यही नहीं, प्रेम के बिना ध्यान ही में क्या ईश्वर दिखाई देगा ? जब चाहो आँखें मूँद के अंधे की नकल कर देखो, अंधकार के सिवाय कुछ सूझे तो कहना ! वेद पढ़ने से हाथ मुँह दोनों दुखेंगे । अधिक श्रम करोगे, दिमाग में गरमी चढ़ जायगी । अस्तु, इन बातों के बढ़ाने से क्या है, जहाँ तक सहृदयता से बिचारिएगा वहाँ तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के बिना वेद झगड़े की जड़, धर्म बे सिर पैर के काम, स्वर्ग शेखचिल्ली का महल और मुक्ति प्रेत की बहिन है ! ईश्वर का तो पता ही लगना कठिन है । ब्रह्म शब्द ही नपुंसक अर्थात् जड़ है ! उसकी उपमा आकाश से दी जाती है—'खम्ब्रह्म' । और आकाश है शून्य । पर हाँ यदि मनोमंदिर में प्रेम का प्रकाश हो तो सारा संसार शिवमय हैं, क्योंकि प्रेम ही वास्तविक शिवमूर्ति अर्थात् कल्याण का रूप है ! जब शिवमूर्ति समझ में आ जायगी तब यह भी जान जायँगे कि उसकी पूजा जो जिस रीति से करता है अच्छा ही करता है । तौ भी शिवपूजा की प्रचलित पद्धति का अभिप्रायं सुन रखिए जिससे जान जाइए कि मूर्तिपूजन कोई पाप नहीं है ।

शिवजी की पूजा में सब बातें तो वही हैं जो सब देवताओं की पूजा में होती हैं और सब प्रतिमा पूजक समझ सकते हैं कि स्नान चंदन पुष्प घृत दीपादि मंदिर की शोभा और सुगंध प्रसारण के द्वारा चित्त की प्रसन्नता के लिए हैं जिसमें ध्यान करती बेला मन आनंदित रहे, क्योंकि मैले कुचैले स्थान में कोई काम करो तो जी से नहीं होता । नैवेद्येत्यादि इसलिए हैं कि हम अपने इष्ट को खाते पीते सोते जागते सदा अपने साथ समझते हैं । स्तुति प्रार्थनादि उनकी महिमा और अपनी दीनता का स्मरण दिलाने को हैं । पर शिवपूजा में इतनी बातें विशेष हैं—एक तो मदार के फूल, धतूरे के फल इत्यादि कई ऐसे पदार्थ चढ़ाए जाते हैं जो बहुधा किसी काम में नहीं आते । इससे यह बात प्रदर्शित होती है कि जिसको कोई न पूछे उसे विश्वनाथ ही स्वीकार करते हैं । अथवा उनकी पूजा के लिये ऐसी वस्तुओं की आवश्यकता नहीं है जिनमें धन की आवश्यकता हो, क्योंकि वे निर्धनों का धन हैं, उन्हें केवल सहज में मिलने वाली वस्तु भेंट कर दो वे बड़े प्रसन्न हो जायँगे, क्योंकि अकृत्रिमता उन्हें प्रिय है ।

दूसरे, बिल्वपत्र चढ़ाने का भाव 'त्रदलं त्रिगुणाकारं' इत्यादि श्लोक ही से प्रगट है । अर्थात् सतोगुण रजोगुण तमोगुण जो हमारी आत्मा के अंग हैं, उनको भेंट कर देना यहाँ तक उनसे दूर रहना कि उन्हें शिव निर्माल्य बना देना ! जैसी कि भगवान कृष्णचंद्र की आज्ञा है—'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन', अर्थात् अपनापन उसी पर निछावर कर देना । बस यही तो धर्म की पराकाष्ठा है ।

तीसरे, मूर्ति की चढ़ी हुई वस्तु नहीं ली जाती । इसका प्रयोजन यह है कि हमारा उनका कुछ व्यवहार तो हई नहीं कि लौटा लेने के लिए कोई वस्तु देते हों । वे तो हमारे मित्र है 'प्रान्नोमित्रः' । और मित्र को कोई वस्तु भेंट करके फेर लेना क्या ।

चौथी बात है गाल बजाना, जिसका तात्पर्य पुराणों में सबने सुना होगा कि दक्ष प्रजापति के यज्ञ में शिव का भाग न देख के जब सतीजी ने योगानल में अपनी देह दाह कर दी तब शिव के गणों ने यज्ञ विध्वंस कर डाली और अशिव याजक (दक्ष) का शिर काट के हवन कुंड में स्वाहा कर दिया । पीछे से सब देवताओं की रुचि रखने को उसके धड़ में बकरे का शिर लगा के पुनर्जीवन दिया गया और उसने उसी मुख से स्तुति की । इसी के स्मरण में आज तक गलमंदरी बजाई जाती है । इस आख्यान में दो उपदेश हैं । एक तो यह कि सती अर्थात् पूजनीया पतिव्रता वही स्त्री है जो अपने प्यारे पति की प्रतिष्ठा के आगे सगे बाप तथा अपनी देह तक की पर्वा न करे । वही विश्वेश्वर की प्यारी होती है । दूसरे यह कि शिव विमुख हो के अपनी दक्षता का अभिमान करने वाला यज्ञ भी करे तौ भी अनर्थ ही करता है । वह प्रजापति ही क्यों न हो पर वास्तव में मृतक है, पशु है बरंच पशु से भी बुरा नर के रूप में बकरा है । यह तो पुराणोक्त ध्वनि है, पर हमारी समझ में यह आता है कि जिन कल्याणकारी हृदयबिहारी की महिमा कोई महर्षि भी नहीं गान कर सकते, वेद स्वयं नेति 2 कहते हैं, पुष्पदंत जी ने जिनकी स्तुति में यह परम सत्य वाक्य लिखा है कि—

काजर के घिसि पर्वत को मसि भाजन सर्व समुद्र बनावै ।
लेखनि देवतरून की डारहि कागद भूमिहि को ठहरावै ॥
या विधि सारद क्यों न प्रताप सदा लिखिबे महँ बैस चितावै ।
नाथ ! तहू तुम्हरी महिमा कर कैसेहु नेकहु पार न आवै ॥

उनकी स्तुति करने का जो क्षुद्र मानव विचार करे वुह गाल बजाने अर्थात् बेपर की उड़ाने के सिवा क्या करता है ? इसी बात को सूचनार्थ स्तुति के दो एक श्लोक पढ़ के गाल से शब्द किया जाता है कि

'महाराज ! तुम्हारी स्तुति तो हम क्या कर सकते हैं, यों ही कहों गाल बजाया करैं' । प्रसिद्ध है कि ऐसा करने से भवानीपति बड़े प्रसन्न होते हैं । भला सच्ची बात और युक्ति के साथ कही जायगी तो कौन सहृदय न प्रसन्न होगा ? फिर वे तो सहृदय समाज के आदि देव (गणेश जी) के भी पिता हैं ।

यद्यपि हमारा कोई मत नहीं है, क्योंकि हमारे परम गुरू श्री हरिश्चन्द्र ने हमें यह सिखलाया है कि 'मत का अर्थ है नहीं' । पर जब हम अपने पश्चिमोत्तर देश की ओर देखते हैं तो एक बड़े भारी समूह को शैव ही पाते हैं । हमारे ब्राह्मण भाई, विशेषतः कान्यकुब्ज, तिस्पर भी षटकुलस्थ कदाचित् सौ में निन्नानबे इसी ओर हैं । इधर रहने वाले गौड़ सारस्वत भी तीन भाग से अधिक शैव ही है । क्षत्रियों राजपूत सौ में से पाँच से अधिक दूसरे मत के न होंगे ! खत्री भी फी सैकड़ा दो ही चार हों तो हों । वैश्य में हमारे ओमर दोसरौं की भी यही दशा है । हाँ, अग्रवाल थोड़े होंगे । कायस्थ तो सौ में क्या सहस्र में दो-चार होंगे जो शिवोपासक न हों ! इससे हमारा यह कहना कदापि झूठ न होगा कि हमारे यहाँ तीन भाग से अधिक इसी ढर्रे में चल रहे हैं ।

वेद में भी यदि कुछ ऋचा विष्णु इत्यादि नामों से स्तवन करती हैं तो बहुत सी ऋचाएँ हमारे भोला बाबा ही की गीत गाती हैं— 'नमः शंभवायच मनोभवायच नमः शंकरायच भयस्करायच नमः शिवायच शिवेतरायच' । ऐसा दूसरे नामों से भरा हुवा मंत्र कदाचित् कोई ही हो । इसके अतिरिक्त इस मार्ग में अकृत्रिमता बहुत है । बड़े कट्टर बना चाहो तो नहा के तीन ऊँगली भस्म में डुबो के माथे पर रगड़ लिया करो । न जी चाहे तो यह भी न सही । पूजा भी केवल लोटा भर पानी तक से हो सकती है । जिसमें निरी अकृत्रिमता, धोती, नेती, कंठी, माला, कुछ न देखिए उसे जान जाइए शैव है । हमारे बहुत से मित्र आर्यसमाजी हैं, बहुतेरे अँगरेजी ढँग के हैं, बहुतेरे हमारे ऐसे हैं, वे भी कभी लगावेंगे तौ त्रिपुंड ही लगावैंगे । माला या कंठा रुद्राक्ष ही की पहिनेंगे । फिर हमारी तबीयत क्यों न इस सीधी चाल पर झुके ? क्यों न हमारे मुँह से बेतहाशा निकले—बु बु बु बु बु बु बु बु बोम महादेव कैलाशपती, टन् टन् टन्, नेति नेति नेति !

मनोयोग

शरीर के द्वारा जितने काम किए जाते हैं उन सबमें मन का लगाव अवश्य रहता है । जिनमें मन प्रसन्न रहता है वे ही उत्तमता के साथ होते हैं । और जो उसकी इच्छा के अनुकूल नहीं होते वह वास्तव में चाहे अच्छे कार्य भी हों किन्तु भले प्रकार पूर्ण रीति से सम्पादित नहीं होते । न उनका कर्ता ही यथोचित आनन्द लाभ करता है । इसी से लोगों ने कहा है कि मन शरीर रूपी नगर का राजा है और स्वभाव इसका चंचल है, यह यदि स्वच्छन्द रहे तो बहुधा कुत्सित ही मार्ग में धावमान रहता है । और यदि रोका न जाय तो कुछ काल में आलस्य और अकृत्य का व्यसन उत्पन्न करके जीवन को व्यर्थ एवं अनर्थपूर्ण कर देता है । इसलिए इसे यत्नपूर्वक दबाए रहना चाहिए, अर्थात् जिस बात की यह इच्छा करे उसके विपरीत ही

आचरण रखना चाहिए, जिससे यह स्वेच्छाचारी न रहकर वशवर्तिता का अभ्यासी हो जाय । यह रीति हमारी समझ में केवल उन महात्माओं ही के लिये अत्युत्तम है जिन्होंने संसार से कोई प्रयोजन नहीं रक्खा, किंतु जिन्हें जगत में रहकर प्रशंसनीय जीवन का उदाहरण है, उनके पक्ष में राजा को दबाव में रखकर खेदित करना ठीक नहीं है । ऐसा करने से शरीर में स्फूर्ति नहीं रहती, जो कर्तव्य मात्र का मूल है । अतः इसे युक्ति के साथ ऐसा बना लेना चाहिए कि प्रत्येक करणीय कार्य में प्रसन्नतापूर्वक संलग्न हो जाया करे । इसके लिए प्रथम कर्तव्य यह है कि इसे उत्साहरहित वा परम क्लेशित कभी न रहने दे । किसी न किसी उत्तम एवं लाभदायक विचार में प्रतिक्षण लगा ही रक्खे अर्थात् कर्तव्यों की पूर्ति के समय तो प्रत्येक कार्य के प्रत्येक अंश पर भली भाँति ध्यान दे और जब कोई काम न हो तब कोई सद्ग्रंथ ऐसा ले बैठा करे जिसमें विचारशक्ति का अवश्य काम पड़ता हो, जैसे गणितशास्त्र और काव्यशास्त्र इत्यादि, जिनमें सोचे बिना काम ही नहीं चलता और सोचते हुए आनंदप्राप्ति की आशा तथा विचार के साफल्य में आनंद का लाभ भी अवश्य होता है ।

यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जो सोच विचार रुचिपूर्वक किए जाते हैं वे देह की क्षीणता अथच चित्त की मलिनता का हेतु कदापि नहीं होते, बरंच हृष्टता एवं पुष्टता संपादन करते हैं । इससे इस प्रकार के सोच को सोच न समझकर मनबहलाव की कोटि में गिनना उचित है । और जब इससे जी उचटे तब किसी बुद्धिमान के साथ संभाषण में संलग्न होना योग्य है, जिसका फल प्रायः सभी जानते हैं कि हृदय की संतुष्टि और विचार की पुष्टि अवश्य लब्ध होती है । इससे भी मन उकताय तो प्रकृति के किसी अंग की वर्तमान दशा देखकर उसके पूर्वापर कार्य कारणादि की आलोचना कर्तव्य है । इन तीनों युक्तियों के उलट फेर से अर्थात् एक से उच्चाटन उपजे तो दूसरी का अवलंबन करने से चित्त को कौतुकप्रिय और प्रसन्न होने तथा प्रत्येक समय में कार्यलग्न रहने का अभ्यास पड़ जायगा, क्योंकि ये तीनों बातें स्वभावतः आनंद और सहृदयता का उत्तेजन करने वाली हैं । हम नहीं जानते, वे कैसे लोग हैं जो कहा करते हैं कि "किसी बात में जी नहीं लगता ।" निश्चय वे जी लगाना जानते ही नहीं है, नहीं तो सृष्टिकर्ता ने संसार में ऐसे 2 सुयोग्य पात्र स्थापित कर रक्खे हैं जिनमें चित्त आकर्षण कर लेने की सहज शक्ति है । पुस्तकें एक से एक उत्तम अनेकानेक मिल सकती हैं । और यदि अधिक न मिलें तो दो ही एक पोथी विचारने के लिए वर्षों सहारा दे सकती हैं । सज्जन भी जहाँ ढूँढ़ो वहाँ प्रगट वा प्रच्छन्न रूप में मिल ही रहते हैं । अकबर बादशाह का स्वभाव था कि वे बालकों, किसानों और अति सामान्य श्रेणी के ग्रामीणों तक की बातें इस विचार से बड़े दत्तचित्त होकर सुना करते थे कि न जाने किस समय किसके मुख से कौन सी प्रकृति सिद्ध सुहावनी और शिक्षापूर्ण वार्ता सुनने में आवै । इस धारणा से उक्त नरेश ने बड़ी भारी अनुभवशीलता प्राप्त कर ली थी । अतएव कभी किसी स्थल पर सज्जन समागम के अभाव की आशंका से मन मार के बैठ रहना उचित नहीं है ।

चार घर के खेरे में भी एकाध निरक्षर बुड्ढा ऐसा मिल सकता है जो अनुभव में अच्छे 2 नवयुग विद्वानों से दो चार बातों के लिए अवश्य श्रेष्ठ होगा । हाँ, जहाँ ढूँढ़ने से भी उपदेशक मिल सकें, वहाँ उपदेश पात्रों का तो कहीं अकाल है ही नहीं, सरलता और साधुता के साथ मनुष्य मात्र को सुशिक्षा दी जा सकती है । और एक पुरुष को भी अपने ढंग पर ले आने में मन को इतना संतोष होता है कि जिसने अनुभव किया होगा उसका जी ही जानता है । सृष्टिविद्या का व्यसन भी ऐसा मनोरम होता है कि यदि एक तुच्छ तृण की दशा को विचार चलिए तो अनुमान शक्ति समझावैगी कि एक दिन किसी बन

बाटिका, खेत वा मैदान की शोभा का वह अंग रहा होगा, कितने ही साधारण तथा असाधारण व्यक्ति उसे देखने आते होंगे, कितने ही क्षुद्र कीट एवं पुरुषरत्नों ने उस पर विहार किया होगा । कितने ही क्षुधित पशु उसके लिए लालायित होकर रह गए होंगे और आज वह कितने ही दैविक, दैहिक सुख दुःख देखता हुआ इस दशा को पहुँचा है तथा अब भी न जाने किसकी आँख में पड़ के दुःख का हेतु हो, किस ठौर पर जल वा पवन के मध्य नृत्य करे वा कहाँ पर अग्नि के द्वारा भस्म में रूपान्तरित हो जाय ।

ऐसे 2 अनेक पदार्थ जगत् में विद्यमान हैं जिन्हें ढूँढ़ने नहीं जाना पड़ता किंतु विचारने से ज्ञान की वृद्धि और चित्त की संतुष्टि अवश्य होती है । फिर ऐसे निर्दोष कुतूहलों के आछत जो लोग मन मारे रहते हैं अथवा उसकी प्रसन्नता के लिए कुपथ का आश्रय लेते हैं, उन्हें भाग्यहीन वा बुद्धिशत्रु के अतिरिक्त हम नहीं जानते क्या कहना योग्य है । हाँ, आरंभ में यदि इनके द्वारा संतोष न हो तो कुछ दिन यह समझ के इच्छा के बिना भी इस मार्ग में पदार्पण करना उचित है कि पहिले पहिल सुखदायक कामों में कष्ट जान पड़ता है, स्वादिष्ट भोजन के लिए धुवाँ और आँच अथवा धनहानि सहनी पड़ती है, व्यायाम में हाथ-पाँव पीड़ित होते हैं, विद्योपार्जन में शिक्षादाता की ताड़ना अंगीकार करनी होती है, किंतु परिणाम में मन की तुष्टि, तन की पुष्टि और जीवन की सार्थकता भी निस्संदेह प्राप्त हो जाती है । इसी प्रकार यदि मन को सुपथगामी बनाने के लिए यदि कुछ दिन अनिच्छा का सामना करना पड़े तो क्या हानि है ?

परिणाम में तो लाभ हो ही गा । जब उपर्युक्त प्रकार के सद्विचार में अभ्यास हो जायगा तब आरंभिक कष्ट परमानंद में परिवर्तित होने का पूर्ण विश्वास है । क्योंकि अभ्यास वह गुण है जो वस्तु एवं व्यक्ति मात्र को कुछ ही काल में कुछ का कुछ बना देता है । इसलिए जहाँ पढ़ने लिख़ने आदि में कष्ट सहते हो, वहाँ मन को सुयोग्य बनाने में भी त्रुटि न करो, नहीं दिव्य जीवन लाभ करने में अयोग्य रह जाओगे । इससे सब कर्तव्यों की भाँति उपर्युक्त विचार का अभ्यास भी करते रहना मुख्य कार्य समझो तो थोड़े ही दिन में मन तुम्हारा मित्र बन जायगा और सर्वकाल उत्तम पथ में विचरन करने तथा प्रोत्साहित रहने का उसे स्वभाव पड़ जायगा तथा दैवयोग से यदि कोई विशेष खेद का कारण उपस्थित होगा, जिसे नित्य के अभ्यस्त उपाय दूर न कर सकें, उस दशा में भी इतनी घबराहट तो उपजेगी ही नहीं जितनी अनभ्यासियों को होती है, क्योंकि विचार शक्ति इतना अवश्य समझा देगी कि सुख दुःख सदा आया ही जाया करते हैं और अन्त में सभी लोग धैर्य धारण कर लेते हैं । ऐसा न हो तो जगत् के व्यवहार एक दिन न चल सकें, अतएव यदि पढ़े लिखे समझदार कहलाने वाले भी साधारण समुदाय ही की भाँति चिंतामग्न हो जायँ तो उनमें और इतरों में भेद क्या रहेगा ?

इस पर भी यदि तुम यह विचार रक्खोगे कि दैवी घटना की उपस्थिति के समय जब तक चित्त अपने पुराने ढर्रे पर न आ जाय तब तब उसकी प्रसन्नता के अर्थ गीत वादित्र, परिभ्रमण, परिहासादि निर्दोष मनोविनोद का आश्रय ले लेना भी सहृदयों का परम कर्तव्य है, तो फिर कोई संदेह नहीं है कि तुम्हारा मन तुम्हारे समस्त बुद्धिसंगत कामों में प्रसन्नतापूर्वक संलग्न रहना सीख जायगा और असाधारण जीवन के लिए इसी की परमावश्यकता है ।

निर्लिप्तता

संसार में ऊँच-नीच, भले-बुरे, श्रद्धाकारक तथा घृणाप्रसारक इत्यादि सभी प्रकार के रूप गुण स्वभावादि वाले पुरुष एवं पदार्थ होते हैं, अथच समयानुसार सभी से कुछ न कुछ काम पड़ा करता है, इससे बुद्धिमान को उचित है कि किसी को हठपूर्वक त्याज्य और ग्राह्य न समझ बैठे, बरंच सभी के दोष गुण का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में सयत्न रहा करे। इसी भाँति हानि लाभ, सुख दुःखादि की दशाएँ भी कालचक्र की गति के अनुसार सभी पर बीती करती हैं, जिनकी चाल रोकने में प्रायः सभी असमर्थ हैं। इसलिए समझदार को चाहिए कि सभी कुछ सहन करने में दृढ़ रहे यद्यपि सर्वज्ञ और सदा एक रस अकेला परमेश्वर है, तथापि एक से एक चढ़े बढ़े बहुज्ञ तथा धीर पुरुष भी पृथ्वी पर हुवा ही करते हैं, और वे ही धन्यजन्मा कहलाते हैं। यों तो साधारण श्रेणी के लोग भी कहा करते हैं, और उनका कहना अयुक्त भी नहीं है, कि अच्छी 2 वस्तुओं का संग्रह करना और बुरे 2 पदार्थों को त्याग देना तथा अच्छे लोगों से मेल रखना, बुरे मनुष्यों से दूर रहना अच्छी बात है, यों ही सुख से समय बिताना परमात्मा की दया और दुःख में काल काटना अभाग्य का लक्षण है, किंतु असाधारण विद्याबुद्धिविशिष्ट व्यक्ति का कर्तव्य है कि जब जिस प्रकार के पुरुष, पदार्थ वा दैवगति का सामना आ पड़े, तब उपयुक्त समय के लिये उसी के अनुकूल आचरण को अंगीकार करके अपना निर्वाह कर ले, किंतु उसके प्रति लिप्त न हो जाय, नहीं तो दूसरे कामों के काम का न रहेगा।

निर्लिप्तता इसी को कहते हैं कि कार्यसाधन मात्र के लिये सबसे मिला भी रहना और साथ ही सबसे अलग भी रहना। जो लोग अपने जीवन को असाधारण बनाया चाहते हैं उनके पक्ष में यह भी बड़ा भारी प्रयोजनीय गुण है, जिसके अभाव में बड़ी भारी हानि यह होती है कि जहाँ एक ओर चित्त आकृष्ट हो गया वहाँ दूसरी ओर का ध्यान तक नहीं रहता और ऐसो दशा में निर्वाह कठिन हो जाता है, क्योंकि मोह में वह सामर्थ्य है कि बड़े बड़ों को मूढ़ बना देता है। यदि वह बुरी बातों और बुरे लोगों की ओर खींच ले गया तब तो जन्म नष्ट कर देना कोई आश्चर्य ही नहीं है, किंतु यदि अच्छों की ओर लगा ले गया तौ भी बुरों से बचे रहने के विचार और उपाय विस्मृत हो जाते हैं, और यह सहृदयता के विरुद्ध एवं पूरी अनुभवशीलता का बाधक है। इसलिए हमें चाहिए कि निर्लिप्त रहने का भी पूर्ण यत्न करते रहें। इसकी विधि यों है कि छठे पाठ में लिखी हुई रीति के अनुसार मनराज को अपना मित्र बनाकर विवेक को उसके मित्रत्व में नियुक्त कर दें। वह उसे समझाता रहेगा कि गुण और दोष सभी में हुआ करते हैं।

जिन्हें अनेक लोग अच्छा कहते हैं उनमें भी ढूँढ़ने बैठिए तो कुछ न कुछ बुराई अवश्य निकलेगी और उतने अंश के लिये वे निस्संदेह त्याज्य हैं, फिर पूर्ण रूप से उनका ग्रहण क्योंकर बुद्धिविहित हो सकता है ? इसी प्रकार जो बुराई के लिए प्रसिद्ध हैं, भलाई से सर्वथा शून्य वे भी नहीं होते, तथा उनकी उतनी ही भलाई से वंचित रहना भी बुद्धिमानी का कर्तव्य नहीं है, इसलिए उनका हठपूर्वक त्याग भी ठीक नहीं। इसी से अगले लोग कह गए हैं कि संसार की किसी बात में फँस जाना बुद्धिमान को अयोग्य है। इसमें ऐसे रहना चाहिए जैसे जल में कमल का पत्र रहता है अर्थात् अपनी स्थिरता बनी रहने भर को जल से संपर्क रखता है, उसमें भीगता कदापि नहीं है। इसी प्रकार हमें भी उचित है कि जगत् में

केवल अपने काम से काम रक्खें, किसी प्रकार का आग्रह न करें, क्योंकि समय पड़ने पर कभी 2 तुच्छ पदार्थों और सामान्य पुरुषों के द्वारा भी बड़े 2 सिद्ध होते हैं अथच बड़े 2 स्तुतिपात्रों से कुछ भी नहीं होता, बरंच आशा के विरुद्ध फल दिखाई देता है। अतः अनुभवप्राप्ति के उद्देश्य से सभी वस्तुओं का संग्रह और सभी लोगों से शिष्टाचार रखकर सभी के रंग ढंग देखते और गुण दोष विचारते हुए कालयापन कर्तव्य है और जिस समय जिससे काम निकलता देख पड़े निकाल लेना उचित है।

अथच अपने ऊपर जब जैंसी दशा आ पड़े तब उसी के अनुकूल आचरण अंगीकार कर लेना योग्य है, किंतु किसी से संबंध रखने वाले भाव को हृदय में दृढ़स्थायी बनाना ठीक नहीं है। यह बात उन लोगों के लिये बहुत कठिन नहीं है जो अपनी विचारशक्ति से काम लेते रहने का अभ्यास रखते हैं। जब शालाघनीय पुरुषों और पदार्थों के संमुख हुआ करें तब श्रद्धा और स्नेह का बर्ताव रखते हुए भी यह विचारते रहा करें वा दूसरों के द्वारा जानते रहने का ध्यान रक्खा करें कि उनमें दोष क्या 2 हैं और उनके द्वारा हमारी कार्यसिद्धि में अड़चल कहाँ तक होनी संभव है। यों ही बुरों के साथ द्वेषबुद्धि न रखकर शिष्टता से काम लिया करें और साथ ही उनके गुण का भी ज्ञान प्राप्त करने में सचेष्ट रहा करें। यों ही सुख मिलने पर उसकी सामग्री को अचिरस्थायी समझ कर और दूसरे सुखच्युत लोगों की दशा देखकर तथा अपने से अधिक सुखियों की रहन सहन को विचार कर चित्त को समभाव में ले आया करें, एवं दुःख के दिनों में संसार की अनित्यता के विचार से आमोद प्रमोद के आश्रय से वा अधिक दुःखग्रस्तों की दीनता देखने से मन संतुष्ट कर लिया करें, अथच जिन कामों के करने की इच्छा न हो, किंतु बिना किए हानि की संभावना हो, उन्हें भविष्यत् लाभ का एक अंग मात्र समझ कर डाला करें, किंतु समय टलते ही फिर उससे अलग हो जाने में सन्नद्ध हो जाया करें।

ऐसे 2 उपायों से निश्चय है कि निर्लिप्त रहने का अभ्यास पड़ जायगा और आवश्यकता पर किसी रीतिं का अनुरोध न रहेगा तथा प्रशस्त जीवन में बड़ा भारी सहारा मिलेगा। क्योंकि बड़े 2 कर्तव्य कार्य प्रायः उन्हीं लोगों के किए होते हैं जो कुछ भी करने में रुकते न हों, सभी कुछ सहन कर सकते हों, सभी से सहायता लेना जानते हों और सदा सर्वत्र सब दशा में केवल अपना कार्य साधन मुख्य समझते हों। यह योग्यता तभी प्राप्त होती है जब सब के मध्य रहते और सब कुछ देखते भालते, करते धरते हुए भी निर्लिप्तता का पूर्ण अभ्यास हो।

मिताचरण

जिस वर्ष वृष्टि नहीं होती, अथवा बहुत ही स्वल्प होती है, उस वर्ष अकाल पड़ने की संभावना हुआ करती है। यों ही जब अतिवृष्टि होती है तब भी बहुत से खेत बह जाते हैं, बहुत से सड़ जाते हैं। इससे अन्न की उत्पत्ति में बाधा पड़ती है। यह प्राकृतिक नियम हमें सिखलाता है कि जो बात मर्यादाबद्ध नहीं होती वह कष्ट का हेतु होती है। यदि हम परिश्रम करना छोड़ दें तो कुछ ही काल में आलसी होकर

और धन बल मान इत्यादि खोकर नाना जाति के रोग शोकादि का भाजन बन बैठेंगे अथच अपनी शक्ति से अधिक श्रम करें तौ भी शरीर शिथिल एवं मन खेदित होने के कारण किसी काम के न रहेंगे ।

भोजन यदि स्वादिष्ट होने से भूख से अधिक खाएँ तो आलस्य और अनपच के कारण भाँति 2 के कष्ट सहने पड़ेंगे तथा अत्यंत थोड़ा भोजन करें तौ भी निर्बलताजनित उपाधिसमूह झेलने पड़ेंगे । इसलिए बुद्धिमान को चाहिए कि जो काम करे परिमाण के भीतर ही करे क्योंकि जीवन को सुविधा-सम्पन्न बनाने के लिए जैसे सभी बातों का अभ्यास आवश्यक है, वैसे ही यह स्मरण रखना भी प्रयोजनीय है । अति किसी बात की अच्छी नहीं होती है । परिणाम में उसके द्वारा दुःख ही होता है । जिन बातों को सारा संसार एक स्वर से उत्तम कहता है उनकी प्राप्ति के लिए भी यदि परिमिति (सीमा) का त्याग कर दिया जाय तो क्लेश और हानि हुए बिना नहीं रहती ।

विद्या, धन अथवा धर्म के संचय करने में जितना श्रम किया जाय उतनी ही कल्याण की वृद्धि होती है, किंतु साथ ही यह भी स्मर्तव्य है कि यदि हम महाधुरंधर पंडित, अगणितसम्पदासम्पन्न परम धार्मिक बनने की धुन में आकर आहार बिहारादि के नियमों की ओर से ध्यान हटा लें, तो थोड़े ही दिनों में स्वास्थ्य से रहित होकर पढ़ने लिखने के काम के न रहेंगे वा पढ़ा पढ़ाया निष्फल हो जायगा । कृषि वाणिज्यादि के लिए दौड़ने धूपने की शक्ति न रहेगी अथवा संचित धन का उपभोग दुष्कर हो जायगा, भलाई बुराई का यथेष्ट निर्णय न कर सकेंगे, वा जिन सत्कार्यों के करने को जी छटपटायगा, वे हाथ पाँवों से होने कठिन हो जायँगे, क्योंकि जिस अंग वा पदार्थ से अत्यधिक काम लिया जाता है वा नहीं लिया जाता, वह सामर्थहीन हो जाता है और आवश्यकता के समय काम नहीं दे सकता और इसी से किसी की दशा सदा एक सी नहीं रहती ।

इसलिए समय 2 पर सभी कुछ करने की आवश्यकता पड़ती है तथा उसकी पूर्ति के उपयुक्त शक्ति के अभाव से यदि वह न हो सका तो बहुत काल तक क्लेश व हानि अथवा अपकीर्ति सहनी पड़ती है । जो लोग सम्पत्ति की दशा में धन का भोग वा दान अनियमित रूप से करते हैं, उन्हें जब उदारताप्रदर्शन का अवसर पड़ता है तो उचित व्यय करने के योग्य रुपया नहीं मिलता अथच जो लोग खाने पहिनने, देने दिलाने आदि में कंजूसी करते रहते हैं, उनका ऐसी आवश्यकता के आ पड़ने पर पैसे 2 पर जी निकलता है । इन दोनों प्रकार के पुरुष ऐसी अवस्था में जो कुछ करते हैं, संतुष्टभाव से नहीं करते, अतः बुद्धिमत्ता का कर्तव्य यही है कि जब जैसा आ पड़े तब तैसा ही बन जाने के लिए सन्नद्ध रहे । और यह तभी हो सकता है जब मिताचरण के द्वारा शरीर एवं अधिकृत वस्तु मात्र को रक्षित अथच कार्योपयुक्त रक्खा जाय । यद्यपि समय विशेष की उपस्थिति में जी खोलकर अपनी शक्ति से कहीं साहस धैर्य उद्योग उदारतादि का प्रदर्शन ही असाधारण पुरुषों का लक्षण है ।

इतिहास में वही लोग गौरवास्पद होते हैं जो काम पड़ने पर अपने धन अथच प्राण तक का मोह न करके कर्तव्य पालन का उदाहरण दिखला देते हैं । किंतु ऐसा अवसर नित्य नहीं पड़ा करता, जीवन भर में दो ही बार वा बहुत हुआ तो दश-पाँच बेर बित्त बाहर काम करने का समय आता है और उसी में दृढ़ रहना जन्मधारण की सार्थकता का संपादन करता है और ऐसे अवसर पर उचित आचरण वही दिखा सकते हैं जिनकी आंतरिक और बाह्य सभी प्रकार की पूँजी सर्वथा सुस्थिर हो और शनैः 2 बढ़ती रहती हो । यह योग्यता जिसमें न हो, वह साधारण जनसमुदाय में भी गणनीय नहीं है ।

इसलिए इसकी प्राप्ति के लिए पाठकगण को चाहिए कि शरीर के सभी अवयवों और मन की सभी

शक्तियों से काम लेते रहा करें, पर उतना ही जितने में अधिक थकावट न हो। अन्न वस्त्रादि में व्यय भी इतना ही किया करें जितना सामर्थ्य के अंतर्गत हो। दूसरों के साथ व्यवहार बर्ताव भी इतना रक्खा करें जितना सर्वदा निभ सके। अपनी वाणी और वेश भी ऐसा ही रक्खा करें जैसा कुल की मर्यादा के विरुद्ध और लोकसमुदाय को अप्रिय न हो। बस, ऐसा ध्यान बना रखने और अभ्यास करते रहने से मिताचारी और सज्जीवनाधिकारी होने में कोई संशय न रहेगा और आवश्यकता के समय तदनुकूल कार्यों की पूर्णकारिणी सामग्री का अभाव न रहेगा।

आस्तिकता

इस शताब्दी में थोड़े से यूरोप के विद्वानों को ईश्वर के अस्तित्व एवं धर्मग्रंथों के श्रेष्ठत्व से अरुचि सी हो गई है और उन्हीं की देखा देखी भारत के कुछ लोगों की प्रवृत्ति भी नास्तिकता की ओर देखने में आती है। किंतु विचार कर देखिए तो इस देश के लिए यह बात किसी प्रकार श्रेयस्कर नहीं हैं, क्योंकि यहाँ के लोग सदा से सनातन प्रथा का अवलम्बन करते आए हैं और आज भी ऐसे ही लोग तृतीयांश से अधिक हैं तो आत्मिक अथच सामाजिक हित उसी के अनुकरण में समझते हैं और वास्तव में आर्य संतान के पक्ष में वही सच्चे लाभ का हेतु है, क्योंकि उसके संस्थापक महर्षिगण अपने जीवनकाल में विद्या बुद्धि दूरदर्शिता एवं लोकहितैषिता के लिए समस्त संसार के श्रद्धास्पद थे अथच आज भी सभ्य देशों के असाधारण पुरुष उनके नाम का आदर करते हैं।

उन सब ऋषियों की प्रायः ईश्वर के मानने ही में अधिक सम्मत्ति पायी जाती है। यहाँ पर हम यह सिद्ध करना नहीं चाहते कि ईश्वर है वा नहीं, किंतु अपने पाठकों को यह सम्मति अवश्य देंगे कि इन झगड़ों में न पड़कर उसका मान लेना ही श्रेष्ठ समझें, क्योंकि बुद्धिमानों का सिद्धांत है कि ईश्वर को वाद में न ढूँढ़ो, बरंच विश्वास में ढूँढ़ो। कारण यह है कि तर्क में बड़ी भारी शक्ति होती है, उसके अच्छे अभ्यासी बातों में दिन को रात और रात को दिन ठहरा देना असंभव नहीं समझते। किंतु यह एक ऐसा गूढ़ विषय है कि बुद्धि जितनी अधिक दौड़ाई जाय उतनी थकती ही है, ठीक निर्णय नहीं कर सकती, वरन् भ्रम को बढ़ा के समय और आत्मिक शांति को वृथा नष्ट कर देती है। अथच इसके विपरीत आँखें मींचकर मान लेने में हृदय को एक अकथनीय आनंद लाभ होता है, प्रत्येक दशा में बड़ा भारी सहारा मिलता है और समाज में व्यर्थ का बखेड़ा उठा के आक्षेप का पात्र नहीं बनना पड़ता। अस्मात् उसके होने वा न होने के लिए पुष्ट प्रमाणों के हेतु धावमान न रहकर यों मान लेना उचित है कि यदि वह है, तब तो हमें अपना विश्वासी समझकर हमारा कल्याण करेहीगा और नहीं है तौ भी उसके भय से हम यथासाध्य बुरे कामों से बचे रहते हैं, उसकी कृपा के आसरे भलाइयों की ओर थोड़ा बहुत श्रद्धा रखते हैं, उसे सब काल तथा सब स्थानों पर अपना सहायक समझकर विपत्ति के समय अधीरता के कारण चित्तवृत्ति को निर्बल नहीं होने देते, इसी में क्या बुराई है ? यदि कोई कहे कि इस प्रकार का

विचार साहसिकता के विरुद्ध है, तो उससे कहना चाहिए कि किसी सहारे के बिना निरी साहसिकता ही से काम नहीं चलता । अतः हम एक महान् शक्ति विशिष्ट का सहारा रखते हैं ।

फिर हमारी साहसिकता में क्योंकर बाधा पड़ सकती है ? किंतु यह बातें केवल मुख से न कहकर सच्चे जी से मानना भी उचित है कि ईश्वर सब बातों में सबसे श्रेष्ठ, सब कुछ करने में समर्थ, सबका एकमात्र स्वामी और अपने भक्तों का सब प्रकार से सच्चा सहायक है । उसका भजन चाहे जिस रीति से किया जाय निष्फल नहीं जाता । बस इस प्रकार के विश्वास का अभ्यास रखने से अंतःकरण स्वयं गबाही देने लगेगा कि परमेश्वर अवश्य है, और उसके विश्वास में अप्रतर्क्य शक्ति, एवं प्रेम में अनिर्वचनीय आनंद है, जिसका अनुभव केवल मन को होता है, वचन को वर्णन करने की सामर्थ्य नहीं । उसके रूप गुण स्वभावादि सब अनंत हैं ।

यह कोई नहीं कह सकता कि वह केवल ऐसा ही है, ऐसा नहीं । जो ऐसा कहने का बाना बाँधते हैं वे व्यर्थ मतवाद में पड़कर सच्चे सुख से वंचित रह जाते हैं । अस्मात् जैसी अपनी रुचि हो और जाति की परम्परा हो वैसा ही उसे मानते रहना उचित है, पर सच्चाई के साथ, न कि केवल कथनमात्र से । रहे उसकी आराधना के नियम, वे वैसे ही ठीक हैं जैसे अपने यहाँ प्रचलित हों क्योंकि प्रत्येक आचार्य ने अपने देश और जाति के अनुकूल उन्हें बहुत उत्तमता से नियत कर रक्खा है । हाँ, यदि कोई हमारी निज सम्पत्ति लिया चाहे तो यही कहेंगे कि अवकाश के समय किसी स्वच्छ एवं सुदृश्य स्थान पर अकेले अथवा अपने ही से चित्त वालों के साथ बैठकर, यदि अभ्यास हो तो यों ही, नहीं तो संगीत, साहित्य, सौंदर्य इत्यादि की सहायता से चित्त को उसकी ओर लगा के उसकी महिमा और अपनी दीनता का स्मरण करने से अलौकिक आनंद प्राप्त होता है । और उसके प्रसन्न करने के लिए यों तो सभी धर्मग्रंथों में लिखे हुए काम उत्तम हैं, किंतु हमारी समझ में यतः वह जगत् भर का राजा और पिता है, अस्मात् उसकी प्रजा एवं पत्रों के हित में संलग्न रहना उसकी प्रसन्नतासम्पादन का मुख्य उपाय है । पर जगत् भर की भलाई कर सकना प्रत्येक व्यक्ति के पक्ष में सहज न होने के कारण जहाँ तक हो सके अपने देश भाइयों की भलाई में तन मन धन और वचन से लगे रहना आस्तिक मात्र का महा कर्तव्य है ।

इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि किसी मत का खंडन मंडन वा किसी के धर्मग्रंथ तथा आचार्यादि मान्य पुरुषों और मंदिरादि श्रद्धेय पदार्थों का अनादर करना महा नीचता है । आस्तिक्य में इन बातों से बाधा ही पड़ती है और आपस में वैमनस्य बढ़ने के अतिरिक्त कोई फल नहीं प्राप्त होता । अतः ऐसी चर्चाओं से दूर रहकर ईश्वर को अपने प्रेम एवं प्रतिष्ठा का आधार बना लो, फिर प्रत्यक्ष हो जायगा कि उसकी कृपा और सहायता से कैसा कुछ सुख संतोष और सुविधा का लाभ होता है ।

कर्तव्यपालन

कर्तव्य उन कर्मों को कहते हैं जो अपने तथा अन्यों के कल्याणार्थ मनुष्य को अश्वमेव करने चाहिए। वे दो प्रकार के होते हैं, एक नित्य, दूसरे नैमित्तिक। अभी तक जिन बातों का वर्णन किया गया है वे नित्य कर्तव्य से संबद्ध हैं अर्थात् प्रतिदिन वरन प्रतिक्षण उन पर ध्यान रखना उचित है। अब रहे नैमित्तिक कर्तव्य, उनके दो भेद होते हैं। एक साधारण दूसरे विशेष। साधारण वे हैं जो लोकरीत्यानुसार अपने नियत समय पर अवश्य करने पड़ते हैं अथवा दैहिक दैविक भौतिक योग से कभी 2 अवश्य ही उपस्थित होते रहते हैं, जैसे होली दीवाली इत्यादि पर्व और जन्म मरणादि घटना। इनसे संबंध रखने वाले कृत्यों से नित्य की अपेक्षा अधिक व्यय और परिश्रम करना पड़ता है और उसकी उपेक्षा करना किसी प्रकार उचित नहीं है, किंतु इतना ध्यान तो भी रखना चाहिए कि सामाजिक रीति में त्रुटि और अपनी सामर्थ्य से अधिक कुछ भी करना बुद्धिमानी से दूर है। पर हाँ विशेष नैमित्तिकों की उपस्थिति में जीवन के मध्य किसी ही किसी पर दो चार बार दैंवात् आ पड़ते हैं, बहुतेरों को उनका सामना नहीं भी पड़ता और उन्हीं का उचित रूप से निबह जाना अक्षय सुख या अचल कीर्ति का हेतु होता है उनके साधनार्थ अपने सर्वस्व वरन प्राण तक का मोह न करना ही पुरुषरत्नों का परम धर्म है। वह किस रूप में किस समय क्योंकर उपस्थित होते हैं और उनके निर्वाहार्थ किस रीति से क्या करणीय होता है यह बतलाना सहज नहीं है पर जिस बुद्धिमान, विद्वान, बहुदर्शी, अनुभवशाली पर आ पड़ते हैं, वह स्वयं अनुभव कर लेता है और निराकरण के लिए प्रस्तुत हो जाता है, यथा कोई प्रबल दुष्ट हमारे माता पिता, गुरु और राजा को सताने में कटिबद्ध हो, वा किसी कारण से हमारी प्रतिष्ठा वा धर्म पर गहरा आघात लगना संभव हो उस अवसर पर हमें प्राणपण से सन्नद्ध हो जाना चाहिए।

अपने अथवा घर में किसी के शरीर में कोई भयानक रोग हुआ हो तो घर फूँक तमाशा देखना उचित है। बन्धु बांधव इष्ट मित्रादि पर विपत्ति पड़े तो तन धन प्राण मान सब कुछ लगा देना योग्य है, और जाति के उद्धारार्थ जो कुछ करना पड़े स्वीकार्य है। ऐसे 2 अनेक स्थल हैं, जिनमें बहुत आगा पीछा न करके धैर्य और साहस के साथ केवल इसी बात का अनुसरण कर्तव्य है कि "धन दे कै जिय राखिए, जिय दै रखिए लाज। धन दे जिय दे लाज दे एक प्रीति के काज ।।" क्योंकि यह विशेष रूप से नैमित्तिक कर्तव्य है और इन्हीं के बनने बिगड़ने से आसाधारण जीवन का बनाव बिगाड़ होता है, किंतु इनका यथोचित निर्वाह वे ही लोग कर सकते हैं, जो नित्य के कर्तव्यों में पूर्ण अभ्यस्त हों। जो अपव्यय के कारण धन को संचित रखने में अक्षम है, वह उदारता के समय क्या व्यय कर सकता है? जो लेन देन में खरा नहीं है, वह आवश्यकता पड़ने पर कहाँ पा सकता है?

जो बल के ह्रासवृद्धि की चिंता नहीं रखता, वह प्राणविसर्जन के अवसर पर या तो निस्साहस हो बैठेगा या वृथा जी खो बैठेगा। जो अपने और आत्मीयों के मानरक्षण में प्रसिद्ध नहीं हो रहा, उसकी प्रतिष्ठा काम पड़ने पर कितनी प्रभावशालिनी होगी? इससे पाठकगण को उचित यही है कि नित्य के कामों का निर्वाह बहुत ही सावधानी से किया करें। किसी करणीय कार्य को छोटा अथवा साधारण न समझकर उसके करने में पूर्ण रूप से मन और तन लगाए रक्खा करें। नहीं तो छोटे ही छोटे काम बहुधा बढ़कर कठिन हो जाते हैं तथा बड़ी भारी उलझन और असुविधा उत्पन्न कर देते हैं। इससे इनमें

कभी आलस्य वा उपेक्षा न करनी चाहिए। यदि किसी कारण विशेष से कोई नियम कभी भग्न हो जाय तो मन को धिक्कार दे के और पंच तथा परमेश्वर से क्षमा माँग के आगे के लिये सावधान हो जाना उचित है। बस, ऐसा करते रहने से प्रत्येक बृहत् कार्य की योग्यता और उसके संपादन में आत्मिक तथा सामाजिक सहायता का अभाव न रहेगा और तद्द्वारा जीवन की सार्थकता का मार्ग खुला हुआ दिखाई देगा।

□□

प्रतापनारायण मिश्र रचनावली : 2

जिस जमाने में प्रतापनारायण स्कूल में थे, बाबू हरिश्चन्द्र का 'कविवचन सुधा' पत्र खूब उन्नत अवस्था में था। उसमें बहुत ही मनोरंजक गद्य-पद्यमय लेख निकलते थे। उसे और बाबू हरिश्चन्द्र की अन्यान्य रचनाओं को भी पढ़कर प्रतापनारायण की प्रवृत्ति कविता की ओर हुई। उस समय कानपुर में लावनीबाजों का बड़ा जोर-शोर था। बाबू सीताराम कहते हैं कि लावनी गाने वालों की कई जमातें थीं। लावनी का प्रसिद्ध कवि बनारसी भी उस समय अक्सर कानपुर में रहा करता था। वे सब अक्सर सर्वसाधारण में लावनी गाया करते थे। उनके दो दल इकट्ठे हो जाते थे और लावनी कहने में एक-दूसरे को परास्त करने की चेष्टा करते थे। उनमें से कोई-कोई आदमी बहुत अच्छी लावनी कहते थे और मौके-मौके पर नयी लावनी बना लेते थे। प्रतापनारायण इन लोगों की जमातों में कभी-कभी जाते थे। इसी समय कानपुर के प्रसिद्ध कवि पंडित ललिताप्रसाद द्विवेदी के धनुषयज्ञ की धूम थी। आप रामलीला—विशेष करके धनुषयज्ञ कराने में बहुत निपुण थे। समयानुकूल अच्छी-अच्छी कविता की रचना करके और उसे लीलागत पात्रों के मुँह से सुनाकर, सुनने वालों के मन को आप मोहित कर लेते थे। प्रतापनारायण भी इस लीला में शामिल होते थे और 'ललितजी' की कविता का पाठ करते थे।

—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

महत्त्वपूर्ण और चर्चित पुस्तकें

दस प्रतिनिधि कहानियाँ सीरीज़ की 22 पुस्तकें *(22 शीर्षस्थ कहानीकारों की चुनिंदा कहानियाँ)*
मेरे साक्षात्कार सीरीज़ की 11 पुस्तकें *(11 शीर्षस्थ साहित्यकारों के साक्षात्कार)*
महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली
(पहले सेट में 7 खंड, दूसरे सेट में 8 खंड, कुल 15 खंड) *सं० : भारत यायावर*
सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : संपूर्ण गद्य रचनाएँ (चार खंड) *सं० : विभा व शुभा सक्सेना*
महायात्रा गाथा (अँधेरा रास्ता के दो खंड, रैन और चंदा के दो खंड)
(ऐतिहासिक औपन्यासिक कथा-सृष्टि) *रांगेय राघव*
समग्र कविताएँ : माखनलाल चतुर्वेदी *सं० : श्रीकान्त जोशी*
मंटो की कहानियाँ (बृहत् संस्करण) *सं० : डॉ० नरेन्द्र मोहन*
अपनी धरती अपने लोग (तीन खंड) (आत्मकथा) *डॉ० रामविलास शर्मा*
रसीदी टिकट (आत्मकथा) *अमृता प्रीतम*
ख़ानाबदोश (आत्मकथा) *अजीत कौर*
पार्थ से कहो चढ़ाए बाण (पाँच खंडों में संपूर्ण महाभारत कथा) *पन्नालाल पटेल*
तोड़ो, कारा तोड़ो (दो खंडों में स्वामी विवेकानंद की औपन्यासिक जीवनी) *नरेन्द्र कोहली*
मेरा संघर्ष (हिटलर की आत्मकथा) *सं० : रामचन्द्र वर्मा शास्त्री*
दिल्ली (उपन्यास) *खुशवंत सिंह*
इदन्नमम (उपन्यास) *मैत्रेयी पुष्पा*
संसार की श्रेष्ठ कहानियाँ *सं० : ज्ञानचन्द जैन*
मेरी इक्यावन कविताएँ, कुछ लेख कुछ भाषण (दो पुस्तकें) *अटल बिहारी वाजपेयी*
केरल का क्रांतिकारी/*विष्णु प्रभाकर*, रंग दे बसंती चोला/*भीष्म साहनी* (दोनों नाटक)
यात्रा के पन्ने, एशिया के दुर्गम भूखंडों में (दो पुस्तकें) *राहुल सांकृत्यायन*
नावक के तीर (व्यंग्य) *शरद जोशी*
चुने हुए निबंध *हज़ारीप्रसाद द्विवेदी*
हिन्दी भाषा और भारतीय संस्कृति *डॉ० शंकर दयाल शर्मा*
सचित्र खेल नियम *अजय भल्ला*
नारी गुणों की गाथाएँ *ब्रजभूषण*
ग्रेडिड नैतिक अभिनय गान सीरीज़ (11 बाल पुस्तकें) *धर्मपाल शास्त्री*
आओ बच्चो खेलें सीरीज़ (दस पुस्तकें) *सुधीर सेन*
व्यक्तित्व-विकास : संघर्ष और सफलता *क्रांतिकारी लाला हरदयाल*
प्रेमी-प्रेमिका संवाद (उपन्यास) *शरद देवड़ा*

भारतीय प्रकाशन संस्थान